झलकियाँ

मीठी • सरस • मार्मिक

निरंजननाथ आचार्य



झलकियाँ

आप बीती और पर बीती घटनाओं
की सरस तथा चुटीली
अनुभूतियाँ

लेखक
निरंजननाथ आचार्य

प्रकाशक
हिन्दी ग्रन्थ रत्नाकर प्राइवेट लिमिटेड, बम्बई-४
शाखा २१, दरियागंज, दिल्ली—६

● लेखक

जीवन जन्म, सन् १९११ ग्राम मोही (राजस्थान) अनोखी सूझ बूझ और प्रतिभा के धनी सफल राजनीतिज्ञ, पर साथ ही स्पन्दनशील हृदय पारदर्शक दृष्टि और क्रियात्मक दृष्टिकोण दिल और दिमाग में एक तूफान इस देश और देशवासियों के लिए एक पीड़ा और अटूट प्रेम वज्र से कठोर पर कुसुम से भी कोमल।

गति विधि सन् १९३८ में वकालत में प्रवेश सन् १९५० में उदयपुर बार एसोसिएशन के अध्यक्ष सन् १९४४ से १९५३ तक मेवाड़ राज्य रेल्वे मजदूर संघ के अध्यक्ष सन् १९५४ से सन् १९५७ तक उदयपुर नगर निगम के अध्यक्ष सन् १९५७ में राजस्थान विधान सभा के उपाध्यक्ष सन् १९६२ में उपशिक्षा एवं गृहमन्त्रालय का पद सन् १९६६ में राज्य मन्त्रिमण्डल में विधि एवं न्याय मन्त्री सन् १९६६ के ही सितम्बर माह में गृहमन्त्रालय चतुर्थ चुनाव में मावली (राजस्थान) क्षेत्र से राज्य विधान-सभा के लिए चुन कर आये। सम्प्रति, राजस्थान विधान सभा, जयपुर के अध्यक्ष।

सर्जना 'आस्ट्रेलिया के अंचल में,' 'विस्मृति के स्वर,' 'बिखरे पात' 'बिजलियों ने कहा' कुछ प्रसिद्ध रचनायें।

श्री निरंजननाथ आचार्य जी की संस्मरणात्मक कृति 'झलकियाँ' की कुछ मनोरम छवियों को बहुत ही रुचि लेकर मैंने देखा और मेरे चित्त को एक अपूर्व प्रसादन प्राप्त हुआ—वैसा प्रसादन जो संस्मरणात्मक रचनाओं से प्रायः प्राप्त नहीं होता है। है तो यह संस्मरण की पुस्तक, इसमें कुछ बीती—आप या पर—घटनाओं की भाव भरी याद की गई है, पर इसमें नाटक की सजीवता तथा नुकीलापन आ गया है जो सीधा दिल को छू लेता है। मैंने, अपनी सुविधा के लिए, कला की एक परिभाषा बना ली है। कला वह जो निरीह, दुर्बल अथवा नातिसबल साधना को ले, पर उसको ही अपार शक्ति से समन्वित कर दे। गोदावरी हो तो विषमय पर अमृत का फल दे, तभी तो वह कला वस्तु होने का गौरव प्राप्त करेगी। इस कसौटी पर 'झलकियाँ' कला वस्तु होने का दावा कर सकती है।

संस्मरणीय घटनाएँ कोई विशेष महत्त्वपूर्ण नहीं वे ही साधारण सीधी-सादी। जिन्हें स्मरण किया गया है वे पात्र भी विशेष नहीं। भाषा भी कोई बहुत शानदार नहीं, विशेष अंदाज भी नहीं,—पर 'कुछ बात तो ऐसी है ही' जो दिल में चमक भर देती है। यह क्या है इसे मनोविश्लेषक या सहृदय ही समझें।

देवराज उपाध्याय

२३, अगस्त '६७
अध्यक्ष, हिन्दी विभाग,
उदयपुर विश्वविद्यालय,
उदयपुर (राजस्थान)

अपनी बात •

"झलकियाँ !"—मेरे पहले राजनीतिक और सामाजिक संपर्क में जमा अनुभूतियों पर आधारित घटनाओं का संकलन है। घटनाएँ आप बीती और कुछ पर बीती हैं। पुस्तक कैसी बन पड़ी है, इस बारे में क्या कहूँ! जैसी जो है, वह आपके सम्मुख है। इतना ही जानता हूँ कि अपने को और अपने पर पड़ी छाप को पूरी सचाई के साथ रखने की मैंने चेष्टा की है। पाठकों को पुस्तक रुचिकर और उपयोगी लगे तो मैं समझूँगा मेरा प्रयास सफल रहा।

१० अगस्त '६७ रतन भवन
५१ सरदार पटेल मार्ग
जयपुर

निरंजननाथ आचार्य

क्या-कहाँ ?



अंतिम चाह

'चिट्ठी !' आवाज के साथ दरवाजा खटखटाते डाकिए ने खत को फेंका, बड़ी उत्सुकता से खत मैंने उठाया और खोला। एक बार पढ़ा, फिर पढ़ा, और फिर पढ़ा।

वृद्ध जोधसिंह पास बैठे थे, उद्विग्न से और मौन। बोले, 'ऐसा क्या कागज है जो बार-बार पढ़ रहे हो ?'—स्वर में जोधसिंहजी के व्यंग का पुट था।

'देवीसिंह का पत्र है', मैंने जवाब दिया।

'क्या ! देवु का कागज !!' वृद्ध रोमांचित हो आए, काँपते हाथों से पत्र उन्होंने छीन लिया, आँखों में आँसू आ छलके थे। दाढ़ी और मूँछ के सघन जंगल में से झाँकते, काँपते, उनके होंठ, पत्र के रूप में 'देवु' को प्यार करने के लिए आतुर हो उठे थे।

उस नन्हे-से खत में वृद्ध की आत्मा और जीवन के अरमान भरे थे, पर न पढ़ सकने की अपनी विवशता के कारण मूक, अशांत, व्यथित, वह, उसके स्पर्श मात्र में अपने हृदय की प्यास बुझा रहे थे। आँसू बह चले थे, एक बेहाली आ छाई थी।

यह सब देख नम्रता से मैंने कहा, 'लाइए, मैं पढ़े देता हूँ।'

वृद्ध चौंके, सजग हुए, पत्र को देखा, उलटा-पलटा। पुनः मुट्ठी में दबोच लिया, मानो स्नेह को अपने अंचल से दूर करना नहीं चाहते हैं।

मैंने फिर कहा, 'मुझे दीजिए, मैं पढ़े देता हूँ।'

'क्यों ! मेरे 'देवु' का पत्र है, मैं खुद पढ़ूँगा।' वह भावावेग में बोले।

पत्र वृद्ध ने हृदय से चिपका रखा था, आँसू झर रहे थे। जानता था,

सज्जित देवीसिंह की तस्वीर टँगी हुई थी। जोधसिंह रिटायर हुआ। देवीसिंह फौज में लेफ्टिनेंट बना और वह अपने पिता के ही समान हृष्ट पुष्ट, कद्दावर तथा दिमनोरा था। अपने समय में वह एक अच्छा खिलाड़ी भी रहा था।

जब कभी गाँव का कोई आदमी मिलने आता, वे उसका ध्यान तस्वीर की ओर खींचते और कहते, 'यह है, मेरा बेटा देवीसिंह। फौज में लेफ्टिनेंट है। पहले लद्दाख में था, अब नेफा के मोर्चे पर चीनियों के दाँत खट्टे कर रहा है ।' इसी प्रकार अपने बेटे की प्रशंसा करते वह अघाते नहीं थे।

जोधसिंह नब्बे वर्ष पार कर चुके थे, वह थक चुके थे और प्रयाण चाहते थे। बस एक इच्छा शेष थी। बेटे से अन्तिम बार मिलने की तमन्ना। बेटे से मिल पाने की आशा उन्हें नहीं थी, पर आग्रह उनका जबान पर जड़ जमाए था। एक बार टेलीफोन से बात करने की इच्छा भी वह प्रकट कर चुके थे, पर नेफा और लद्दाख के मोर्चे पर से टेलीफोन से बातें कर पाना नितान्त असम्भव था। जोधसिंह मरना चाहते थे, पर बेटे से बिना मिले नहीं।

मैं भी बार-बार के उनके आग्रह से थक चुका था। उनका बुलावा आता रहता, मैं जाने में संकोच करता और रह जाता। इस प्रकार उनसे मिले एक माह से ऊपर होने आए थे, बुलावे के उनके बावजूद, मेरे पास इस बीच बराबर आते रहे। मैं द्वन्द्व में था, कैसे उन्हें सान्त्वना दूँ। बेटे से मिलने के विश्वास ने उनके जीवन को अब तक सँभाल रखा था।

शाम मुझे खबर मिली, जोधसिंह की हालत खराब है। यह सप्ताह मुश्किल से ही शायद गुजरे। मुझे याद किया था। मैं कुछ विचलित हुआ, गीता पाठ की उन्हें चाह नहीं थी, न राम-नाम सुनने की आकांक्षा। बेटे की आवाज को फोन पर सुनना ही एक मात्र उनकी अभिलाषा थी, यही था उनका पुण्यलाभ और यही था उनका मोक्ष।

× × ×

श्री ईश्वरसिंह—रिटायर्ड सैनिक। आफिसर। अच्छी पेन्शन। रसूखदार बने। दोनों को एक दूसरे पर भरोसा। सुख और स्वास्थ्य। समय के सदुपयोग योग्य अन्य कोई काम उनके पास नहीं था, किंतु दास्तानों का भण्डार उनके पास था। उन्हीं को सुनाने में वह अपना समय काटते और व्यस्त दीखते थे। आगन्तुकों का उनके यहाँ सम्मान था। उससे उन्हें खुराक मिलती थी, समय कटता था।

ईश्वरसिंहजी के यहाँ मैं पहुँचा। वे लॉन में बैठे, हुक्का गुड़गुड़ाने में मशगूल थे। मैंने नमस्कार किया। तब तो उन्होंने मुझे देखा। देखते ही छाती से लगा लिया। पीठ थपथपाते कुर्सी पर बैठने का आग्रह करते बोले, 'कहो! आज कैसे रास्ता भूल गए?'

जवाब कुछ दूँ, कि इससे पहले ही, मुझे गौर से देखते हुए बोले, 'अरे! देखते ही तुम्हें एक बात याद आ गई। वैसे भुलक्कड़ हूँ, फिर भूल जाऊँगा, कह दूँ। सुरेन्द्र का पत्र था, देवीसिंह का पता पूछा था और जोधसिंह जी का कुशल-क्षेम पूछी था।'

मैं खुद जिस बात को उठाना चाहता था वह स्वयं ही उठ आई। मुझे राहत मिली। देवासिंह के नेफा मोर्चे पर होने की सूचना, जोधसिंह जी की वृद्धावस्था, और पुत्र से मिलने की उनकी प्रचण्ड व्यग्रता का मैंने जिक्र किया।

गर्व से छाती फुलाते ईश्वरसिंह बोले, 'आखिर है सिक्ख खानदान! मैंने भी रिटायर होने से पहले, लड़के को फौज में करा दिया था—क्या भरोसा है इस जीवन का।' कहते ईश्वरसिंह चिंता में डूब गए।

विषय की ओर उनका ध्यान खींचते मैंने कहा, 'वृद्ध मरणासन्न हैं, बात मन में रह गई तो सद्गति न होगी।' वे देवासिंह से फोन पर बात करने के लिए अत्यंत व्यग्र हैं। सोचते रहे बोले, 'आखिर बात तो बूढ़े को अपने घर में ही करनी है न?'

'जी। वृद्ध का विश्वास जमेगा। सुख और सतोष से वह मर सकेंगे।'

'कौन बड़ी बात है। यहाँ फोन है आप जोधसिंहजी को ले आइयेगा। जैसा बेटा मेरा, वैसा बेटा उनका सुन्दर, देवीसिंह की तरह बातें कर लेगा।' चेहरे पर मंद मुस्कान बिखेरते ईश्वरसिंहजी ने कहा।

सहानुभूति और सहयोग के लिए धन्यवाद देकर मैंने उनसे विदा ली।

× × ×

रात्रि के साढ़े नौ बज रहे थे, बेटे से फोन पर बात होने की प्रतीक्षा में ईश्वरसिंहजी के यहाँ एक कमरे में वृद्ध जोधसिंहजी पलंग पर लेटे थे। बेटे से फोन पर मिलने की प्रसन्नता के कारण, कल रात भर वृद्ध नींद न ले सके थे। तबीयत भी आज अधिक खराब थी बोलने की शक्ति क्षीण हो चुकी थी। जो कुछ थी, उसे बेटे से बातचीत करने में खर्च करना चाहते थे। मौत की छाया चेहरे पर आ मँडराई थी, पर उसमें भी प्रसन्नता की एक झलक, झलक रही थी। पास में रखे फोन पर उनकी आँखें गड़ी थीं।

साढ़े नौ बजे टेलीफोन की घंटी बजी। वृद्ध बिजली की तरह लिपट उठ बैठे। रिसीवर को मैंने उठाते, 'हलो, हेलो,' बातचीत के दौर का बाँधा।

'हलो। कौन? देवीसिंह। लो बाजी साहब से बात करो।'

वृद्ध के चेहरे पर सरसता छा गई आत्म विभोर हो, वे बोले

'कुण देवु'। बेटा देवु! कुण? थूँ बोलरियो काई?

'हाँ। मूँ हूँ। देवीसिंह। म्हारा पगाल्लागणा जे माता जी की।'

'थूँ देवु। देवु बोल रियो है!' रुंधे कंठ से जोधसिंह अपनी आवाज को दूर फेंकते बोले, 'थूँ कठ्याम है? थणी बात री छावना तो नहीं है? कदी आवला? थूँ कठे है?'

'मैं मन में हूँ, नाम आगया नहीं! इतना कष्ट।'

'हाँ—हूँ मना में है "जय चित्तौड़" नहीं "जगदम्बा धौंरी खप्परवाली" [illegible] बाँका नहीं [illegible] खानदान का नाम [illegible] बहादुर हूँ [illegible]।'

कहते-कहते जालिमसिंह की आँखें बन्द हो आईं। गिर्धारी का मुँह में [illegible], वह धीरे धीरे, अब भी कहता रहे थे, "प्रभु— भगवान प्रभु!"

"जगदम्बा धौंरी खप्परवाली [illegible]"

गिर्धारी रुक गया [illegible] आँसू, [illegible] महान वृद्ध अब चिरनिद्रा में थे 'प्रभु' की वाणी ने उन्हें सुख की मौत दी थी। यही वृद्ध के लिए गीता और [illegible] सिद्ध हुई थी।



खंडहर बोले !

गोलकुंडा ।

विशाल खंडहरों का उजड़ा बगीचा। चट्टानों का सहारा लेती विशाल दीवार। कहीं पूरी, कहीं खड़ी हुई तो कहीं अपना नामोनिशाँ मिटाने की प्रतीक्षा में अकड़ी हुई। विस्तीर्ण और विशालकाय दीवार। छोटी-बड़ी चट्टानों पर, पहाड़ियों के घेरे में, महलों के अवशेष को अपने सीने में लपेटे, ग्रीष्म शीत, झंझावात—सबके थपेड़ों का सामना करती अब भी अडिग खड़ी है।

इनकी विशालता, सुदृढ़ता और अभेद्यता का अब कोई महत्त्व नहीं है। पर पृथ्वी पर खड़े ये भग्नावशेष आसानी से अब भी भू-लुंठित नहीं होना चाहते। इनके गर्भ में शताब्दियों की दास्तानें हैं। सीने में मूक इतिहास की धड़कन है। अस्थियाँ किसी की यहाँ समाधि में हैं, तो बरबादी किसी की यहाँ दफनाई हुई है। वैभव किसी का सीने में इसके कराह रहा है तो वीरता किसी की अचेतन में यहाँ सोई पड़ी है।

फरेब और जालसाजी इन खंडहरों में बोलती है, तो किसी के हृदय का सौन्दर्य, किसी की प्रेम गाथा, किसी की वेदना, यहाँ के अणु परमाणु के अंतराल में मौन है। इतिहासकारों के लिए ये खंडहर ऐतिहासिक सत्यासत्य के अन्वेषण का अतुल भंडार हैं तो यही भावुक व्यक्ति के लिए बोलते और जीवित खंडहर हैं।

× ×

गाइड ने कहा, 'इस किले के नौ दरवाजे हैं। बावन महराब हैं और अड़तालीस सुरंगें। कुतुब शाही वंश के सात बादशाहों ने एक सौ सत्तर वर्षों तक यहाँ राज्य किया। सुल्तान अली इस वंश के पहले

मैं अतीत के इतिहास में जा भटका। निगाह एक ऊँचे गुम्बज पर पड़ी। चूना पत्थरों से छूट रहा था। पत्थर अपनी जगह से हट गये थे। नींव खत्म रही थी और ऊँचाई जमीन की ओर खिंच रही थी। इन सब दृश्यों ने मुझे कल्पना के पंखों पर बिठा दिया।

'—आज सारी मस्जिद पर नमाज है। सामन्तों के साथ, सजे हाथी पर, बादशाह सलामत किले की ओर तशरीफ ले जा रहे हैं।

सैकड़ों को मौत के घाट उतार, बादशाह सलामत आज जंग जीत कर लौटे हैं। खुदा की कुदरत बाल-बाल मौत से बचे हैं। उसी खुशी में आज नमाज है।

"और इधर जनाने महलों में कौन है? क्या सुन्दर भवन हैं। क्या सुरम्य बगीचा। फव्वारों का श्रावण भादों लगा है। हमाम की यहाँ रँगरलियाँ हैं। सामन्त युद्ध की विभीषिका से लौटे हैं। यहाँ अब राग रंग होगा। प्रेम होगा और रसिकता यहाँ झूमेगी।

'हाय! हाय!! गजब हो गया, बादशाह सलामत का कत्ल।'

'किसने किया?'

'हुजूर। शाहजादे साहब ने।'

खामोश! कत्ल ही शाहजादे साहब, यही नहीं होगा। बादशाहत कभी नहीं मरती। न कत्ल होती है। यहाँ आँसू बहाना है मना!

× × ×

किला टूट चुका है। फौज अन्दर घुस आई है। बादशाह सलामत कैद कर लिए गए हैं। खामोश! बादशाहत कैद नहीं होती। जो कैद हो गए उनका जमाना बदल गया। अब आलमगीर औरंगजेब की हुकूमत है।

अरे! महल में यह किसकी सवारी चली आ रही है? बेगम साहबा! आलमगीर को मुबारकबाद देने—।

खामोश! जबान न हिलाना। जमाना हुकूमत के साथ चलता है। हुकूमत का शतरंज का यह खेल अमर है। मोहरे बदलते रहे हैं और बदलते रहेंगे!!

× × ×

यह देखो! किले की ऊँची और चौड़ी दीवारों व फ़सील पर तोपें तनी पड़ी हैं। इस किले की पहरेदारी का दायित्व इन पर है। आकाश और पृथ्वी की ओर अपने शीश मुँह बाए—सावधान और सतर्क। शताब्दियों से मौन हैं और अचल! गिर रही हैं, फिर भी अटल हैं, अपने अपने स्थानों पर—जैसे आदेश की प्रतीक्षा में हों!

और उधर है शस्त्रागार! यहाँ पड़ा है ढेर, सड़ रहे हथियारों का—छोटी-बड़ी बन्दूकें हैं, भाले और खड्ग हैं, तोपें और गोले हैं। जिनके खून में कभी जोश भी गरमत था, आज वे ही साथियों की क़ुर्बानी का शिकार हैं! जिनका नाज, गर्व और सम्मान था। आज वही पत्थर में सिसकती अपनी दास्तानें सुना रही हैं।

× × ×

यह किला इन बादशाहों की दुश्मनी और उनके तमाम अत्याचारों को सह चुका है। इसका मलबा बेगुनाहों के खून से रँगा पड़ा है!—अब इस ज़मीन पर क़यामत तक रह रह कर सिसकते रहना ही इनके गुनाहों की सज़ा है।

फिर भी चार दीवारों में, कभी भयंकर युद्ध का दृश्य देखता हूँ और आग से भर उठता हूँ। कभी असह्य अत्याचारों का हाल देख सिहर उठता हूँ। कभी सुरम्य भवनों में विलासी स्मृतियों में घूम रहता हूँ तो कभी अन्तःपुर की रमणियों के समक्ष में झूलता हूँ।

देखना! सावधानी से पग धरना। न जाने कौन हस्ती, कौन ललना इस ज़मीं में सो रही हो! ऐसा न हो कि अनजान उसके सीने पर तुम्हारे पैर पड़ जाएँ! यहाँ की रमणीयता और सौन्दर्य, यहाँ की मस्ती और नम्रता, यहाँ की वीरता और कायरता, कहीं तुम्हारे पाँव की आहट से चौंक, जग न पड़े। ये निद्रा में हैं। उन्हें सोने दो।

× × ×

मैं धीमे धीमे पग बढ़ाता बाहर निकल रहा था कि खण्डहरों ने पीछे से कहा

'यह अतीत का ही नहीं, वर्तमान का भी इतिहास है। वर्तमान का भी एक दिन विस्मृति के इसी अँधेरे में सोना होगा।'



भाग बढ़ा चढ़ नहीं सकता था। साधुत्व का सम्मान बढ़ा था, इसमें आदर, भक्ति और भावना का कहीं प्रश्न नहीं था। बातचीत भक्त की तो साधारण स्तर पर ही उतर कर। और वही हुआ।

पास में जगह बदल बदल कर वह उठता-बैठता रहा। उसकी हर अदा में एक फक्कड़पन था। मैं भी टकटकी लगाये उसे देखता रहा, जताना चाहता था उसे कि मैं उसकी हर हरकत से वाकिफ हूँ। थोड़ी देर बाद आखिर हमारी आँखें टकराईं। वक्र अदा से उसने मुझ में दिलचस्पी दिखाई। एक गहरी दृष्टि मुझ पर डाल, उसने अपना मुँह मोड़ लिया। थोड़ी देर बाद फिर उसने देखा, मानों मुझे समझना चाहता हो, और तत्काल ही फिर निगाह मोड़ ली। मैं भी कौन कम था। उसकी हर नजर मुझ से टकराती रही और फिर हिला मैं उसका जवाब देता रहा।

वह मेरी नीयत और आशय को समझ गया था। समझ गया था, मैं भगवा वस्त्रों से परे, ढोंग के पर्दे को चीर, उससे उसके असली रूप में मिलना चाहता हूँ। रात अधिक हो चली थी। साधु उठा। मैंने जोर से कहा, 'महाराज कहाँ?'

साधु ने इशारे से शयन किया दिया और फिर मिलने का।

× × ×

अगले दिन साथ नहीं रह फिर पहुँचा। जाने का कारण और आकर्षण था, वह दूसरा उपदेशक साधु। पचरंगी तिलक छापा और लम्बी दाढ़ी के आवरण में वह अपने शास्त्र ज्ञान का बखान कर आडम्बर के साथ प्रस्तुत करता था। अभिव्यक्ति का उसका अपना एक तरीका था। भाषा में अंग्रेजी, हिन्दी, संस्कृत का पुट रहता जिससे जनता सुनने की कुछ दिलचस्पी में रहती थी। श्रोताओं की धार्मिक भावना को उभार वह किस प्रकार भावनाएं भिगोता, अपने प्रति श्रद्धा और सम्मान का क्षेत्र बनाता था—यह सब मेरे लिए एक रोचक मनो वैज्ञानिक विश्लेषण का विषय था।

देखता क्या हूँ कि हमारा वह अक्खड़ और फक्कड़ साधु वह भी

और वह के साथ उपदेशक साधु के पास बैठा है। लगा जैसे वह उपदेशक से कहीं बड़ा और श्रेष्ठ हो।

मैं बैठ गया। देखा कि वह उपदेशक साधु के आडम्बर से खिन्न-सा है और उदासीन। मैं उसके और पास खिसक आया। यहाँ से वह मेरे हाव भाव और सज्जा को देख और समझ सकता था। उसकी नजर मुझसे मिली। नाक भौहों को चढ़ा मैंने उसे संकेत दिया। होंठ उसके खुले और दबी मुस्कान को उसने बाहर बिखेरा। आँख से इशारा करने पर वह उठा और दूसरी ओर चल दिया।

मैं भी उठ उसके सामने आन खड़ा हुआ। बोला, 'अरे यार। कहाँ जाते हो? यहीं बैठो न।'

'टोकेंगे तंग करेंगे।'

'क्या परवाह करते हो!' मैंने कहा।

'अच्छा। तो आओ यहीं मजा लेवें।'

दोनों वहीं बैठ गए।

मैंने कहा, 'सिगरेट।'

छूटते ही वह बोला, 'हाँ हाँ। क्या कहा।'

सिगरेट दी। उसने जलाकर गहरा कश खींचा और धीरे धीरे धुआँ नाक मुँह से निकालना शुरू किया।

मैंने अंतिम प्रश्न किया, 'आप कौन? यहाँ कब से?'

निस्संकोच छूटते ही वह बोला, 'यह क्या सवाल! यह कैसी दास्तां!! अरे भाई। मैं जैसा हूँ, वैसा दिखता तो हूँ। तुम और हम, दोनों ही इंसान और दोनों ही गरीब। जब मैं मिले सब में ही यहाँ। आप भी कमाल! क्या सवाल!'

उसके इस जवाब ने मेरे आगे के सभी प्रश्नों के प्रश्न का ढाट मरोड़ दिया। फिर भी मैंने कहा

'तो तुम शैतान हो?'

'हाँ, क्यों नहीं। क्या गुनाह?'

इस तरह सब हँसी-खुशी उछलते बाहर निकले ही थे कि पास में नाले से बालकों ने उसे आ घेरा।

एक ने कहा, 'बाबा! आइसक्रीम खाओगे?'

दूसरा बोला, 'खाओ जी, मैं पास लाऊँगा कि नहीं?'

तीसरे ने पूछा, 'बाबा कब जाओगे?'

तीनों प्रश्न लगभग एक साथ ही पूछे गए थे। तीनों का जवाब भी उसने साथ ही दिया।

'हाँ खाऊँगा। पास लाओगे। मैं मरूँगा नहीं।'

बालक तो बालक ठहरे। चंचलता और नटखट जिनका स्वभाव। एक ने नाक पर से उसका चश्मा छीना, दूसरे ने हाथ की लकड़ी छीनी और तीसरा तो उसके कंधे पर ही चढ़ बैठा!

पर कमाल! उसने न खिसियाया, न क्रोध ही उसे आया। एक मुस्कराहट उसके चेहरे पर खिल उठी। वह कहता रहा।

'अरे भाई उस बाल गोपाल, यह क्या मजाक! चश्मा आँख पर रहा था। देखो, अब मैं गुस्से में हूँ। पीटूँगा!'

बालक भागे। वह उनके साथ खिलवाड़ करता चला गया। उनकी निर्दोषता पर वह बोला, 'बच्चे! कैसे नटखट थे!'

मैं जिसको ढूँढ़ने निकला था, वह मिल गया था। कहा, 'हाँ जी, चलिए न।'

'हाँ हाँ, चलो।' कहता वह उठा। अपने मस्त स्वभाव में वह आगे हो लिया और मैं उसके पीछे-पीछे।

पीछे चलते मैंने कहा, 'महाराज! क्या आपका ठिकाना है?'।

अपनी कुटिया की ओर इशारा करके वह बोला, 'कुटिया नहीं। बहुत है।'

मठ के द्वार में प्रवेश करते ही वहाँ हलचल मच गई। सब आश्रम में महाराज को देखते रह गए। भक्ति उमड़ने लगी। पर महाराज पर इस सब की कोई प्रतिक्रिया नहीं। उनका भाव जो एक

कुर्सी दबा बैठे। मैं भी उनसे कुछ दूर जा एक ओर बैठ गया।

मैनेजर महोदय आग बबूला हुए आए। उससे बोले, 'महाराज! निकलिए यहाँ से। दिखाई नहा देता, माँ-बहन यहाँ बैठी हैं।'

साथ ही मैनेजर ने बाबा का हाथ पकड़ा और उठा, बाहर ढकेलना चाहा। इस विकट स्थिति म पड़ने पर उसने मेरी ओर देखा। मैंने दस का एक नोट चुपके से निकाला, उसे दिखाया और गोली बना उसके पास फेंक दिया।

बाबा ने चुपके से नोट उठाया। अब क्या था। बाबा शेर थे। एक झटके से उसने अपनी बाँह छुड़ाई। एक मुस्कान, क्षणिक। फिर क्रोध म पुकारता, अपने स्वाभिमान की रक्षा करता वह बोला।

'यह होटल है। यहाँ जो पैसा देता है, वह अधिकार रखता है। जा, नहीं हटता। नहीं हटूँगा।'

मैनेजर बोला, 'पैसा! और तेरे पास! बाबा! सब होटलवाले तुम्हारे नाम को रोते हैं। इज्जत से बाहर हो जाइए वरना ।"

'वरना क्या? शैतान! बेइज्जती करता है। यह है' वह उसने दस का नोट मैनेजर पर फेंका।

होटल में एक सन्नाटा। मालिक स्तब्ध विमूढ़। मैनेजर चक्कर म। अब शैतान उसका मेहमान और सम्मान उसका अधिकार।

मेरी ओर संकेत करता और हुक्म देता मैनेजर से वह बोला, 'जा, मेरे इन मेहमान के लिए और हमारे लिए—चाय, आइसक्रीम और समोसे ला।'

मैनेजर ने गुस्से को निगला और सब करना शुरू किया। महाराज रोष प्रकट करता, बड़बड़ाता, खाता रहा। खाने पर बिल माँगा। चुकाया। पचास पैसे टिप्स और चेपते बाबा बोला, 'समझे! आइन्दा ऐसी हरकत न हो।'

वह उठा और बाहर चल दिया। म बैठा रहा। उसके कुछ दूर निकल जाने पर, होटल का मालिक दौड़ा पास आया। बोला, 'साहब!

आप इस इल्लाके में चक्कर में कैसे फँसे ! यह तो यहाँ का माना गुरु है ।'

मैं मौन रहा । उठा और बाहर निकल आया । मस्जिद मुझे किनारे पर खड़ा रखता रहा ।

महाराज ज्यादा दूर नहीं निकले थे । थोड़ी देर में ही मैं उनसे आ मिला ।

'कहो कैसी रही ।' महाराज ने कहा ।

'कहो कैसी निभाई ?' जवाब में मैंने कहा ।

वह खिलखिला उठे और हँसी में मुझसे छिटककर भीड़ में गुम हो गया ।

× × ×

आज तीसरा दिन है । सायंकाल का समय । वही नक्की लेक । पार्क के कोने में पत्थर की बेंच पर बैठा, श्रोताओं को भाषण देता वही आत्मयोगी साधु । पर आज इस प्रकार साधु वहाँ न भाषण दे रहा था । उसकी तलाश में चारों ओर नजर घुमाई—दूर और पास । पर वह न दीखा । मुझे उसकी तलाश थी और तलाश भी जारी थी । आखिर कामयाब हुआ । कुछ दूर झुरमुट की आड़ में, सिगरेट का धुँआ छोड़ता, बालकों के साथ, उसकी झलक मुझे मिली । निश्चय ही, वह वहीं था ।

उस ओर बढ़ा । आँखें मिलीं । उसने मुस्कान दी । मैंने हाथ का इशारा कर, भाषणी साधु की ओर उसे बुलाया । इशारा वह समझ गया पर मौन रहा । मेरी निगाह उसकी तरफ थी । थोड़ी देर बाद एक पुलिस वाले से बातचीत करते पाया । बातचीत आगे भी हो, पर बाबा से एक सवाल पूछा मार देगी । वह मुस्कान और शान्ति की मात्रा लिए उठा और सीधा पानी वाले से भाषण देते साधु के समीप आकर खड़ा हुआ । पूर्ण निर्भर ट्रैफिक के सिपाही की भाँति उसने हाथ उठाया । मानो भाषण बन्द करने का आदेश दे रहा हो ।

भाषण बन्द होने पर बाबा का कहना सुना, 'भगवान बाहर है ।

गिरफ्तार हो जाओगे! यहाँ भाषण देना मना है। पुलिस ने कहलाया है। भागो यहाँ से।' वह दूर खड़े पुलिस मैन की ओर उसने संकेत किया।

श्रोता चकित। साधु भी उलझन में। भाषण बन्द हो गया था। वह मरे दम उठा। बाबा को घृणा से घूरता एक ओर चल दिया। मुझे भी आश्चर्य था। बाबा के इस व्यवहार को मैं पकड़ नहीं पा रहा था। भीड़ छँटने पर, बाबा को अपनी ओर इशारे से बुलाया। थोड़ी ही देर में, वह मेरे पास आ बैठा।

मैंने कहा, 'तुमने यह क्या किया?'

बिना किसी दुविधा के वह तुरन्त बोला, 'कुछ नहीं किया। पुलिस वाले ने काम बताया सो कर दिया।'

'तुम गुण्डे हो यार। चलते रास्ते छेड़खानी करते हो।' उसने भेष पर छींटा कसते मैंने कहा।

'अरे यार! इस पर भी तो लोग पीछे पड़े रहते हैं। तुम आओ अपनी कुटिया पर तो देखो और जानो। रात रात भर जागना पड़ता है। कोई दवा माँगता है। कोई लड़का। किसी के भूत चिपटा है तो किसी के पिशाच। मैं बड़ा परेशान रहता हूँ। सच कहता हूँ लोगों से कि देखो, मैं हूँ इनका कुछ नहीं। न सिद्ध हूँ, न संत। लेकिन लोग हैं कि इस पर भी मेरा पीछा नहीं छोड़ते। उल्टे और दौड़ते हैं।' यह कह उसने मुझसे भी अपना पिंड छुड़ाना चाहा।

मैंने कहा, 'यार! साधु के वेष में तुम एक गुण्डे हो। कुटिया पर तुम्हारी आएँ तो खातिर करोगे?'

"क्या नहीं! आओ और जरूर आओ। तुम्हें माल खिलाएंगे। आटा ले आएंगे और कुछ घी और शक्कर। आम तले बाटी बना लेंगे और लड्डू। बर्तन एक है, दूसरा माँग लेंगे। आना क्या प्यारे! साथ चलो। माल छानेंगे।'

उसकी बातों ने एक अच्छी खासी पिकनिक का समाँ बाँध दिया।

रे। मैं भी उनसे कुछ इस तरह खिंचा सा रहता हूँ। इस पर उनसे पूछा, 'यार! तुम्हारा मन यहाँ न लगता?'

चरवाहा अपने में यह बोला, 'इसकी क्या फ़िक्र। तुम आता था वहीं से आऊँगा।'

उसने उसके पास का [illegible] नहीं कर लिया, ज्यों ही वह शुरू हुई थी। मैंने कहा, 'इस बात पे शाम सवेरे यार। वहाँ तो एक जगह पहुँचा।'

'अगर एक जगह पहुँचनी हो तो इस ओर का ही मन में क्यों पहुँचता। इस शाम सवेरी [illegible] के लिए यही कुरबानी करनी पड़ी है। सच्चा साहब! मैं भी कह दूँगी [illegible]।'

सारा बात का कह-सुन। एकाएक रुका। मेरी आँख [illegible] की निगाह उसकी ही ओर खिंच गई। मैं बिना पूछे न रह सका। पूछा, 'आखिर महाराज! आप पहले जमाने में क्या थे? क्या और क्या सोचते हुए इस भेष के लिए?'

'यह मत पूछ! मैं [illegible] गुस्सा!! मेरी ज़िन्दगी का एक मैं उसने का खुश क्या अख़्तियार। [illegible] का [illegible] में बोला। उसके पैसे से उसे क्या काम।' वह बोला।

पहला और भावना का [illegible] उसके चेहरे पर एक मुस्कान खिली। एक गैर कहा—'[illegible] में सुन लो भी जमाना, [illegible] कहा-सुना।'

[illegible] उसके शब्द और तान से प्रभावित हुआ। दाद दी। फिर क्या था! [illegible] का तार और समाँ बँध गया। एक-से-एक अनोखा।

मैं बोला, 'आह! आप शायर भी हैं।'

'शायर हूँ! अब भी क्यों उस वक्त था। कह तो दिया मैं कुछ नहीं। मैं कुछ नहीं जानता।'

कुछ देर बाद ही कश्मीरी [illegible] शुरू हुए, फिर संस्कृत और हिन्दी के। मैं चकित था। कुछ कहता ही था कि वह एकाएक [illegible]

हो गया और बोला, 'अरे यार! चना जोर गर्म खाओगे?'

मैं बोला, 'हाँ हाँ! आपके लिए लाऊँ क्या?'

'लाना क्या। यह सब अपने ही बच्चे हैं। ऐ चनेवाले! आना इधर।'

कहने की देर न थी कि चनेवाला आ धमका। वह खाता रहा, मैं खरीदता रहा। उसे परवाह न थी मेरे खाने न खाने की। हाँ, बीच बीच में इसरार जरूर हो जाता था।

'चना जायकेदार है। नमक और खटाई सभी अंदाज से पड़ी है।'

वह कह रहा था और मैं देख रहा था कि उसकी पैनी दृष्टि चारों ओर घूम रही थी मानों किसी की खोज और शिकार में हो।

मैं कुछ दूर जा बैठ गया। बच्चे खेल रहे थे। उन्हें देखने लगा। ध्यान टूटा तो फिर बाबा का ध्यान आया। देखा कि कुछ कालेज के लड़कों के बीच, कुछ दूरी पर, बेंच पर बैठे हैं। धड़ल्ले से धूम्रपान में व्यस्त। रात हो आई थी। मुझे भी पार्क से जाना था। मैं उसके पास पहुँचा। कहा, 'महाराज! अच्छा तो चलूँ।'

'अरे यार! कहाँ जाते हो। चलो तुम्हें अच्छी जगह पर ले चलते हैं। वहाँ हनुमानजी के भजन भाव होंगे।' लड़कों से अपने को मेरी ओर मोड़ते वह बोला।

मैंने कहा, 'यार! किस प्रपंच में पड़ रहते हो। साधु होकर लड़कों के साथ सिगरेट पान।'

'देखो यार शिक्षा मत दो। यह सब बन्धन मैं तोड़ चुका हूँ। मैं अपने तरीके का आदमी हूँ। जिन्दगी की खुशनुमाँ देखना चाहता हूँ और जिंदा दिली से जीना।' वह बोला।

मैं अपने डेरे पर लौट आया। वह न मालूम कहाँ रहा।

× × ×

चौथा दिन! आखिरी दिन आबू पहाड़ के ठहराव का। आज बाबा के जीवन का पेंदा मैं निकाल लेना चाहता था। उसी उद्देश्य और

मकान में रहती [illegible] पहुँचा। [illegible] और [illegible] गया था कि [illegible]। [illegible] [illegible] दिखाई नहीं दिया। आगे बढ़ गई, [illegible] [illegible]। पर [illegible] नहीं आया। एक [illegible] वाले और [illegible] था [illegible] [illegible] कुछ [illegible] पड़ा।

[illegible] भारती [illegible] [illegible] पर वापस घर [illegible] [illegible] [illegible] है। [illegible] [illegible]। इस [illegible], [illegible] भी एक बड़ी [illegible] क्या नहीं [illegible] है?

शराबी हूँ, हैवान नहीं।

कमलाकर और कन्हैयालाल दोनों जिगरी दोस्त। साथ कालेज म पढे, साथ होस्टल में रहे। शिक्षा समाप्ति के बाद दोनों ने जीवन के विभिन्न क्षेत्रों को अपनाया। कमलाकर कूदे राजनीति म तो कन्हैयालाल ने वकालत को चुना।

कमलाकर राजनीति के चक्कर म पड अनेकों बार जेल गए। यातनाएँ सही और कष्ट। लगन और सेवा के बल पर वह थोडे ही समय में जनता के प्रिय हो गए। राजनीति के क्षेत्र में भी एक स्थान उनका बन गया। जहाँ तक प्रश्न था पारिवारिक जीवन का, वह और अस्त व्यस्त ही हुआ था। पैसे की तगी से गृहस्थ जीवन त्रस्त और आतंकित था।

कन्हैयालाल ने भी मेहनत और लगन से वकालत म अपने को अच्छा जमा लिया था। अच्छा कमाया, खर्चा और जोडा भी। स्वभाव से अल्हड, मुक्त और निर्द्वन्द्व। आजादी के परवानों की उन्होंने खुले दिल सहायता की, पर छिपे। सुना था, वकालत और ईमानदारी साथ नहा निभती है। उसका निभाव और जमाव देखा तो कन्हैयालाल में। वह ईमानदार था। उसका दृष्टिकोण माननीय था। मिजाज का वह गरीब परवर। आमद का एक अच्छा भाग गरीबों म बँट जाता।

साय पाँच के बाद कन्हैयालाल का आफिस क्लब बन जाता था। दिल मिले दोस्तों का केन्द्र! राजनीति की पैंतरेबाजी और वकालती नोंक झोंक से दूर! शारीरिक और मानसिक थकान और तनाव को दूर करने और रसने का एक साधन। कन्हैयालाल को एक चस्का था शराब का। वह पीता था और खूब पीता था। खुले आम पीता था, छिपाकर

गया। पर राजदीवानी के क्षेत्र ही उसका सीमा सीमित था। यही कारण था कि मालवे के कुछ उत्साही नवयुवक, माँ-बहन और पत्नियाँ उसका सम्मान करतीं और बाल-समुदाय उससे प्यार करता। धीरे धीरे अपनी इस लगन के कारण वह समाज में प्रतिष्ठित और प्रतिष्ठित हो गया था। इस सम्मान का उसने लालच न था, न उसने उसकी चाह की थी। उसका यह सम्मान प्रतिष्ठा और लोकप्रियता उधार न थी स्वयंभू और असली थी।

देश आजाद हुआ। जन आन्दोलनों के अगुआ सत्ता हिन्दुस्तान की हाथ में गया। जिन पर कुछ राजाओं की अनुकम्पा हुई, जिनसे उनका मतलब था, वे सभी बन गए। कमलाकर अपने प्रान्त का मुख्य मंत्री बना। उसी प्रान्त का एक प्रान्त प्रतिनिधि था, उसका नाम कन्हैयालाल। कन्हैयालाल का प्रसन्नता थी कि उसका साथी मुख्य मंत्री बना था।

× × ×

प्रातः आठ का समय होगा कन्हैयालाल कमलाकर के बँगले पर पहुँचा। आज, उसका उसे नमस्ते किए। बँगले पर विशेष रहता रहा था। मोटरों का पहरा था और पास में खूबसूरत गाड़ी खड़ी थी। दरबारी और मान मिलनेवाले भी बैठे थे। सब तरह के लोग थे सरकारी और गैरसरकारी। महिलाएँ भी कम न थीं। एक दूसरे से न्यारे। महिला महिला से और पुरुष पुरुष से वार्तालाप। सब अपने अपने ढंग और वार्तालाप के लिए उतावले। कन्हैयालाल ने अपना कार्ड भेजा। थोड़ी देर में ही उसने अपने को कमलाकर के सम्मुख पाया। दोनों दोस्त गले मिले। आज घर तक दोनों बातचीत करने की बीती स्मृतियों का ही स्मरण करते रहे।

कमलाकर बोला, 'कन्हैया! देखता तो है, लगता हूँ कहाँ तक और कैसे निभा पाता हूँ। यह बड़ी कसौटी है। खैर छोड़ो। अपनी सुनाओ, तुम्हारा क्या चल रहा है?"

कन्हैयालाल प्रश्न से प्रसन्न हुआ। अपनी ओर कमलाकर की

जिन्दगी के अंतर को उसने समझा। बोला, 'हमारा क्या है। हम हैं हुकूमत की रियाया। पंद्रह साल की वकालत ने मुझे सब कुछ दिया है। धन दौलत, मान-सम्मान। जनता के दिल को भी मानने लगा हूँ। वकालत के समय डट कर वकालत करता हूँ। फुरसत के समय उतना ही डट कर पीता हूँ। किसी को विक्षुब्ध करके नहीं पीता। कमलाकर, मेरा व्यसन मेरा अपना है। जन जीवन से उसका वास्ता नहीं। मदहोशी मेरी अपनी है। लक्ष्य है मेरा जन हित और जन सेवा।'

'हाँ भाई!' व्यंग करते कमलाकर बोला, 'जीवन तो हमारा ही जनता से वास्ता रखता है। हमारी जिंदगी है खुली पुस्तक! व्यक्तिगत जिन्दगी, इस जिन्दगी में हमें कहाँ नसीब है।'

× × ×

धीरे धीरे कमलाकर हुकूमत के नशे में तल्लीन होता गया। स्त्रियों और कन्याओं के प्रति उसका झुकाव, धन पतियों के प्रति उसका पक्ष पात, निरन्तर बढ़ता गया। यों धीरे धीरे वह जनता की आलोचना का विषय बनता गया। प्रतिष्ठा उसकी बिगड़ने लगी। अंकुरित विनाश के इस पौधे को मुख्य मंत्री देखने में असमर्थ थे। वह थे मदहोश, सत्ता के हाथी पर सवार! जनता कुचली जा रही थी। और यों वह जनता से दिन प्रति दिन दूर, और, और दूर होते जा रहे थे। जाने अनजाने में अहंकार उन्हें ग्रसता गया और वह उसके ग्रास बनते रहे। शासन ढलता गया।

× × ×

चुनाव! जैसे-जैसे तारीखें नजदीक आती गई, राजनैतिक चहल पहल बढ़ती गई। कमलाकर के मुकाबले, विभिन्न दल अपना-अपना उम्मीदवार खड़ा करने में जुटे थे। जितने नाम सामने आये, सब कम लाकर से हल्के पड़ते थे। दिनों तक मैदान में कमलाकर के नाम की ही गूँज रही। नामजदगी के दो दिन और शेष थे। कन्हैयालाल का नाम भी जनता के सामने आया। भ्रांतियाँ फैलीं। कोई उसे शराबी कहता तो कोई आरामतलब। पर आम जनता उसके पक्ष में थी। पलड़ा कभी

कन्हैयालाल की ओर झुकता था कभी कमलाकर की ओर। दो दिनों की राय में कमलाकर की सत्ता और उनके प्रभाव के आगे कन्हैयालाल के गुण, त्याग और गोवर्धन का विरोध, मात्र मखौल समझा जा रहा था।

अन्तिम दिन—नामजदगी का! कमलाकर की गाड़ी, ठीक दस बजे कचहरी आफिस के सामने पहुँची। उधर कन्हैयालाल भी इक्के में जा पहुँचा। मुस्कराते हुए दोनों पुराने दोस्त आमने सामने मिले।

कमलाकर ने व्यंग्यबाण छोड़ा, 'क्यों कन्हैया! टकराकर चूर-चूर होने का इरादा है क्या?'

कन्हैयालाल ने भी मुस्कराते मजबूती से कहा, 'कमलाकर! विजय जनता के हाथ है। मेरे और तुम्हारे हाथ नहीं। टकराकर चूर-चूर होता हूँ या करता हूँ, यह तो समय ही बतायेगा।'

× × ×

चुनाव प्रचार! आरोप प्रत्यारोप!! कन्हैयालाल अपने व्यक्तिगत जीवन की दलील पर सब जनमत संग्रह करने में जुटे। कमलाकर के दामाद दत्ता और मित्रों ने उनके त्याग, बलिदान और तपस्या का ढिंढोरा पीट जनता को गुमराह और बहकाया।

चुनावों का अन्तिम दिन! एक दिन! दोनों ही पक्षों का आज एक परिणाम में सपना था, और अपने हथकण्डों का जनता के समक्ष प्रस्तुत करना था। सब लिखित शब्दों में आश्वस्त थे। रंग बिरंगी झण्डियों के बीच गाड़ियाँ और ताँगों की लाइनें दमदमा रही थीं। चारों ओर पुलिस का जमाव था—शान्ति और व्यवस्था के लिए।

शाम को जब 'महात्मा गांधी की जय' और 'जयहिन्द' के नारों के साथ कमलाकर साहब का मंच पर पधारना हुआ! वन्देमातरम् के नाद, पण्डित नेहरू की जय से सारा वातावरण गूँज उठा। बाद हुआ कमलाकर का भाषण। भाषण का पूर्व भाग उन्हीं पुराने कांग्रेसी नेताओं से भरा रहता था। उत्तर भाग में पं० नेहरू और सरदार पटेल के साथ उनके

निजी सम्बंधों का बखान था !—बीच-बीच म नारों और तालियों की गड़गड़ाहट ।

उपस्थित जन-समुदाय के मानस को अपने पक्ष में उभरता समझ, कमलाकर भाषण म, कन्हैयालाल की यत्र-तत्र खिल्लियाँ उड़ाने और व्यक्तिगत छींटाकशी पर उतर आये थे । भाषण समाप्त हुआ । जनता पर उसके असर को देख, कार्यकर्ताओं और स्वय कमलाकर को भी अपनी शक्ति और विजय म पूर्ण विश्वास हो चला था ।

रात के ग्यारह बज आए थे । जनता खिसकने लगी थी । कन्हैयालाल को अब बोलना था । समय था कम और कहना था उसे बहुत कुछ । अपने को उसने सयत किया । विश्वास और साहस के साथ टूटती जनता को सबोधन कर उसने अपना भाषण प्रारम्भ किया

'मुझ शराबी के भी कुछ बिखरे श द सुनते जाइए ! शराबी कम बोलता है, पर जब बोलता है तो जिंदगी के अनुभव से बोलता है ।'

जादुई प्रभाव ! उठते उठते लोग बैठ गए । चलते-चलते ठिठक गए । लोगों को लगा मानों शराबी क रूप में कोइ देव पुरुष उनसे कुछ कह रहा है । इस चमत्कार को देख कन्हैयालाल का हौसला बुलन्द हुआ । धारा प्रवाह उसका भाषण चल पडा ।

'आप जानते ही हैं, कमलाकर मेरे पुराने मित्र ह । चुनाव में हम एक दूसरे के विरोध म खड़े हैं । अलग अलग हमारे दृष्टिकोण हैं । बद किस्मती से मैं शराबी हूँ । अब भी नशे म हूँ । कमलाकर भी नशे में हैं—हुकूमत क ! क्या यह सच नहीं ? सो हम दोनों अपने-अपने नशे में हैं और अधे हैं । मेरा नशा, आप जानते हैं, मेरे तक ही सीमित है । उससे किसी का कुछ बिगडा नहीं । बिगाड हुआ या सुधार, जो हुआ सो मेरा । पर मेरे दोस्त कमलाकर का नशा जुल्म ढा रहा है । यह वक्त बीती बेवाओं को याद कराने और उनके गीत गाने का नहीं है । आप क्या कर रहे ह और आगे आपको क्या करना है ? प्रश्न यह है जो आज से सबध रखता है । मैं शराबी हूँ । आजाद तबीयत हूँ । आपसे छिपा

नहीं। न अपने को मिटाने की कभी कोशिश की मैंने। जैसा हूँ आपके सामने हूँ। यह व्यसन मेरा, मेरे हाड़ में मिल गया है। मेरी पीढ़ी का उसकी छाया तक न ... इतने गहन में ... गया है।

मेरा जीवन अनुभवों से भरा है। जानता हूँ अवगुणों से लदा हूँ। गल्तियाँ मुझसे बहुधा हुई हैं। पर क्या यह दुनिया का कल्याण करती है? शायद नहीं। पर मेरे कार्यों ..., मुझ जैसी कमजोरियों के साथ ... क्या कुछ किया है आपने? यहाँ भगवान रहता है, शाम आती है। पर वहाँ भी तो नहीं जाता। न जाने कितनी रातें इनकी स्त्रियाँ की शिकार हुई हैं। कौन नहीं जानता कि शिवालयों की पाली मूरतों ... पाला गया। शिवालय में आरती उतारनेवालों को नाना प्रकार से सताया और रुलाया गया। वे बूढ़ियाँ हुईं, विधवाएँ हुईं—किसकी? उनकी जो साहब के शिकार थे और मुँह ... थे! जानता हूँ आप सब यह जानते हैं, पर क्या करूँ, भगवान् का भार नहीं पाता और यह जाता हूँ। मैं आपसे पूछता हूँ, क्या यही है समाज सेवा? क्या यही है देश सेवा?

मैं नहीं कहता कि आप उन्हें साफ करें और मुझे दें। आप उन्हें जरूर साफ करें। पर अपने को और अपने ... को तौलकर। इधर है एक गठरी तो उधर है गुप्त दान भी।' किसी को बुरा कहना और ... में आपसे ... नहीं चाहता! मैं चाहता हूँ आपका प्यार। चाहता हूँ, आपका निष्पक्ष विचार और शुभ निर्णय। मुझे विश्वास है अपने पर। मुझे विश्वास है आप पर। मैं एक मौका चाहता हूँ और आप मुझे देंगे।

मैं शराबी हूँ। जानता हूँ। बेईमान नहीं हूँ, यह आप भी जानते हैं। आप मुझसे कुर्बानी चाहते हैं। लीजिए, यह दक्षिण मेरी बोतल। दस वर्षों से इसका और मेरा अटूट साथ रहा है। यह मेरे दुर्गुणों के साथ रही है, कुछ लोगों का यह चरणामृत भी है। मैं गंगापुत्र। इसे मेरा मुकदमा। आज से यह बोतल मेरे जीवन से टूटती और छूटती है।'

और कन्हैयालाल ने बोतल को जमीन पर दे मारा। जनता की करतल ध्वनि ने अपनी मूक सहमति प्रकट की।

× × ×

सुना गया, कन्हैयालाल की मजूषाओं में मतपत्र ही मतपत्र थे। और कमलाकर की मजूषाओं में मतपत्रों के साथ-साथ, आरोप-पत्रों एवं महिलाओं के चित्रों की भी भरमार थी!



सामन्ती खनक !

सुबह के पाँच बजे थे। मारवाड़ को जानेवाली गाड़ी ठीक साढ़े पाँच बजे उदयपुर से छूटती थी। बस्ती के चबूतरे के आस-पास पन्द्रह-बीस ताँगे खड़े थे। चौराहे पर बिजली की बत्तियाँ जल रही थीं। ताँगेवाले सवारियों के इन्तज़ार में चौकन्ने थे।

समारियल सराय से एक मुसाफिर निकला। बक्सा और बिस्तर हाथ में लटके थे। ताँगेवालों ने उसे आ घेरा।

'स्टेशन के कितने पैसे लोगे?' मुसाफिर ने पूछा।

'सा'ब! आठ से बारह आने की रेट है। जो आप दे दें।' ताँगेवाले ने जवाब दिया।

पर मुसाफिर चार आने में स्टेशन पहुँचना चाहता था। आखिर, उनमें से एक इस रेट पर भी मुसाफिर को ले जाने के लिए तैयार हो गया।

ताँगेवाले ने ताना कसी की, 'बाबू सा'ब! मजदूरी कम करके क्यों घोड़े की घास खाते हो!'

इनमें भी एक था। जो चुप था और उदास। परेशान था और अनाथ। ताँगेवालों की तानाकशी में उसने भाग नहीं लिया था। अधेड़ उम्र, सुगठित शरीर, कसावदार, गोल चेहरा, साफा बँधा। नुकीली मूँछें। अपने सफेद घोड़े को थपथपाता वह खड़ा था। मुसाफिर ने पहले उससे ही पूछा था। उसने एक रुपया माँगा था।

'जानता हूँ, ताँगेवालों की अपनी एक जमात होती है। पर वह सफेद घोड़ेवाला कुछ अलग ही नज़र आया! कौन था वह?'—मुसाफिर ने ताँगा चलने पर ताँगेवाले से जिज्ञासा और उत्सुकता प्रकट करके पूछा।

'कौन बाबूजी ! वह लम्बी नुकीली मूँछोंवाला ?'

'हाँ हाँ, वही कद्दावर !'

'वह हमारा प्रेसीडेंट है साहब ! हम लोगों में बस वही है जो एक बात बोलता है। सवारी बैठे या न बैठे। उसे चिंता नहीं। जो मुँह से निकल गया, निकल गया। निकली बात वह कभी नहीं बदलता।'

मुसाफिर की जिज्ञासा बढ़ी और उसने पूछा, 'आखिर है कौन ? शक्ल सूरत से तो खानदानी नजर आता है।'

'आपने ठीक पहचाना बाबूजी ! बड़े ऊँचे खानदान का है। राजा हरिश्चन्द्र पर भी मुसीबत आई थी। अपने बुरे दिन गुजार रहा है, बाबूजी !'

मुसाफिर की जिज्ञासा में घी की आहुति पड़ी। वह और भड़की। बोला, 'आखिर यह सब क्या किस्सा है ? कुछ खुलासा कहो।'

'बाबू ! बस हमारा प्रेसीडेंट जो है न ! राजा जगबहादुर का लड़का है। मेवाड़ के सोलह प्रमुख ठिकानों में इसका बड़ा ठिकाना था। दरवाजे पर हाथी झूमते थे इसके, बाबू ! इसके पिता बड़े हजूर महाराणा की मूँछ के बाल थे ! एक लाख की रोटी थी साहब ! जग में पुरखाओं ने इसके सिर कटवाए हैं। बड़ा रुतबा था, बड़ी इज्जत थी। दस साल तक तो हमारा यह प्रसीडेंट हिंडोले से ही नीचे नहीं उतरा, साहब ! चाकर थे, दासियाँ थीं। बड़ा बंगला था। एक समय था ! पर बाबू दिन बदलते देर नहीं लगती। जाने दो बाबू। सुना है रोजी के वक्त बदकिस्मती का नाम लेने से सारा दिन खराब जाता है।' यह कहते ताँगेवाले ने घोड़े के चाबुक मारा।

कहानी कुछ कम रोचक न थी, मुसाफिर की जिज्ञासा और भड़क उठी थी, ताँगेवाले को खतरा था अपनी रोजी का ! चार आने तय हुए थे, मुसाफिर ने उसे एक रुपया देने को कहा। ताँगेवाले को बदकिस्मती किस्मत में बदलती नजर आई। वह बोल चला।

'बाबू ! बिगड़े की दास्ताँ, काल रात की तरह लम्बी होती है हम बड़

बहादुर का अपना 'शामों' के अन्त दिखाए नहीं है। कच्ची उम्र थी पर वह गुजर!

'वह हुजूर को शिकार का शौक था, हुक्म था शिकार के समय और पर कोई दूसरा गोली न चलाए। अच्छे शिकारी थे, शिकार भी बाबू, सब पैदल ही करते थे, मिजाज के नरम थे और गरम, एक दिन की बात है, जंगबहादुर भी हुजूर के साथ शिकार में साथ थे, अचानक ही झाड़ियों में एक गुलदार शेर निकला और लपका भी। वह हुजूर की ओर! हुजूर की जान पर आन बनी। अब आप ही कहें साहब! मेरे जंगबहादुर यह सब देख सकते थे! उन्होंने गोली दागी और शेर का शिकार हो गया। गोली अगर नहीं चलाते तो बाबू! वह हुजूर खतम थे।'

लम्बी साँस छोड़कर, मुसाफिर के कुछ कहने के पहले ही, उसने जारी रखा, 'बाबूजी! राजा का मिजाज ठहरा! नाराज होते क्या देर लगती है। उनका गुस्सा, दिवाला, सम्मानित गर सजा कर दी गई, जंगबहादुर को महलों के अहाते में और उनके खानदान को रनवास में रहने का हुक्म दिया गया।

'राजा का ख्याल था राजा की नाराजी है, थोड़े अरसे के बाद आप ही मिट जायगी। जंगबहादुर की बदकिस्मती बाबू! थोड़े समय बाद वह हुजूर परलोक सिधार गए और उसके एक दो माह बाद ही जंगबहादुर भी भगवान् को प्यारे हुए।'

हमारे प्रवीन्द, ये ही जंगबहादुर के लड़के हैं। आजकल जो महाराणा हैं बाबू, उन्होंने ही यह मकान बनवा दिया है। आपने देखा ही है, क्या शानदार कोठा है। और उनको खातिर भी खूब कम लगान होता है, बाबू!'

स्टेशन आ पहुँचा था। ताँगेवाले की कहानी भी खतम-सी हो चली थी। एक का नोट ताँगेवाले को दे मुसाफिर उतरा। ताँगेवाले ने नोट को सिर माथे लगाया और दूसरी सवारी की राह में जुटा।

× × ×

इन दो साल इस बात को हुए गुजरे हैं। मुसाफिर दास्तान का दर्द लिए कहाँ विलीन हुआ कौन जाने! बल्लबहादुर ताँगा चलाते हुए भी अपनी परम्परागत वंश प्रतिष्ठा और राजपूती आन को न तो भूल ही सका और न वह उसे छोड़ ही सका।

ताँगेवालों से वह सब तरह भिन्न था। आदत में, व्यवहार में, रहन सहन में। सुडौल शरीर, उस पर ब्रिजिस और कोट। सुनी पगड़ी और बल खाई मूँछें। मुसाफिर उसे ताँगावाला समझते तो आखिर कैसे। नतीजा था उसकी रोजी दूसरों के मुकाबले कुछ न हो पाती थी।

ताँगा सुन्दर, घोड़ा पानीदार, चालक जानदार—सब कुछ था। पर कुछ न था। रोजी का मसला बल्लबहादुर के लिए अच्छा खासा सिरदर्द था। सवारियों को जमाने का काम उसका पुराना हजूरी (सेवक) करता था। सवारियाँ पूरी होने पर वह रास बल्लबहादुर को सँभला देता। इस तरह मालिक और सेवक, एक-दूसरे पर आश्रित, जैसे तैसे अपनी गुजर कर रहे थे।

× × ×

ताँगा लेने और चलाने से पूर्व, बल्लबहादुर ने पन्द्रह वर्ष, सामन्त शाही के अनुशासन में गुजारे थे। सुबह होते ही लम्बी अँगरखी, कमर बँधा, उस पर परतल्ला और कटार, सिर पर पगड़ी और पन्नेखड़ी, इस सजधज के साथ वह महाराणा के दरबार में मुजरे के लिए जाते थे। लौटने पर सामन्तों के साथ ही भोजन करते। बल्लबहादुर के पिता जगबहादुर अपनी जागीर के पाटवी पुत्र थे। जागीर वापिस मिल जाने की सम्भावना के कारण उनके मान और मर्यादा में अधिक क्षति नहीं हुई थी। यही कारण था कि बल्लबहादुर का विवाह महाराणा के खर्च से बड़े ठाठ-बाट से हुआ था।

बड़े हजूर की मौत के बाद समय ने पल्टा खाया। नए महाराणा ने गद्दी पर बैठते ही बल्लबहादुर को दी जाती सभी सुविधाएँ बन्द कर

गई थी। तब से रत्नबहादुर ने हाथ गँवाया। उसने धन अपने हाथ में लिया।

रियासतों में बँध रहने पर भी सामन्तशाही की परम्परागत प्रथाएँ उसकी दैनिक चर्या में अभ्यस्त हो गयी थीं। शाम को, मजूरी से लौटने पर, घास की मालिश आदि से निवृत्त हो, वह फिर कुछ घंटों के लिए अपने को जागीर का मालिक और पुरखाओं की प्रतिष्ठा का जामिन महसूस करता था। मजूरी पर उतर आने पर भी, स्वाभिमान से वह नीचे नहीं उतरा था। उसका जीवन सामन्तशाही की जंजीर में बँधा था।

मेहनत से पुरुषार्थ था, अपने जीवन में उसकी महत्ता जमती थी। उसके बच्चे 'अनन्तता', वह उसके अभिमान की परम्परा का ऊँचा स्तम्भ थे। दोनों पत्नियाँ मालमबर, 'ललिता', सम्बोधित कर, उसके सामन्ती सम्मान को कायम रखती थीं। पत्नियों के साथ वह भोजन करता। उसके बाद पत्थर पर कुछ घूँट। वो अतीत की स्मृतियाँ निर्मूल से बाहर से तैर जातीं। वह वहाँ पहुँच जाता जहाँ उसकी शान शौकत बरकरार रहती। इस प्रकार दिन में वह मजदूर था और रात को अपनी स्वाह जागीर का मालिक। इस प्रकार दिन पर दिन गुजारता, जिन्दगी का वह दौर जा रहा था।

× × ×

महाराणा प्रताप की आज जयन्ती थी। जनता में प्रताप जयन्ती मनाने का पूरा जोश और अपूर्व उत्साह था। महाराणा ने समय की गति को पहचाना था। समारोह में भाग लेने की उन्होंने स्वीकृति दी थी। सवारी निकलने में पूर्ण सम्मान दिया था।

शाम के पाँच बज रहे थे। तोप छूटने के साथ ही राजद्वार प्रासाद से सवारी चल पड़ी। आजाद मैदान में पहुँच सवारी का विसर्जित और विशाल दरबार में परिणत होना था। सवारी के आगे थे नक्कारे। पीछे थी भालों की सेना, ढाल कमानों से सुसज्जित। फिर रणकंकण और मारू (प्राचीन वाद्ययंत्र) बजानेवालों की पंक्तियाँ। उसके पीछे था

प्रतिष्ठित नागरिकों का समूह। अंत में था, महाराणा प्रताप का हाथी। स्वर्ण की अम्बारी। उस पर बैठे थे राणा प्रताप! सैन्य वेश में!! आँखें बड़ी, छाती चौड़ी, विशाल भाल, लम्बा कद, सिर पर लोहे का टोप, जिस्म पर जरे बख्तर और हाथ में भाला, एकदम राणा प्रताप! जनता के आकर्षण का एकमात्र केन्द्र!!

'महाराणा की जय!' का उद्घोष, वातावरण को वीरोचित भावनाओं से ओतप्रोत कर रहा था। राणा प्रताप के रूप में, हाथी पर बैठा अजनबी मौन था, पर सजग। अतीत की स्मृतियों में वह उलझ आया था।

असंख्य व्यक्तियों को श्रद्धा और सम्मान की भावनाओं से अपनी ओर देखते और अभिनन्दन करते देख, वह अपने को भूल चुका था। वह राणा प्रताप था। उनका तेज, उनका शौर्य और साहस, उसमें दमकने लगा था।

जलूस शनै शनै शहर के प्रमुख मार्गों से होता, अपने गन्तव्य पर आ पहुँचा। यहाँ महाराणा के सभापतित्व में प्रताप जयंती समारोह होनेवाला था।

आजाद मैदान की प्रमुख बारादरी पर काश्मीरी गालीचा बिछा था। बारादरी के बीचो-बीच, स्वर्ण छत्र मण्डित सिंहासन पर, महाराणा आसीन थे। दोनों ओर, सामन्ती पोशाक में, खिदमतगार चँवर कर रहे थे। सामने एक ओर मेवाड़ के प्रमुख सामन्त, अपनी प्रतिष्ठा और राज्य सम्मान के क्रमानुसार अपने अपने आसनों पर विराजे थे। दूसरी ओर बैठे थे राज्य के मन्त्रीगण और उच्च पदाधिकारी।

जलूस की शान शौकत का बखान करने के बाद एक प्रमुख सामन्त राव सलूम्बर ने निवेदन किया, 'अन्नदाता! महाराणा प्रताप की शक्ल में किसी ऐरे गैरे आदमी का हाथी पर बैठाया जाना और फिर 'महाराणा प्रताप की जय!' के उद्घोषों से ऐसे व्यक्ति का अभिनन्दन होना, अन्नदाता! यह तो मेवाड़ की परम्पराओं का मखौल है। एक साधारण व्यक्ति

का महाराणा के वेश, नाम और हथियार धारण करना, हमारा अपमान है ।'

गढ़म्बर के सरदार अपने रोष को पूरी तरह व्यक्त नहीं कर पाए थे कि बीच में ही सब दरबारी बोल उठे ।

'अन्नदाता ! अब आपका क्या हुक्म है ? क्षमा 'अन्नदाता' हुजूर ! यह जो तांगेवाला जो महाराणा के वेश में है ! हमारे गौरव की प्रतिष्ठा का प्रश्न है यह, अन्नदाता । ठीक है, प्रताप जयन्ती धूमधाम से मनाई जानी चाहिए थी । पर तांगेवाला महाराणा प्रताप बनकर निकले ! यह अनहोनी है अन्नदाता ! हुक्म होना चाहिए कि इस आदमी का सिर काट आपकी नजर किया जाए ।'

महाराणा ने तब तक सब सामन्तों के अनुरूप ही व्यवहार का ओढ़ा था । पर अब उन्होंने अपने सामन्तों का रुख स्पष्ट पाया तो वह कुछ विचलित हुए । उद्दण्ड बात कहने की शक्ति न थी, कुछ कहने हो जा रहे थे कि सामने से दरबान ने झुककर सूचित किया । अन्नदाता ! महाराणा प्रताप की सवारी चौगान में आ पहुँची है ।'

सूचना ने महाराणा को क्षुब्ध कर दिया । वह अपने को न सँभाल पाए । आज्ञा हुई

'महाराणा प्रताप के वेशधारी व्यक्ति को तुरन्त हाजिर किया जाए । सख्ती न होगी ।'

सभा में सन्नाटा छा गया ।

थोड़ी ही देर में, हाथी से उतारा गया, महाराणा प्रताप, अपने नकली सामन्तों के साथ, दरबार में दाखिल हुआ ।

हुक्म हुआ 'आगन्तुक का सर कलम करो । दस्तन्दाजी होगी ।'

आज्ञा होते ही, सिपाहियों ने महाराणा प्रताप को दूर खड़े रहने का यत्न किया । किन्तु वह रुका भी नहीं । रुका नहीं । चारों ओर से उस राजन को सिपाही टूट पड़े ।

पुनः आज्ञा हुई 'इसे दूर फेंक दिया जाए।'

आज्ञा को सुनते ही महाराणा प्रताप का वेश वाला उठा, 'किसको दूर फेंक दिया जाए, अन्नदाता! अन्नदाता के पूर्वज को! उस राणा प्रताप को, जिसके यश पर आपका खानदान जीवित है। उस प्रताप के कवच, ढाल, शूल, तलवार के रूप में उसके शौर्य को आप जूतियों से रौंदना चाहते हैं!'

अपमान से क्रोधित, आग के गोले उगलता, रक्तरंजित आँखों से महाराणा को घूरता वह बोलता गया,

'जाओ, अब कहो अन्नदाता से। ताँगा चलाते हुए भी इस चाकर का स्वाभिमान खत्म नहीं हुआ है। राणा प्रताप को मेरे पुरखाओं ने भी सिर भेंट किए हैं। मेरी रगों में भी वही खून दौड़ रहा है। मेरा स्थान इन सामन्तों से नीचे नहीं। जो भी हो अभी मैं राणा प्रताप हूँ।'—कहता वह सिपाहियों के व्यूह को तोड़ता, वेग से आगे बढ़ता, महाराणा के नजदीक पहुँच गया।

दरबार में खलबली मच गई। दरबारी किंकर्तव्यविमूढ़, खड़े के खड़े रह गए।

सामन्त आपा खो चुका था। महाराणा की हुकूमत से टकराने का नतीजा, उस राजपूत के दिमाग से परे था। आखिर वही हुआ जो सामन्ती युग में होता आया था। दूसरे दिन लोगों ने उसे कठघरे के सींखचों में देखा। लगता था, मानों राणा प्रताप स्वयं ही अकबर की नजरबंदी में बन्द हो।

हज्जामों का हज्जाम

हरिद्वार! हर की पैड़ी का पावन घाट। दोनों ओर गंगा का प्रवाह। घाट के ऊपर और यहाँ की पंक्तियाँ तो दूसरी ओर झिलमिल और नावों की कतार। यहाँ माँ गङ्गा, भक्तों के दुःखों का कल्मष प्रवाह में समेट अविरल बहती रहती है। स्नेहभाजन की अस्थियाँ विसर्जित करने मैं भी इसकी शरण में पहुँचा था।

हर की पैड़ी। धर्मभीरु, विरक्त और अनासक्त! फिर भी इसके किनारे पर जीवन की विविधता, उसकी चहल-पहल और उसका वैचित्र्य, नाना रूपों में देखा और निरखा। मैं यहाँ की भीड़ और अपनी उदासीनता से राहत चाहता था। पुल को पार कर दूसरे किनारे पहुँचा। यहाँ पंडों की लम्बी कतारें थीं! यजमानों से श्राद्ध और पिंड-दान कराने में वे व्यस्त थे। इनके सामने ही एक कतार हज्जामों की भी थी।

मैंने अपने पेट से कहा, 'मुझे फुरसत है, अच्छी हजामत करानी है।'

पंडा उठा, इधर-उधर फिरा, लौट कर आया और बोला, 'बाबूजी! मैं प्रबन्ध कर आया हूँ। सामने बैठ जाइए, वह हज्जाम बैठा है।—सबसे पुराना है, हज्जामों की टोली चलाता है। पढ़ा-लिखा भी है।'

मैं चला, सीधा हज्जाम की अंगीठी के पास जा बैठा। उम्र से हज्जाम था अधेड़, शक्ल पर सिकुड़न थी और झुर्रियाँ चेहरा भरा गुस्सा। समझ गया गलत जगह आन फँसा हूँ। यह क्या! उसने तो माँग दिखाया, सिर पर तो हज्जाम की कैंची का सफर शुरू हो चुका है। मैं भी मनोरंजन के मूड में हो आया।

पूछा, 'कहो शास्त्री! कितनी कमाई कर लेते हो?'

'बाबूजी ! यह तो सब मौसम पर मुनस्सर है।'

'फिर भी—?'

'यही हुजूर ! डेढ़-सौ रुपए के आस-पास महीने में हो जाता है।'

'और सरकार को टैक्स कितना देना पड़ता है ?'

'एक पैसा रोज का बाबूजी !'

आश्चर्य में पड़ा, 'एक पैसा रोज ?'

'आपको ताज्जुब होता है बाबूजी ! पर बाबूजी ! आज जहाँ से रेल गुजरती है, उस जमीन पर पहले हम आदमियों का ही कब्जा था, हम लोगों की यहाँ आबाद बस्ती थी। सरकार ने जमीन ले ली, रेल लाइन निकली, आप जानते ही हैं बाबूजी, सरकार के सामने किसकी चली है। हम लोग शरणार्थियों की तरह इधर-उधर बसाए गए। और सरकार ने हमारी इमदाद में हर की पैड़ी पर हजामत करने का यह स्थान सुरक्षित कर दिया। तब से हमारी यहाँ की बैठक का, एक पैसा रोज, हमसे लिया जाता है।'

मैंने पूछा 'यह सब लेनी में है या जबानी ?'

वह बोला, 'बाबूजी हम नाई हैं। हमारी जाति चतुर और चालाक होती है हम सब समझते हैं, यह सब लेखा में है। बाकायदा एग्रीमेंट है इसका।'

अब हमारी बातचीत एक ताल मेल से चल निकली थी। मैं हजामत भी बनवा रहा था और साथ ही उस आदमी को परख भी रहा था। हजाम भी समझ गया था कि आज उसके हाथ में किसी काबिल आदमी का सर आया है मैं मौन रहा, वह भी चुप्पी साधे रहा कैंची उसकी चलती रही।

मैंने स्वामोशी तोड़ी, पूछा, 'रात दिन तुम हजामत बनाते हो, ऐसे व्यथित लोगों की, जिनकी हजामत में तुमको प्रसन्नता नहीं होता, बेचैन, सतत, वे अपनी पीड़ा और दर्द लिए तुमसे मुंडन कराते हैं।'

हज्जाम ने कहा, 'पैसा ही रहा है, बाबूजी! उनके दाढ़ का हृदय पर बहुत कम असर होता है और बाबूजी! प्रतिदिन की एक भी अनुभूति हृदय को कमजोर बना रही है।'

बातों के दौरान में हज्जाम ने समझ लिया था कि उसका ग्राहक बाहर का अमीर आदमी है। बाबू बड़े और मालदार! मैं भी समझ रहा था कि जिसके हाथों में रोज अनेकों सिर आते हैं, उसका मनोवैज्ञानिक अध्ययन भी कमजोर नहीं हो सकता। उसके चेहरे को देखकर मैं कह सकता था कि हज्जाम में जीवन को समझने की बड़ी क्षमता है।

मैंने पूछा, 'कितने लड़के हैं, तुम्हारे?'

'तीन।'

पूछा, 'बड़ा लड़का क्या करता है?'

'वकालत करता है, बाबूजी!'

मुझे आश्चर्य हुआ और प्रसन्नता भी। कौतूहलवश मैं कह उठा, 'ओह! तो उसने भी बाप का ही पेशा पकड़ लिया है।'

हज्जाम बोला, 'यह कैसे, बाबूजी?'

'तुम हजामत बनाते हो और तुम्हारा लड़का भी बुद्धि से लोगों की हजामत ही तो बनाता है। तुम्हारा एक आमदनी का जरिया एक, उसका भी वैसा ही एक, और तुम्हारी भी दुकान और उसकी भी, ग्राहकों की। अन्तर केवल कमाने के ढंग में : तुम्हारा उस्तरा और कैंची, उसके पास भी तो बुद्धि का उस्तरा।'

हज्जाम मेरे मजाक से प्रसन्न हुआ। हजामत खतम हुई। उसे विश्वास हो गया था कि आज उसे इनाम में इन ग्राहक से अच्छी मजदूरी मिलेगी।

सिर की कंघी करने के बाद, हज्जाम की नजर मेरी मूँछ पर पड़ी। वह एकदम बोल उठा कैंची उठाकर।' 'लाइए बाबूजी! मैं इन्हें अभी काट देता हूँ।

जैसा वह कहता, वैसे मैं भी जल्दी से बोल उठा, 'जरा ठहरो,

गत्रत कर डालोगे। ऐसा न करो।'

वह भी पवित्र और मैं भी पवित्र। मेरी भौंह में एक सफ़ेद बाल उसको दिखाई दिया था। बाल क्या? जैसे खूँखार नाग था। भौंह के काले बालों में से बाहर झाँकता हुआ, जैसे मेरी जवानी को ही वह चुनौती दे रहा था। उस पर कैंची चलाकर हज्जाम उसका अभिमान का नोंचना चाहता था।

मैंने उससे कहा, 'यह गंगा का किनारा! आत्म परीक्षण का यह स्थल!! अहं को धोने का यह साधना केन्द्र!!! फिर यह कैसा तुम्हारा घातक आक्रमण, इस सफ़ेद बाल की बेकसी पर? जो बाल मुझ को मानी जीवन की नियमता का बोध कराता है, उस पर तुम्हारा आघात।'

हज्जाम मानो दार्शनिक था, जीवन की यथार्थता को वह समझता था। कैंची उसने रखी, भौंह को सँवार, सफ़ेद बाल उसने और बाहर निकाला। उसने अपना सिर नवाया और दोनों हाथों से प्रणाम किया। जैसे वह मेरा मज़ाक कर रहा था।

जाने के लिए मैंने हज्जाम को नमस्कार किया। उसने भी झुक कर प्रणाम किया। मानो दो मोतियों बिदाई ले रहे थे। मैं तो चलने को था किन्तु अब भी हज्जाम को यह विश्वास था कि जैसे मैं उसको पर्याप्त पारिश्रमिक इनाम में देनेवाला हूँ। उसकी जिज्ञासा, आतुरता और बेचैनी को देखकर, न जाने क्यों, उसके मन का पारा देने की मुझे सूझी—एक मानसिक धक्का!

मैंने कहा, 'क्या कहूँ। आज एक ग़लती कर गया। चला आया, जल्दी से स्नान करने के लिए। ज़्यादा हजामत कराने का नहीं था। और डर भी था कि अगर पैसा जेब में ले गया तो मुमकिन है जेब कतरों के हाथ मेरी जेब पड़ जाए। इससे खाली जेब ही चला आया। अभी तो आपको कुछ भी देने में, मैं विवश हूँ। गंगा का यह किनारा है। बड़ा पवित्र है। यहाँ आकर आदमी बेईमानी नहीं करता। बेईमान

भी यहाँ ईमानदार बनता है। भय अभय को समझता है। नास्तिक आस्तिक होता है। विश्वास करो। मगर पहुँचते ही किसी आदमी के हाथ, आपका पैसा भेज देता हूँ।

हज्जाम चकित, मेरे चेहरे को देखता रह गया। विश्वास उसका अविश्वास में बदला, पर मुझ जैसे नकली साहब से वह रुपये भी तो क्या कहे। मैंने उसे उद्विग्न पाया। उसका विश्वास स्थान को फिर एक बार और मनन किया। विश्वास क्या, रुपये एक और आघात पहुँचाने का।

मैंने कहा, 'मान भी लो कि मगर पहुँचते मैं भूल गया, तो भी विश्वास रखें कि घर पहुँचते ही मनिआर्डर से आपका रुपया निश्चय ही भेजूँगा।'

यह सुन, मेरे प्रति रहा-सहा विश्वास भी उसका जाता रहा। सारे दिन की मजदूरी मुफ्त में जाने की उसकी आशा नष्ट हुई। वह चुप, मैं भी चुप। मानों एक दूसरे के अध्ययन में व्यस्त।

चलने के पहले मैंने उसे नमस्कार किया, कहा 'मेरा पर आपका विश्वास हो तो चलूँ?'

हज्जाम ने हुंकार भरी, 'लेकिन बाबूजी!' वह बोला, 'मैं तो स्टेशन पर जा रहा हूँ। वहाँ पर फिर आना-जाना नहीं। आप आदमी के हाथ भी पैसे भेजेंगे तब भी मैं दुकान पर नहीं मिलूँगा।'

मैंने कहा, 'मेरा विश्वास रख कर चलें। मैं रात को मनिआर्डर से भेज दूँगा।'

अब तो सारा मामला मजेदार था। न वह पैसा माँगने की स्थिति में था और न मैं ही पैसा देने वाला था।

वह निराश हो बोला, 'बाबूजी! अब तो मैं पैसा पर विश्वास छोड़ कर ही चलता हूँ।'

मैंने कहा, 'कुछ दिनों के बाद देखोगे कि मेरे इमान के सम्बन्ध में तुम्हारी भ्रांति निर्मूल थी। चार-पाँच दिन की ही बात है। तुम मुझको

बेईमान समझोगे और मैं भी तुमको भला आदमी नहीं। जो अविश्वास करता है, वह भी तो भला नहीं।'

मैं नमस्कार कर उठ खड़ा हुआ। तब हज्जाम ने कहा, 'आप कष्ट मत करियेगा, पैसा भेजने का। मैं समझूँगा, आज की कमाई गंगा माई को भेंट कर दी।'

मैंने उसको धन्यवाद दिया और कहा, 'तुम मुझसे बहुत ऊँचे हो। मुझसे कहीं अधिक श्रद्धा है तुम्हारी गंगा माई में। जो मजदूरी नहीं आयी है, उसको भी तुम गंगा की अर्चना में समर्पित कर रहे हो।'

मैं रवाना हुआ, तिरछी नजर से देखा, वह अपना सामान सम्हाल रहा था। शायद सोचता होगा 'आज किस मनहूस का मुँह देखा। शराफ की शक्ल में एक शैतान आ टकराया। क्या अच्छी बात कर गया। दर्शनशास्त्र के क्या सुन्दर विचार रख गया। हजारों आदमी इन हाथों से निकाल दिए, पर यह तो मुझको भी धोखा दे गया।'

कुछ आगे जा, मैं रुका, और लौट, फिर उसकी बेंच पर आ बैठा। उसका विश्वास लौटा। समझा मैंने मजाक की थी। मैंने जेब में हाथ डाला, एक चवन्नी निकाल उसको दी। वह ठमक गया। उद्विग्न होकर उसने मेरी ओर देखा, बोला, 'यह क्या ? बाबूजी !'

मैंने कहा, 'इतनी मेहनत तुमने की और मैं तुमको पर्याप्त पारिश्रमिक न दूँ, यह कैसे हो सकता है ?'

'किन्तु बाबूजी ! यह चवन्नी क्या ज्यादा है ?' चवन्नी में तो कलम निकाली जाती है।'

मैंने कहा, 'गंगा किनारे तो अर्चना होती है। सेवा होती है। यहाँ जजमान से माँगते नहीं, श्रद्धा से जजमान देता है।'

वह बोला, 'बाबूजी। इसको भी ले जाओ। मुझे कुछ नहीं चाहिए।'

मैं फिर आगे बढ़ा, लौटा, अबकी बार अठन्नी दी। इसको भी उसने मजाक समझा, इसके बाद वह बेंच पर बैठ गया और कहने लगा।

'बाबूजी, मुझे न चवन्नी चाहिए और न अठन्नी ही। आप थोड़ा यहाँ बैठ जाइए, आप किस शक्ल में, कौन हैं? अगर यह पता लगा सका, तो समझूँगा, जीवन में एक बड़ी इच्छा बाकी थी, वह पूरी हुआ, वही मेरा पारिश्रमिक होगा।'

मैं बैठ गया। उसने प्रश्न किया, आप कहाँ से आए हैं?

'राजस्थान से।'

'अजमेरी मालूम होते हो। आपका नाम?'

'निरंजननाथ आचार्य।'

वह हक्का-बक्का, सहमा-सा, मुझे देखता रह गया, आश्चर्य से बोला, 'आप राजस्थान विधान सभा के अध्यक्ष। सरभाग्य नमस्कार करता हूँ,। आपकी खबर उसमें आती रहती है। अब मुझे संतोष हो गया। मुझे कुछ नहीं चाहिए।'

मेरे पाँव खुल गए, जीवन के यथार्थ को बाहर ने छू लिया। सांसारिकता का मुखर आवरण आ गया। मैं बड़ा आदमी हो गया था। मेरे अन्दर का वास्तविक आदमी, अब गायब था। हज्जाम ने अपनी दास्तान शुरू की।

'बाबूजी! इस घाट पर गोविन्द वल्लभ पंत की अस्थियाँ विसर्जित हुईं, मैंने ही उनके रिश्तेदारों का मुण्डन किया था। महाराणा उदयपुर की भी अस्थियाँ यहीं आईं, उन लोगों की हजामत भी इसी घाट पर हुई। लालबहादुर शास्त्रीजी की भी अस्थियाँ आईं, उनके रिश्तेदारों के साथ भी मैंने मूँड़े। गरज यह कि इस स्थान पर, बड़े-बड़े आदमियों की हजामत मैंने की है। पर बाबूजी! विद्वान और ऊँचे आदमी की हजामत करने का अवसर तो आज मिला है।'

अब मैं एक सांसारिक आदमी था। असली आदमी नहीं। मैंने बटुआ निकाला और तीन रुपए उसे दिए। अब तो हज्जाम बड़ा प्रसन्न था। उसने एक किताब निकाली और मेरे सामने पेश करते हुए कहा, 'बाबूजी! सैकड़ों आदमियों के इसमें हस्ताक्षर हैं। मैं यहाँ का ऊँचा

कायमता हूँ। हजामत बनाता हूँ। प्रभाव भी रखता हूँ।'

मैंने किताब के पन्ने पलटे, पंत के हस्ताक्षर, लालबहादुर के हस्ताक्षर और नेहरू के हस्ताक्षर। हस्ताक्षर पर हस्ताक्षर!! जिन जिन के इस किताब में हस्ताक्षर थे, वह सब गंगा मैया के प्रवाह में विलीन हो चुके थे। हस्ताक्षर रूप में ही उनका अवशेष अब इस किताब में शेष था। मैं इस रहस्य पर सोच ही रहा था कि वह बोला, 'बाबूजी! आप भी हस्ताक्षर कर दें।'

मैंने कहा, 'क्या? मुझे भी अतीत की पंक्ति में देखना चाहते हो! —संकेत देना चाहते हो कि मेरा वर्तमान भी किसी समय अतीत होने वाला है।—

मैंने अपने को और अपने चिंतन प्रवाह को रोका। किताब उठाई और लिखा, 'हजामों का हज्जाम—निरंजननाथ आचार्य।'

अनायास ही जो कुछ लिख गया था, उसे पढ़ा तो उसमें सत्यता और यथार्थता पाई। वह हज्जाम और मैं भी। दोनों एक ही स्तर पर थे। वह हज्जाम था हज्जामों में, तो मैं था राजनीति का हज्जाम।

'माली बाबा ! फूल दो'

पूना ! फिर बँगला ! हैमरस्मिथ व्यक्ति का मैं अतिथि। लॉन में लिये फूल के निकल हो आने की प्रतीक्षा में, मैं कुछ अलसाया-सा लॉन में। कुछ देर बाद ही पास वाली सड़क पर बालक के गाने में मगन लगी। नाम गिनाना नहीं चाहता, आज तक मगन मस्त लगा है।

चाय बनाई। टोस्ट पर मक्खन लगा ही रहा था कि सड़क से मधुर कण्ठ में निकली बालिका की सुरीली ध्वनि कानों में पड़ी, 'माली बाबा ! फूल दो'। आवाज ने मुझे आकृष्ट किया। टोस्ट पर मक्खन लगाने और चाय के सिप के साथ उस गान का ही रस था कि दूर से फिर वही आवाज गूँजी

'माली बाबा ! माली बाबा !! फूल दो।'

एक अनोखा भोलापन, सुरीला स्वर, मधुर कण्ठ — उस पर तुतलाती वाणी !! मैं खिंचा बिना न रह सका। बालकों के वचनों की कहानी सुनते और स्वरों, बालकों की निष्कपट [illegible] के सामने [illegible] और बाहर हो आया। उस सड़क के किनारे में गया। ओहो ! तीन बच्चों को खेलते हुए पाया, दो बालक, एक बालिका। सड़क पर की गोरी [illegible] बालिका के हाथ में [illegible] थे। उस गली में फूल [illegible] की धुन थी। [illegible] थी [illegible] स्थान-स्थान पर [illegible] था और अपनी [illegible] का परिचय दे रहा था। रास्ते किनारे खिले फूल [illegible] थे। कमल और गुलाब, जो खिल कर चुके थे, [illegible] [illegible] में [illegible] रहे थे।

बँगले के ठीक [illegible] में [illegible] आगे बगीचे पर [illegible] और [illegible] रहा था [illegible] में [illegible] थी। चारों ओर

जिसके गदगी का ढेर फैला और जुटा था। एक स्त्री और पुरुष। मजदूरी पर जाने की तैयारी म कुछ उतावले और अस्त-व्यस्त। सम्भवत यही बच्चों के माँ बाप थे।

चकित और विस्मित नजरों से बच्चों को देखा। वह अपने खेल में मस्त थे और उनका ध्यान मेरी ओर न था। स्कूल का समय अभी न हुआ था। तमाशे की वृत्ति म उन्होंने जन-मन-गण गाया। लेफ्ट राइट बोलते हुए तीनों ने एक परेड कर डाली। तुरन्त ही एक उनमें से शिवाजी बन बैठा। बालिका बन बैठी झाँसी की रानी। लड़के ने कहा, मैं शिवाजी! लड़की बोली, म झाँसी की रानी!! भाई बहनों म वाक् युद्ध सा छिड गया।

'हम देश के लिए मरेंगे! हम दुश्मन से भिडेंगे!! हम दुश्मनों को मारेंगे! जय हिन्द!' इन उद्घोषों ने देश की मौजूदा स्थिति और परिस्थिति के भँवर म मुझको ले जा छोडा। मैं पुलकित हो आया। चिंतन में पडा।

मेरी टकटकी देर से बच्चों की ओर ही थी। आखिर ध्यान उनका भी मेरी ओर हुआ। मैंने गर्दन हिलाई और हाथ से इशारा किया। वह देखते रहे, मानो मैं तमाशा होऊँ, चिडियाघर का कोई जीव।

मैंने कहा, 'फूल लोगे'।

तीनों लगभग एक साथ ही बोले, 'आपसे नहीं! माली बाबा से हम फूल लेंगे।'

देखता क्या हूँ कि माली बाबा तो स्वय ही हाथों में फूल लिए उधर आ रहे थे। लगता था, बच्चों ने उन्हें साध रखा था। माली बाबा, बालकों को फूल दे, स्वय भी उन फूल-जैसे बच्चों से खेलने लगे थे।

मैं लौट टेबिल तक आया। चाय ठडी हो रही थी। टोस्ट की ओर हाथ बढाया वह भारी हो आया। मुँह तक न जा पाया। टेबिल पर सजे सब व्यजन मेरे लिए चुनौती बन गए और एक प्रश्न ?—

ये बालक! इसके लिए मुझसे मत माँग नहीं!' मैं अपने आप था। ये प्रति भी यह सम्पूर्ण। माँ और उसके कुर्सी पर मैं पड़ गए। मारवाड़ी और दिल में लाया।

'माली बाबा! माली बाबा!' की आवाज़ ने सुन, बाहर आकर था मान न पगला होता तो न जाने कब तक इस भाग में आ गया था में लाया एक बार। बाबा। बिगड़ता था एक दुःख में बाँध लगा। उसकी ओर पाता। निगाह उसकी ऊपर थी और गायक मुख ही के नाम रह थे। माँ उसे पुचकारा लिया। उस पर हाथ रख उसके गाल की नीचे तक हाल का मदद भी लिया। उसकी गर्दी में जल्दी से। पुचकार मन उनकी ओर पड़ लिया। एक ने अर्थात पर लिपट गए थे ही उस समझा लिया। बालक ने पहला माला। पर आगम ■ बिगाड़ का निश्चय कर ही रहे थे कि दूर से माँ का स्वर गूँजा 'क्या है बबुआ?'

गरम एक माथ उठा लिया 'बाहर ने बिगाड़ दी है।' कहा बालिका ने मुँह और इशारा किया।

माँ ने आगे देखा न होने उसकी और सीधा एक पल रुमाल उसके गाल कानी बाली, 'बाहर की बिगाड़ हमारा नहीं चाहिए। उनकी यह मुर्गी हमसे की मुबारक। पता इस,' कहने के साथ उस के हाथ में उसके पुचकार छीना और ज़मीन पर दे मारा।

उनके चीत्कार गए। वे इस घटना का पकड़ने में असमर्थ थे। उनकी माँ ने भागनी में लाकर अपनेपन की एक तीखी नज़र मुख पर पड़ी। मैं घायल अपने हाथ पर तमस भाता गया यहा और भावना गए।

यह नग्न है। गरीबों का अभिशाप इसी शुष्कता है। दूध और प्रानवान की नाम जिनमें इन रंगवालों के लिए सब मुसाफ़िर रहती है। इन रंगों की ऊँचाई में उमड़नवाली सहानुभूति और सद्भावना उसका परिणाम पल, इन मकान गरीबों के अपमान और अभियोगों का आन्तरिक रूप तक स्थान और इस रूप सकती है? शासित में शासक के लिए प्रतिशोध की आग और भावनाएँ जाने अनजाने अपना घर

घरती चली जा रही है। हवा का एक हल्का सा झोका कभी भी उन प्रचड ज्वालाओं में बदल सकता है।

भवनों से गरीबों को सदा ही दया के स्थान पर निर्दयता, सहायता की जगह क्रूरता मिली है। अत वे इसके विपरीत व्यवहार की कल्पना भी करें तो कैसे करें! इस कारण अट्टालिका से उतरी मेरी यह सहानुभूति उनकी दृष्टि मे उनका मखौल थी। इसम उनका क्या दोष! कलाल की दुकान पर बिकते दूध के स्थान पर अगर शराब की भ्राति हो जाए तो कौन सा आश्चर्य। लगा, इन अट्टालिकाओं से सच्चा स्नेह नहीं उभर सकता। यहाँ का दया धम, थोथे आडम्बर का मात्र प्रदर्शन है। यह है उन युग युग से होते कार्य-कलापों का प्रभाव जो अट्टालिकाओं की ऊँचाई से सदा होते रहे हैं। मैं ऊँचाई पर और यह निरीह बालक समतल धरती से भी नीचे, गड्ढे म बनी एक झोपडी के वासी! मेरे और उनके बीच कितना अतर! स्थान और स्थिति म कितनी असमानता!

मैं अपने को रोक न सका। उनकी माँ के दूर निकलते ही मिठाई का एक और पुडका उन बच्चों को सकेत करके उनकी ओर फका। उन्होंने उसे लपक लिया। वहाँ से वे भागे—कहीं दुबक कर खाने के लिए। बच्चों की प्रसन्नता देख मुझे कुछ सतोष मिला।

बच्चे और उनकी झोपडी! म और यह भवन! दोनों म कितना महान् अतर? इस विषमता का अत कहाँ? ज्यों ज्यों चितन की गहराई में उतरता था, उलझन कुछ और बढ़ती ही जाती थी। मैं सज्ञा शून्य-सा चितन में गोते खा रहा था। मदिर और पाठशालाओं के घण्टों ने मुझे सचेत किया। एक ओर बच्चे उछलते कूदते, फुदकते खेलते, अपने अपने स्कूलों को जा रहे थे। दूसरी ओर लोग जल पात्र, गध पुष्प हाथों में लिए और कुछ रिक्त हस्त भी मदिरों की ओर जाते दिखाई दिए।

मन ने कहा, भारत का देहधारी देव अगर कोई है तो यह जो

सूना सा होता जा रहा है। मन्दिर हैं ना ये पाठशालाएँ जहाँ राष्ट्र का निर्माण होता है। मन्दिर, मस्जिद, गिर्जा, गुरुद्वारा, गीता और कुरान, बाइबिल और ग्रंथ साहब की उपासना और ध्यान के प्रकाश में अगर इन शास्त्रों की साधना हो सके तो हमारी पूजा सार्थक। हमारा ज्ञान सार्थक। पर कहाँ! हम तो भ्रम में खो गए हैं। शरीर से निर्जीव की ओर, ज्ञान से अज्ञान की ओर।

मैं खड़ा ऊँचाई पर! राष्ट्र की निधि और धरोहर ये बालक जमीन के तल में धँसते से चलेंगे। रहते हुए भी मेरे सामने, स्नेह और सहृदयता से वंचित! मैं अपने में सीमित, अपने स्वार्थों के लिए! वाह री विडम्बना।

पूजा में जब तक रहा, प्रातः वे बच्चे आते रहे। मैं प्यार करता, वे मस्त जाते। पुचकार करना, यह रोज का व्यापार होता। आज मैं घर पर हूँ। दूर, बहुत दूर, उन बच्चों से। नाश्ते के समय मेरे बच्चे पास हैं। फिर भी पूजा के वे बालक मेरी आँखों के आगे आ जाते हैं। आज भी पाठशालाओं में शिक्षण में शिथिल नन्हे मुन्नों को देखता हूँ तब वही ध्यान और वही ध्वनि गूँजती है, 'माली बाबा! माली बाबा फूल दो।' और मेरा घाव हरा हो जाता है।

वक्त आ गया

मैं मन्त्री हूँ! शानदार मेरा बँगला! बँगले के चारों ओर कुछ एकड़ भूमि का घेरा है, छोटा सा स्विमिंग पूल है, दूब के दो सुन्दर लॉन हैं जिनके किनारे फूलों और पौधों से सुसज्जित हैं। कमरे अनेकों हैं मेरे बँगले में! मेहमानों के लिए अलग 'गेस्ट हाउस' है। सेवकों के लिए अलग 'सर्वेन्ट्स क्वार्टर्स' हैं। लोहे का सुरक्षित फाटक है। फाटक पर तैनात है मेरी सुरक्षा के लिए सन्त्री!

मैं मन्त्री हूँ। जनता से चुना हुआ और उसी से डर है मेरी सरकार को! मैं मन्त्री हूँ, दायित्वों से लदा, पर उससे एकदम बेखबर! अधिकारों और पद के नशे में चूर, मैं गौरवान्वित हूँ। गर्व से छाती मेरी फूली और माथा मेरा तनता है!

सवेरे के छः बजे थे। मेरी कार गैरेज से अभी तक नहीं आई थी। मुझे आज दौरे पर रवाना होना था। जहाँ पहुँचना था, वहाँ का समय निश्चित था। मिलनेवालों की भीड़ के आतंक से, जिनके आने का समय हो चला था, मैं बचना चाहता था। डरता था कि आवागमन शुरू हुआ तो कहीं व्यावहारिकता निभाने में ही समय न चला जाए। अच्छा यही समझा कि सड़क के किनारे खड़े होकर ही कार की राह देखूँ। पैदल ही निकल पड़ा। फाटक से बाहर आया। खड़े होने के स्थान की खोज में था कि एक पुराने कब्रिस्तान पर मेरी दृष्टि जा अटकी।

पुराना कब्रिस्तान! जो कि मेरे बँगले के सामने जरा कुछ हटकर था। पर जिसकी जानकारी से मैं था अब तक शून्य!—दोनों में आपसी कितना बड़ा अन्तर है! एक वीरान है, दूसरा आबाद! एक जड़ है

और मौत दूसरा पक्ष है और सुन्दर। जंगल चौराहा है सत्ता की मदहोशी और अधिकार के अन्धकार का! और यह पुराना कब्रिस्तान, उस मदहोशी और अन्धकार को, अपने तले दबाए धूलि-धूसरित करता, मौन सूना देता और सावधान करता रहता है!—किसे? उसे, जो आता है।

अनजाने में हमारे कदम कब्रिस्तान की ओर मुड़ चले। यहाँ सोये सभी अपरिचित, एक साथ, एक ही स्तर में, एक ही बात, मेरा मन से कहने लगा—'समान स्तर है।' मानो जीवन के इस वास्तविक सत्य की अनुभूति, इस जड़ता की गहराई में पैठ उन्होंने पाई हो।

इस सत्य को अनेक बार पढ़ा है, सन्त महात्माओं के मुख से सुना है। कुछ कुछ समझता भी हूँ। पर आज हालत मेरी अजीब थी। मैं जीवन के सत्य की खोज में गहरी डुबकी लगा गया था। सहम आया था।

मैं विचारों में खोया था। इतने में अँगड़ाई की आवाज से मेरा ध्यान टूटा। आवाज की दिशा में देखा। सामने थी नयी कब्र—चबूतरानुमा। दोनों ओर बबूल के छोटे मोटे झाड़ और झाड़ झंखाड़। और उस कब्र पर सोया था एक इन्सान! कमीज और निक्कर पहने था। दोनों ही चिथड़े हो रहे थे। आदमी जवान था और स्वस्थ। बालों में मिट्टी भरी थी। दाढ़ी थी बढ़ी हुई। पाँवों में न टूटी चप्पल थी न फटे जूते ही!—इस पर भी वह एक बेफिक्री, निश्चिन्तता और स्वच्छन्दता के साथ सोया हुआ था।

अँगड़ाई के साथ उसने एक ओर करवट बदली। ध्यान से देखा, चिथड़े हुए उसके निक्कर और कमीज तक की सिलाई और धागे धब्बों से भरे थे। चेहरे पर भी जगह जगह काला रोगन जैसा कुछ पुता था। और हाथ भी कालिख से भरे थे। समझते देर नहीं लगी कि वह किसी कारखाने का मजदूर है। उसकी निश्चिन्तता और मस्ती मेरे पद के अहंकार को नोचने लगी। मैं सरमायादार था और वह मुझसे शोषित

मजदूर। मैं शासक था और वह मेरा कोपभाजन!

एक साथ कई विषम भावनाएँ मेरे मानस को उद्वेलित करने लगीं। मजदूर और क्रांति, शोषण और विद्रोह, असमानता और समान अधिकार! कब्र पर सोया मजदूर इस शोषण के विरुद्ध प्रतिशोध की आग लिए तूफान की तरह आगे बढ़ता मुझे नजर आया। और मैं? हुकूमत का नुमाइंदा बन उसके आन्दोलन का दमन और हनन कर रहा था! उसकी करवट में इन्कलाब के दहकते शोले और उसकी अँगड़ाई में प्रतिशोध की चिनगारियाँ मुझे दीखीं।

द्वन्द्व और द्वन्द्व! जमाना था, जब मैं स्वयं मजदूर आन्दोलन का अगुआ हुआ करता था। और आज मैं ही जैसे उन्हें कुचलने में संतोष मान रहा था! वाह रे मनुष्य! तेरी बलिहारी!

मजदूर ने बेचैनी के साथ, कई करवटें बदल डालीं। नींद से शायद वह थक चुका था। और उठने की चेष्टा में, अलसाया और कुछ हड़बड़ाहट में था। सोचा, यह मजदूर! यह इंसान! हमारे मुल्क की ताकत, उत्पादन का आधार, शक्ति का केन्द्र! काश! होश में आए और अपनी शक्ति की अँगड़ाई ले। शोषण के विरुद्ध क्रांति की करवट बदले। फिर क्या देर लगेगी इस असमानता की धरा को समतल होने में!

देखता क्या हूँ कि एक और इंसान कब्र की ओर चला आ रहा है, मुझे नफरत से देखता। वह सोये मजदूर के पास खड़ा हुआ। उसे थपथपाता और उसके सिर को दोनों हाथों में उठाता, वह बोला,

'उठ भी! अरे उठता क्यों नहीं? अब वक्त हो गया। उठ, देख सवेरा हो गया।'

मैं सहमा-सा खड़ा सब देख रहा था। 'वक्त हो गया' शब्दों से मुझे लगा कि जैसे मजदूर अँगड़ाई और करवट लेता जाग उठा हुआ है। शोषक ने शोषित की शक्ति के आगे जैसे घुटने टेक दिए हैं। मजदूर का वक्त आ गया है, उसका सवेरा हो गया है।

हार्न की पों पों से मेरा भाव-स्वप्न टूटा। लगा, कार आ चुकी है और सड़क किनारे खड़ी है। कार के पास खड़े मजदूर के कंधे पर हाथ रख मैंने पूछा, 'क्या बात है? तुम लोग यहाँ कैसे? यह जगता क्यों नहीं?'

मुझसे और सवालों से उदासीन-सा वह बोला, 'मान न लिए! और जगह कहाँ मिलती है, साहब!'

'आज मजदूरी पर नहीं जाना है क्या?'

'आना-जाना आज से बंद है साहब। मजदूरों ने हड़ताल की थी। मालिक ने छँटनी कर दी। रोटी छीन ली। पूरे निजामाबाद में नारे लगाए थे साहब। और आज हमारा ही मुर्दाबाद हो गया।' लम्बी साँस खींचता वह बोला।

'पहले कहाँ रहते थे?' मैंने पूछा।

'मालिक ने एक कोठरी दे रखी थी। उसी में हम दोनों। छँटनी के समय कुछ पैसे मिले थे। सो आज रात को कब्रिस्तान का मरघाना बना डाला। रात यह शान से गुजरी। अब दिन निकल आया है। यह कब्रिस्तान है। यहाँ भी मरने के बाद स्थान का हक होता है! जीते जी नहीं!'

एक साथ वे दोनों चल दिए। मैं भी मानसिक द्वंद्व लेकर कार में आ बैठा।—न्याय की माँग! उत्तर अन्याय का। समानता का सिद्धांत। असमानता का व्यवहार।—यह प्रश्नवाचक आज भी मुझे कुरेदता रहता है।

बुढ़ापा और शादी

चेम्बर में बैठा आत्म परीक्षण में लीन कुछ लिखने की धुन में था कि मित्रवर सनसनाते कमरे में दाखिल हुए, ना अदब, ना शिष्टाचार! बोले, 'सुना कुछ!'

पेन को बंद किया। जानता था, मित्रवर अक्सर उल्टी दिलचस्प कहानियाँ लाया करते हैं। सोचा, आज भी कुछ वैसी ही कोई चटनी या चाट होगी। बिना उत्साह दिखाए ही मैंने पूछा

'क्या है?'

'सच! कुछ नहीं जानते! वह बुढ़ापे में शादी करने जा रहे हैं। लड़की भी उनके ऑफिस की ही कोई स्टेनो है। वैसे ही डींग मारते हो कि वह तुम्हारे दोस्त हैं! सब जगह चर्चा है। और हजरत हैं कि पता तक नहीं!'—आश्चर्य में पड़ते मित्रवर बोले,

'जानते ही हो, अर्से से बाहर रहा हूँ! थोड़ी देर पहले ही उनका फोन था, हो सकता है, इसी विषय पर मिलना और बात करना चाहते हों। साथ उनकी ओर ही मैं जा रहा हूँ।'

'अरे यार! जरा असलियत का पता लगाना। हम सब सचाई जानने को उत्सुक और चिंतित हैं। तुम सब जान सकोगे। और दोस्त अगर बात में सचाई नजर आए तो भाई को सम्मति देना। अगर इस रास्ते से हटा सको तो सच, बहुत भला हो।'

'क्या क्या बात है! आज यह उल्टी सलाह कैसी? तुम जैसे मन चलों के लिए कोई एक आकर्षण केन्द्र तो होना चाहिए! देखो भाई। मैं तो रास्ते में रोड़े अटकानेवाला हूँ नहीं, हमें मुल्क को बैरागिया का तो बनाना नहीं है!'—मैंने बात को हल्के फुल्के ढंग से टालते और व्यंग करते हुए कहा।

× × ×

जिस दिन मनोहर की मरने की खबर आई थी, वह मर्द, अनाथ मित्रों में से थे, निजाम विभाग के एक उच्चपदाधिकारी। पति के दफ्तर का शासन कम हो चुका था, उम्र पचास वर्ष, कद नाटा। यहाँ के सब सम्मान करते थे वह मर्द। कमर झुकी, गात कुछ स्थूल पर आँखें तेज।—

लोगों की दृष्टि में, वे यह मित्र, सदाचारी, ईमानदार और सत्य कर्तव्यनिष्ठ थे। मेरी अपनी दृष्टि में, वह मितभाषी, सहृदय और प्रखर बुद्धि थे। दूसरों की उन्नति में एकदम उत्सर्जन। उनके गुणों अवगुणों की चर्चा में सबके आगे। अपनी प्रशंसा के लिए अनन्त उदार!

उनके मुँह से हर वक्त उनकी प्रशंसा सुननी पड़ती थी। मैं उनकी थोथी बातों से ऊब जाता और यह समझता कि मेरा मान-मर्दन हो रहा है!

आप सदाचारी थे, अपनी जिन्दगी में मानसिक व्यभिचार और की भावनाओं में लिपटा हुआ मन दीखता था। सैकड़ों व्यभिचारियों का पता लगा करते और फिर अपने सदाचार की महिमा का बखान मेरे सामने करते—तब मन ही मन खीझ उठता था और आप! पर सामने तो कुछ कहा नहीं जाता थी!—उस समय ऐसा लगता था मानो किसी ने नाक में से रस्सी डाल कर मुझे बाँध के लिए कसा हो। मैं अपनी इस जिन्दगी में, छुट्टी का अवसर उन्हें मानने के लिए तैयार था। पर मनोहर का उत्तर कहाँ!

अच्छी बात। मैंने ठीक से देखा। ईश्वर भक्त में अनन्य विश्वासी! दिमाग का पैसा पीस कर गलने वाला उनके जिस्ट या मशहूर! आप यदि उनसे कहलवाना जानते!—वह क्या थे, क्या नहीं, पर सब जानते थे, किन्तु वे नहीं! आपका सत्य ही असल बात में सदाचारी, ईमानदार और कर्तव्यनिष्ठ होने की कसौटी।

जब पचास की आयु में कुछ अधिक और स्थूल से थे, वह विदा

आम चर्चा का था। पर महाशय उस ओर से एकदम बेखबर थे और अनभिज्ञ।

× × ×

संध्या को महाशय के घर पहुँचा, औपचारिक वार्तालाप में समय गुजर रहा था। मुख्य प्रश्न को न तो वे ही छेड़ रहे थे और न मैं ही, दोनों ही सतर्क थे। टेबिल पर पड़ी पुस्तक, 'स्वास्थ्य दर्पण' को मैंने उठा लिया।

सहसा पूछा, 'ओह! आजकल स्वास्थ्य पर अध्ययन हो रहा है?'

'तन्दुरुस्ती हजार न्यामत! अच्छी किताब है, आप भी पढ़ियेगा।'

किताब के पृष्ठों को पलटते मैंने पूछा, 'बच्चे का स्वास्थ्य कैसा है?'

'बीमार रहता है। कल बुखार एक-सौ तीन था, कोई देखभाल करने वाला नहीं है। मैं ऑफिस रहता हूँ, वह पीछे खिल खिलाया करता है। आप जानते ही हैं नौकर आखिर नौकर ही होते हैं।'

'देख रहा हूँ, मामीजी के जाने से आपका जीवन अस्त-व्यस्त हो गया है, बच्चा भी बे-सहारा रह गया है। स्वास्थ्य भी आप का बिगड़ चला है।' मैंने सहानुभूति प्रकट करते कहा।

'आप ठीक कह रहे हैं। चिंताएँ जरूर हैं, पर स्वास्थ्य पर इसका असर मैं नहीं होने देता। स्वास्थ्य तो ठीक ही है। मैं इस बार निश्चय पर पहुँचना चाहता हूँ। निर्णय कर ही डालना चाहता हूँ इसी कारण आप को भी कष्ट दिया है।'

यह कहते महाशय ने पास पड़े आइने को कुतूहलवश उठा लिया। यह बातें कर रहे थे और साथ ही टक छिप, अपना मुखड़ा आइने में देखते भी जाते थे। मैं उनके आशय को समझ चुका था। वह मुझसे अपने स्वास्थ्य का आश्वासन चाहते थे। प्रश्न लगभग स्पष्ट सामने था। और अधिक स्पष्ट करने का साहस अभी वह बटोर नहीं पा रहे थे। मुझसे शायद कुछ सुझाव चाहते थे। मैं बच रहा था। कहीं मेरी दिलचस्पी

× × ×

मिस्टर जिन महाशय की चर्चा लेकर आए थे, वह मेरे, अनन्य मित्रों में से थे, शिक्षा विभाग के एक उच्च-पदाधिकारी। पति के दृष्टान्त का वे दीन रूप ही गुरु थे, उग्र पावन रूप, कद नाटा। आँखों के बाल सफेद हो चले थे वह मस्त। कमर झुकी, दाँत कुछ बनावटी लग आए हैं।—

लोगों की दृष्टि में, मेरे यह मित्र, सदाचारी, ईमानदार और सदा कर्त्तव्यनिष्ठ थे। मेरी आपकी दृष्टि में, वह मितभाषी, सहृदय और प्रखर बुद्धि थे। दूसरे की उन्नति से एकदम उदासीन। उनके गुणों अवगुणों की चर्चा में सबसे आगे। अपनी प्रशंसा के लिए अत्यन्त व्यग्र।

उनके मुँह से जब तब अपनी प्रशंसा मुझे सुननी पड़ती थी। मैं उनकी थोथी बातों से ऊब जाता और वह समझते कि मेरा ज्ञान-वर्धन हो रहा है।

आप सदाचारी थे, अपनी निगाह में। मानसिक व्यभिचार आप की भावनाओं में छिपाया हुआ साफ़ दीखता था। मैंने व्यभिचारियों को लम्बा लाभ करते जब वह अपने सदाचार की महिमा का बखान मेरे सामने करते—तब मन ही मन खीझ उठती थी और क्रोध। पर सामने तो मुझे चुप रहना पड़ती थी।—उस समय ऐसा लगता था मानो शिवा ने नाटे में से स्वगुण्य उठाकर मुझसे मानने के लिए कहा हो। मैं अपनी इस निर्मलता में, पृथ्वी का अवतार उन्हें मानने के लिए तैयार था। पर महाशय को सन्तोष कहाँ।

अच्छी बात। सब कुछ में क्षमा। गृहस्थ धर्म में अत्यन्त मितव्ययी। पिशाच का ऐसा कौन कर सकनेवाला उनके निकट था महाप्रभु। और आनन्द उपार्जन करनेवाला या अन्यायी।—वह क्या थे, क्या नहीं, यह सब जानते थे, किन्तु कहते न थे। आपको सर्वत्र ही अपने नाम से सदाचारी, ईमानदार और कर्त्तव्यनिष्ठ होने की भ्रान्ति रही।

अब पचपन की आयु में आप जिस ओर बढ़ रहे थे, वह विषय

आम चर्चा था। पर महाशय उस ओर से एकदम बेखबर थे और अनभिज्ञ।

× × ×

सध्या को महाशय के घर पहुँचा, औपचारिक वार्तालाप में समय गुजर रहा था। मुख्य प्रश्न को न तो वे ही छेड़ रहे थे और न मैं ही, दोनों ही सतर्क थे। टेबिल पर पड़ी पुस्तक, 'स्वास्थ्य-दर्पण' का मैंने उठा लिया।

सहसा पूछा, 'ओह! आजकल स्वास्थ्य पर अध्ययन हो रहा है?'

'तन्दुरुस्ती हजार न्यामत! अच्छी किताब है, आप भी पढ़ियेगा।'

किताब के पृष्ठों को पलटते मैंने पूछा, 'बच्चे का स्वास्थ्य कैसा है?'

'बीमार रहता है। कल बुखार एक-सौ तीन था, कोई देखभाल करने वाला नहीं है। मैं ऑफिस रहता हूँ, वह पीछे खिल खिलाया करता है। आप जानते ही हैं नौकर आखिर नौकर ही होते हैं।'

'देख रहा हूँ, मामीजी के जाने से आपका जीवन अस्त-व्यस्त हो गया है, बच्चा भी बे-सहारा रह गया है। स्वास्थ्य भी आप का बिगड़ चला है।' मैंने सहानुभूति प्रकट करते कहा।

'आप ठीक कह रहे हैं। चिंताएँ जरूर हैं, पर स्वास्थ्य पर इसका असर मैं नहीं होने देता। स्वास्थ्य तो ठीक ही है। मैं इस बार निश्चय पर पहुँचना चाहता हूँ। निर्णय कर ही डालना चाहता हूँ। इसी कारण आप को भी कष्ट दिया है।'

यह कहते महाशय ने पास पड़े आइने को कुतूहलवश उठा लिया। वह बातें कर रहे थे और साथ ही टुक टिक, अपना मुखड़ा आइने में देखते भी जाते थे। मैं उनके आशय को समझ चुका था। वह मुझसे अपने स्वास्थ्य का आश्वासन चाहते थे। प्रश्न लगभग स्पष्ट सामने था। और अधिक स्पष्ट करने का साहस अभी वह बटोर नहीं पा रहे थे। मुझसे शायद कुछ सुझाव चाहते थे। मैं बच रहा था। वहां मेरी दिलचस्पी

डर और आशंका पैदा न करें। फिर भी डॉक्टर का मामला अज्ञात और प्रश्न का रूप और मुझसे रहा न गया

'हाँ, स्वास्थ्य तो आपका ठीक है। हम, यहाँ जिस चेहरे पर इतनी है। क्यों नहीं किसी शिक्षित महिला का सहारा भी ... लिए ... लिया जाए।'

'रात भर घूमता हूँ, दौड़ भी लगाता हूँ, स्वास्थ्य मेरा ठीक है। हाँ, चिंता जरूर है। सुराग नहीं मिलती। आखिर नौकर नौकर ही है, फिर इन लोगों पर विश्वास भी करना ठीक नहीं। आप जानते ही हैं गालिब ... सामान की ... चोरी नौकर द्वारा ही की गई थी।' जवाब मिल रहा था।

मुख्य प्रश्न की परिधि तक हम आ पहुँचे थे। पहले भी प्रसंग का प्रश्न उठ रहा था वो यह। मैंने फिर पूछा।

'आपका पता है ... मेरे मामू पसन्द नहीं थे, पर उनकी पत्नी सुन्दरी। मैंने बहुतेरा समझाया, किसी विधवा से विवाह कर लें। पर वह न माने, और नतीजा उम्र ... है। स्वास्थ्य हिल पर हिल गिरता जा रहा है, खटिया पर आ पड़े हैं। कोई सम्हालने वाला नहीं है। समाज ... और बचपन में जिन्दगी गुजारी है—और आज है बरबाद!' इतना मैंने ... कहा।

'हाय हाय! यह हाल है! कोई सेवा नहीं करता?' आश्चर्य प्रकट करते उन्होंने हमदर्दी जाहिर की।

'और सुनिए और ... डॉ० ... थे, वे मामू के साथ हैं। अरे हाँ! आप तो उन्हें जानते हैं! पत्नी सुन्दर ... की उम्र में। आदमी समझदार हैं। भविष्य का ... जिन्दगी ... आए—। जैसा भी था ... था, बदनाम और दुर्गति। किन्तु आज आप ... ही रहे हैं, जिस तन मन से ... उनकी सेवा कर रहा है। ... तो ... यह नहीं कि ... रहें।'

बेचारी कितनी सेवा करती है! आश्चर्य है! ...

औरत ने अपनी जिंदगी में क्या क्या नहीं किया ! कभी-कभी खराब औरतें भी अंत में अच्छी निकल आती हैं ।

आप ठीक कहते हैं, यह बुढ़ापे की अवस्था बहुत खराब है ! जब तक कमाते रहिए, बेटे बेटी, पोते पोती, सगे-सम्बन्धी, सब आपके चारों ओर मँडराते रहेंगे । कमाई बन्द तो कौन आपकी ओर देखता है ! बेटा भी है, उसकी पत्नी भी है, पर मेरे स्वास्थ्य की किसे चिंता है ! दोनों अपने-अपने में मस्त हैं ! जैसा रूखा सूखा मिलता है, खा लेता हूँ तुम्हारी भाभी जब थीं, मैं बेफिकर था ! आप अपने हैं, घर के हैं, इससे इतना सब कहा है, वरना किसी और के आगे तो कष्ट रखा नहीं जाता !" ठंडी साँस खींचते वह उदास हो आए और मौन कुर्सी पर पसर गए ।

प्रश्न को रखने में अब विशेष रिज़र्वेशन नहीं रहा था । मौन भंग करते, मैंने कहा

'बहुत पहले से, आपसे मिलना चाहता था । सकोचवश नहीं आ पाया । मित्रता अगर सच्ची है तो बात भी साफ साफ होनी चाहिए । क्यों ठीक है न ?"

'जरूर जरूर । सकोच किस बात का । आप मेरे भाई से ज्यादा हैं ! मेरा बड़ा विश्वास है आप पर । आप निःसकोच कहें ।' आग्रह पूर्वक वह बोले ।

'आप शायद जानते हों, मेरे बड़े भाई साहब की पत्नी का देहान्त दो वर्ष पूर्व ही हुआ है । भाई साहब सत्तावन के हैं, इस समय । कोई सतति नहीं ! वे जीवन भर कमाते रहे हैं । खर्चे का प्रश्न नहीं । पास अच्छी पूँजी है । सयुक्त परिवार है और माँ बाप हमारे जिंदा हैं ! मेरा स्वार्थ, चाहता था कि मेरा लड़का इतनी सपति का अधिकारी बने । भाई साहब का भी उस पर अटूट स्नेह था !—

'भाभी की मृत्यु के बाद मैंने विवाह का प्रस्ताव रखा । जानता था कि अब तक घाव हरे हैं—भगवान और भक्ति, वैराग्य और विरक्ति,

मनोहर स्वास्थ्य और नीरसापन कम। यह मनचलों का मानसशास्त्र है। मैं पचास में भी फिट बना रहता हूँ और आप हैं कि पचास में ही अपने मनसूबों की चिता सजाए बैठे हैं। यह त्यागिए। बुराई को सुधारने का अब भी मौका है, सुधार लो।'

यह कहते, मैंने बात ही मुख्य प्रश्न को उनके सामने ला पटका। लगा, यहाँ तक आते आते उनका गुस्सा भी दूर हो चुका था।

चेहरे पर सरलता में भीगी मुस्कराहट बिखेरते हुए बोले, 'इसी समस्या के सुलझाने के लिए ही मैंने आपको याद किया है, आचार्यजी! अब यह वीरानी जिंदगी मुझसे बर्दाश्त नहीं होती। आप कुछ सुझाव दीजिए न!'

'आप जैसे प्रतिष्ठित पुरुष के लिए विवाह करना ही श्रेष्ठ रहेगा। वैसे मेरे पास दो प्रस्ताव हैं। आप चाहें तो उन पर भी गौर कर लें।'

'हाँ-हाँ! बताइए, मैंने भी घर बसाने का निश्चय कर लिया है।'

मैंने संक्षिप्त कहानी कही। बोला, 'कॉलेज की प्राध्यापिका है, पी० एच० डी० है, उम्र पैंतीस वर्ष है, जाति से वैश्य है। दूसरी एक नर्स है, अच्छा वेतन, उम्र यही पचीस के आसपास। जाति से ब्राह्मण। दोनों ही आपके प्रस्ताव को मंजूर कर सकती हैं। आप जैसा व्यक्ति उन्हें और कहाँ मिल सकता है।'

'दोनों का चेहरा कैसा है? मगर फीचर्स कैसे हैं? खानदान कैसा है!'

मैं कुछ उलझन में पड़ा, मेरा यह नाटक तो उनके मन से समाज महिला का बाहर निकालने के लिए था। मैंने कहा, 'प्राध्यापिका का खानदान अच्छा है, फीचर्स अच्छे नहीं, आपसे उसका मैच नहीं। नर्स सुन्दर है, खानदान अच्छा नहीं।' कहकर मैंने अपना पिंड छुड़ाना चाहा।

'मैं ही ऐसा कौन-सा सुन्दर हूँ। मुझे तो बहुरूपी लगता है!'

कहकर महाशय ने जाने अनजाने में पास रखे आईने को उठा

लिया और लगे अपना चेहरा देखने। महाशय के चेहरे पर सब झुर्रियाँ हैं। कमर झुकी है, दुबल शरीर है—मतलब कि यह सब अलामतें, अपने आपको आइने में, बूढ़ा करार देने के लिए पर्याप्त हैं। पर जिस बुढ़ापे को भविष्य की सरस झाँकी मिल गई हो, उसका जवानी के भ्रम में बौराये रहना तो सहज स्वाभाविक है।

मैंने टोह लेते पूछा, 'आपके पास भी तो कुछ प्रस्ताव होंगे?'

बोले, 'हाँ, है। लड़की का एक भाई इलेक्ट्रिसिटी बोर्ड का चेयरमैन है। तीन हजार पाता है और भाई भी ऊँची तनख्वाहों पर हैं। खत्री हैं। मैं भी वैश्य हूँ। विशेष अन्तर नहीं। आज के जमाने में जात पाँत कौन पूछता है? वह एम० ए० है, प्राध्यापिका है, शिमला में। चालीस की है, मैं भी तो पचास का हूँ। भाइयों का अधिक आग्रह है। वैसे तो अपनी सम्मति दे चुका हूँ, फिर भी जैसी आप राय दें, करूँ।'

मैंने मन ही मन सोचा, बुड्ढे का मन बढ़ गया है। रास्ता उल्टा पकड़ा है, रास्ता छूट सकता है, बुढ़ापा छूटनेवाला नहीं। फटे जूते और कपड़े पहने, जायज और नाजायज तरीकों से महाशय ने जो संग्रह किया है, लगा, जैसे वह बाँध अब टूटना ही चाहता है।

शिमला! सरसता और सौन्दर्य का केन्द्र है! वहाँ की प्राध्यापिका। उसका ऐसे व्यक्ति से विवाह, जिसने साधन सम्पन्न होते हुए भी, जीवन को नहीं भोगा। जब ये लॉकर खुलेंगे, चैक बुक के पन्ने फटेंगे, तब वधु की क्या हृदय-गति होगी? उम्र और वृत्ति में अनमेल। आकांक्षा और व्यवहार में भिन्नता—इस पर शांति की चाह! कितनी बड़ी प्रवंचना है प्रभु।

तमन्नाओं और आकांक्षाओं की पूर्ति का प्रश्न?—एक दिन और एक रात का नहीं, जीवन भर का। भूखी सिंहनी की तरह, किसी सघन वन के छायादार वृक्ष की शीतल छाँह में, वन उपवन की सुगंध में बौराए रहने की उसकी चाह और उत्कंठा की पूर्ति का शमन इस जर्जर काय महाशय से क्या हो सकेगा? अतृप्ति की अनुभूति उसे

तब महाराज की सरलता का क्या हाल होगा ?

कल्पना में रहा। देखा, प्रतिदिन पश्चात्ताप कर रहे हैं। घर उजड़ रहा है, ड्राइंग रूम मित्रों का अड्डा बना हुआ है, बातें हो रही हैं। घर क्या है आमोद प्रमोद का एक नमूना। बैठक रूम पर किसी दूसरे का अधिकार! हृदय पर किसी दूसरे का साम्राज्य!

घर की दशा पर गौर न किए! मैं सहसा ओर चला।

महाराज ध्यान में डूबे थे, मुझसे बोले, 'आप मौन क्यों हैं। कुछ कहिए न—और क्या कहना है?'

मुँह से निकल पड़ा, 'आपकी जन्मपत्री देख रहा था।'

'क्या! जन्मपत्री! पर क्या?'

'यदि विवाह में आपने देरी और की तो समाज नीच में आ कूदेगा।'

'आप ठीक कहते हैं। लोग अभी से कहने लगे हैं। चारों ओर मेरा चर्चा है।'

'इसी में कहता हूँ जल्द विवाह कर डालिए। हवा का रुख बदल जायगा। चारों ओर से आपको मुबारकबाद अलग मिलेगी।'

सहसा मैं उस ओर जाना चाहा।

बोले, 'ठहरिए। मेरा प्रस्ताव आपसे कहना है। दिल्ली चलना है बारात में।'

'अच्छा अच्छा।' यह नैम-सेम मन मनमत भी। उनकी बारात में मैं उनका जनाना लग रहा था।

यह अभिशाप !

'मुख्य मंत्री ने इस्तीफा दे दिया। मुख्य मंत्री ने ...!' अखबार बेचनेवाला चिल्लाता आगे चल गया।

मैं फुटपाथ पर खड़ा था। दिमाग में राजनीति का तूफान और एक हलचल। अखबार लेने की सोचूँ कि हॉकर दूर जा चुका था। मैं प्रदेश की राजनीति को ले तरह तरह की अटकलें लगाता आगे बढ़ा। चौराहे पर पाया हॉकरों का झुंड। सब अपने अपने अखबार बेचने की होड़ में। पुरजोर गले की जुल्दी से वे चीख रहे थे।

'मुख्य मंत्री ने इस्तीफा दे दिया। मुख्य मंत्री ने इस्तीफा दे दिया।'

जेब से दस का सिक्का निकाला। देखते देखते, नन्हे बच्चों के कई मासूम हाथ मेरी ओर अखबार लिए आगे बढ़े। दस का सिक्का एक था। इसरार था बारह हाथों का। उनके निश्छल आग्रह से मैं झुका। एक एक प्रति सब ही से खरीदी। वह जाने लगे।

मैंने कहा, 'रुको! अभी और अखबार मुझे खरीदने हैं।' सब ठहर गए।

एक से पूछा, 'तुम पढ़ते हो?'

'हाँ!'

'किस कक्षा में?'

'पाँचवीं में।'

'तुम्हारे बाप है?'

'जी नहीं।'

'माँ?'

'है, पर अंधी है।'

'रोज कितना कमा लेते हो?'

'सात आने।'

मैं रह गया सदमे में। प्रश्नोत्तर मँहगे पड़े। मैं छुटकारा चाहता था। इतने ही में एक दूसरा बालक 'साप्ताहिक हिन्दुस्तान' आगे बढ़ाता आया

'साहब खरीदिए, सिर्फ पचास पैसे दाम है।'

नंगे पाँव। शरीर पर चिथड़े लटक रहे थे। मैं इन्कार न कर सका। पूछा

'पढ़ते हो?'

'हाँ साहब। छठी में।'

'बाप है?'

'नहीं साहब।'

'कब से नहीं?'

'साहब ठीक नहीं पता। सुना है छः महीने का था तभी चल बसे।'

पैरों से जमीन खिसकी। बालक राष्ट्र का, और असहाय! देश की यह धरोहर और संरक्षण नदारद!

पूछा, 'कुछ और काम करते हो?'

'पढ़ता हूँ।' चेहरे से उसने मुझको उत्तर पकड़ा दिया।

बालक का जवाब देश की वर्तमान राजनीति पर एक गहरा प्रहार था। मानो अनजाने ही यथार्थ कह गया था। सच कड़वा ही होता है। बात मुझे भी कड़वी लगी थी। आत्मा को जैसे किसी ने झकझोर दिया था। मैं अवसाद से भर गया। अपने को जैसे-तैसे सम्भालते उन सबसे मैंने पूछा

'तुम सब पढ़ोगे?'

'हाँ-हाँ-हाँ।' सबका एक ही जवाब था।

'पढ़कर क्या करोगे?'

कुछ चुप रहे। कुछ बोले।

एक बोला, 'अपना राज बनाऊँगा। अपना राज।'

'अपना राज बनाओगे?' गंभीरता से मैंने प्रश्न किया, 'पर किसका राज्य?'

'बिना घरवालों का राज।' यह कहता वह बाल समुदाय, हँसी का कहकहा मारता बिखर गया। और फिर वही आवाज, 'मुख्य मंत्री का इस्तीफा। मुख्य मंत्री का"

बालक बिखरे। चिंतन का कच्चा धागा वह मेरे लिए छोड़ गए। मैं उनके भविष्य को, उनकी कल्पनाओं के अनुरूप ही उस धागे को ले बुनता रहा। समाज में पनप रही असमानता का बीभत्स चित्रण आँखों के आगे चित्रित हो आया। ये बालक हैं राष्ट्र के। और वह भी राष्ट्र के ही हैं जो वैभव के अरमानों में पलते हैं। इधर हैं जो अखबार बेच, बूट पालिश कर, अपना पेट पालते हैं। उधर हैं वह जो 'ममी' और 'पापा' के सुरभित स्नेह में झूलते हैं। इधर हैं ये जिन्हें भोजन नसीब नहीं होता। उधर वे हैं जो खाने की मनुहार को ठुकराते हैं। इनका और उनका निवास स्थल एक है और यह है हमारा यह राष्ट्र। राष्ट्र किसका? उस पर अधिकार किसका?

प्रश्न की गुत्थी पर विचार में ही था कि अनेक कंठों से निकलता वेदना का स्वर सुनाई दिया।

'अरे। अरे। बेचारा कुचल गया।'

मैं दौड़ पहुँचा। अरे यह तो वही मासूम था जिससे मैंने अभी पूछ ताछ की थी।

'पाँचवीं कक्षा। माँ है, बाप नहीं। घर है, खुराक नहीं।'

बालक का शरीर ट्रक के व्हील से बुरी तरह कुचला जा चुका था। हाथ की मुट्ठी बँधी थी और उसमें जकड़ा था अखबार। सुर्खी थी 'खुराक चाहिए, बातें नहीं।'

चारों ओर जन-समूह। पुलिस। हमदर्दी और वेदना।—पर सब

मौत के बाद।

दृश्य को न देख सका। लौट आया। एक बैंगना और कफन लिए।—'बुखार चाहिए। नहीं नहीं।' यह न देंगे उनके बालक की आवाज नहीं है। यह आवाज है एक की। यह असमानता राष्ट्र का अभिशाप है। जिसमें छिपा है कि आज इस दरिद्रता के अंगारों पर अन्दर ही अन्दर शान्ति पालित हो रही है। मैं भी कभी गरीब था। एक झोपड़ी का लड़का। पर आज। मत पूछो। मत पूछो—बस!

× × ×

उसी दिन सन्ध्या को एक नगर में मुझे जाना पड़ा था। स्वागत मान था। नाना मिष्टान्न थे, फल थे, फूल थे। वहाँ की भीड़ थी और था अपूर्व स्वागत! आदर था और खुशामद!

धान्य और आराम, खुशामद और हमदर्दी, सब और अपूर्व सब जैसे मेरे कान में गुन गुना रहे थे।—

'तू राष्ट्र का मन्दिर ढा रहा है। वह मन्दिर जो आग उगलेगा। और आग, जिसमें भस्म होंगे तुझ जैसे अनेकों!'

राजनीति और दोस्ती

राजनीति!

क्या कहूँ इसे!—हठीली, मानिनी, रूठी, मोहमयी! नहीं, सबसे उपयुक्त नाम इसके लिए मन में आता है—छलनामयी।

इसके घेरे में आनेवाले इस विशेषता से भला कैसे अछूते रह सकते हैं!—भावनाओं से ओत प्रोत, लेकिन रिक्त! यह बात नहीं कि ये लोग बुद्धि चतुराई से रहित होते हैं। बुद्धि की प्रखरता उनमें आप पायेंगे। राजनीति के कुछ मेरे दोस्त बड़े अच्छे विचारक और लेखक भी हैं। पर लगता है जैसे जिन्दगी के मर्म को वे खो बैठे हैं।

इनकी भाव भंगिमाएँ रङ्ग बदलती रहती हैं। क्षण में क्रोध, क्षण में मुस्कराहट! क्षण में प्रीति तो क्षण में द्वेष! अभी उदासी है, तो दूसरे ही क्षण चेहरे पर गुलाबी रौनक!—दिन में कितने चोले ये बदलते हैं, कितने मुखौटे ये लगाते हैं, कितनी बातों की चाशनी इनकी जिह्वा से झरती है, कितनी तरह के आँसू इनकी आँखों में तैरते हैं—इनका हिसाब बेहिसाब है!

चेहरे की रेखाओं को विभिन्न आकृतियाँ देना, वाणी में उतार चढ़ाव लाना, भावनाओं से खिलवाड़ करना, वचन देना और तोड़ना—इनमें भला इनकी क्षमता और कौन कर सकता है! दोनों हाथों से गेंद उछालना इन्हें बखूबी आता है। समय पड़ने पर अपने ओजपूर्ण भाषण से ये जनता को मुग्ध भी करते हैं!—पूरे बाजीगर!

देशकाल के अनुरूप अपने को ढालने में इन लोगों को गजब का कमाल हासिल है! वक्त पड़े तो सूट बूट! ऊँची सभा हो तो चूड़ीदार पजामा, अचकन और टेढ़ी टोपी! कहीं मुशायरा हो तो चुनटदार-जाली का कुर्ता और जाकट!

गद्य के एक दफ्तर में नई कविता की वाह वाह ! तो दूसरे दफ्तर में पुरानी कविता की भूरि भूरि प्रशंसा ! कभी अंग्रेज़ी भाषा का अनादर प्रयोग ! मतलब यह कि इनके व्यक्तित्व का हाल अपने में अच्छी ख़ासी पहेली लिए होता है।

× × ×

बात अभी कुछ दिन पहले की ही है। मेरे साथ एक दिन ये ही अप्रकाशित कुछ मेरी रचना पढ़ रहे थे। मैं हतबुद्धि हो जाता था। कुछ दिनों पहले लिखा था। चाय और नाश्ते की गन्ध। जर्मन जैसे दूर हल्की जा रही थी। मित्र मण्डली में समाचार का पन्ना देख रहे लगी।

मान और उन्मीलन, म्लान और अस्त व्यस्त मन में लगा था। सहसा झटके एक मित्र आए, और आतुरता से अपनी बाहों में इन्हें जकड़ लिया। फिर लिपटकर आँखों में लिपट गए। चूम चाम ऐसा मुँह बनाते, चेहरे पर त्योरी-चढ़ाव लगाते और थपथपाते, नमें लगी कर आँखें चमकाते और होठों से स्वागत गाते

'वाह वाह ! यह क्या हो गया ? आप पर यह जुल्म कैसा !' इनकी मेज़ के ऊपर पड़ा पन्ना देखकर, वह पिचकियाँ सामने की कुर्सी में अपने को लिपटाए रहे। मैंने उन्हें आगे स्वागत किया। ये कुर्सी लगे से उसका आगे सरक हुए। लगा, आँखें एक दम भरी थीं !

इस मानसिक तनाव और दर्द की स्थिति में भी इनके प्रश्नों का अर्थ सूक्ष्म दिखाई नहीं था। आँखों का दम देखने से जो फाड़ रहे थे, मानो नयन आँसुओं के गहन का सर्वोच्च प्रकाश कर रहे हों।

लेकिन यह क्या ? मित्र की भाव मुद्रा में एकाएक चमत्कार सा कैसा ? मालूम कि हुआ, सामने से मंत्री महोदय तशरीफ़ ला रहे हैं। सब ही मेरे समझ में आ गया। प्रत्युत्पन्नमति लगना हो रहा होगा, वह मित्र एक क्षण में फिर से सुस्त अलग हो गए। मानो किसी सागर के तल में से छुटकारा पाया हो। लपक कर तब मन्त्रीजी

वे पास पहुँचे, जुहार कर दाँत निकाले !

काश, पास कैमरा होता ! अनुनय विनय की विचित्र भाव भगिमाएँ ! एक से एक नम्बर ! मैं दुखी, अपनी ही असहनीय वेदना से पीडित ! जड बना, ठिठका, भौचक्का सा, उनकी इन कलाबाजियों को देखता रह गया। हाड मॉस की इस उधार वेदना और स्वार्थी विनय से मैं अवसन्न हो आया।

× × ×

कठोर कर्तव्य सामने थे। उन्हीं के इशारों पर, उसी सन्ध्या, थके पैरों, मन्त्रीजी के बँगले पर मैं जा पहुँचा था। मेरी व्यथा, कर्तव्य की कसौटी पर मूक रुदन कर रही थी। मशीन की भाँति हर कार्य सम्पन्न हो रहा था। काश ! कोई होता जो कुछ क्षणों के लिए इस आडम्बरी राजनीति से मुझे बाहर खींच लाता और मैं चीख रो पाता ! पर किसे इतनी फुरसत थी और किसे थी सच्ची सहानुभूति ! जानता था यह सब व्यर्थ का मेरा मानसिक प्रलाप है !

देखता क्या हूँ, सुबह मिले मित्रवर वहाँ भी मौजूद हैं। मुझे देखते ही उनकी आकृति दया म डूब आई। मुझे लगा, जैसे उनकी दृष्टि में मैं इस समय संसार का सबसे अभागा, अकिंचन प्राणी हूँ। वह मेरी ओर लालायित ऐसे लपके, मानों कोई प्रिय वस्तु खो जाने के बाद फिर से उन्हें मिली हो !

फिर वही दौर। सुबह के नाटक की पुनरावृत्ति ! क्या गजब की ताकत होती है इन लोगों म। थोडी देर के लिए ही सही, यह अच्छे खासे इन्सान को हिप्नोटाइज्ड कर देते हैं। उसकी हमदर्दी लेने और अपनी लुटाने म खोल्इ आने खरे उतरते हैं। एक बार तो लगा कि जैसे मेरी घनीभूत पीडा का बाँध अब टूटा और बहा। पर क्षण बाद ही मैं सँभाल आया। रघुवर चाहते थे मैं उनकी सुर्खी लाल आँखें पोंछूँ। सान्त्वना दूँ और लूँ। अपने गम का असली भागीदार मान, मित्र समुदाय का उन्हें सिरमौर घोषित करूँ वरूँ।

म [illegible] भु [illegible] और मान, [illegible] समय गया [illegible] । [illegible],
[illegible] क्या है [illegible] क्या ? मानवता की [illegible] में निराश [illegible]
में [illegible] प्रकाशित करूँ ?

[illegible] दूसरा मन और दूसरे में [illegible] में [illegible]
घुला [illegible] । [illegible] में ही मिलन का [illegible] सभी जान [illegible] ।
[illegible] सि । । [illegible] और [illegible] का आवरण [illegible] अपने ऊपर
[illegible] था, [illegible] में [illegible], [illegible] सभा महात्म्य
[illegible] ! [illegible] सभी [illegible] की प्रगाढ़ता का [illegible]
में [illegible] । [illegible] की गलती [illegible], जो [illegible] लिये थे,
वही [illegible] प्रगाढ़ता [illegible] में डूबा हुआ था !

म [illegible] । [illegible] विभाग का [illegible] में [illegible] ।
[illegible] में चौंका । [illegible], सभी [illegible] के साथ [illegible] के
[illegible] में [illegible] थे । [illegible] की [illegible] और
[illegible] । [illegible]
नहीं आता था । मैं [illegible] और [illegible] का [illegible]
न कर सका और [illegible] आया ।

/ / ४

सिनेमा के घर में अंधकार है । जिस पर [illegible] का [illegible]
[illegible], अपनी [illegible] की [illegible] पर, आधी के [illegible] की [illegible] पर
[illegible] मिल जाते हैं, [illegible] है । राजनीति के
[illegible] पर [illegible] के अनुरूप स्थान का अभाव है, जिस पर अपने प्रति [illegible]
कानूनी [illegible], [illegible] की भूमि पर प्रकाशित कर
[illegible] है । यों [illegible], अभावों की पूर्ति [illegible] आसानी से कर
[illegible] है ।

[illegible] प्रेम माहात्म्य का प्रश्न है, [illegible] भी [illegible] का हृदय [illegible]
से नहीं चूकता । कितनी ही बार [illegible], नायकों का [illegible] कर
चुके हैं । प्रेम का [illegible] होती [illegible] है कि [illegible]

गश खाकर बेहोश होते भी देखे गए हैं।

राजनीति में भी चतुर विश्वामित्र और 'दुर्वासा' का चरित्र चित्रण करने में सफल रहे हैं। जनता के मध्य बहुरंगी भाषण देने में आप माहिर हैं। भाषण होता है, प्रभाव शून्य ! पर भाषा की क्लिष्टता से भर पूर। कई संस्थाओं के आप व्यवस्थापक हैं, जिनकी नींवों के पत्थर आपके खून पसीने के प्लास्टर से चिने गए हैं। आपकी कृपादृष्टि इन संस्थाओं से हटी नहीं कि वे धूल धूसरित हुए नहीं।—यह है हमारे मित्रवर की मान्यताएँ !

भाषण का आपको चस्का है। मनुहार से पता पौता मिला तो पचास का समूह ही पाँच हजार का मजमा समझ, दिलो जिगर सब निसार कर स्वयं देंगे। अगर ऐसा नहीं हुआ तो विशाल जन-समूह ने नीच कमी की दुर्गति करने और अपने साथ हुए दुर्व्यवहार की चुनौती देने में भी हजरत नहीं चूकेंगे।

मित्रों की व्यथा आपके मन को आलोडित करती रहती है। दर्द हाथों में लिए आप फिरते हैं। सतत परिवार के आगे रोना, 'जङ्गल में रोना' है, आपके निकट ! व्यथा का घर में प्रदर्शन ! घूरे पर लाल बिखेरना है !—अखबार के सम्पादक और फोटोग्राफर्स अगर मौजूद हैं तब की बात आप छोड़िए। तब हमारे यह मित्रवर रो रो अपना बुरा हाल कर लेंगे। रोना कलपना हमारे मित्र को आता है, एकांत में नहीं, एलानिया आयोजित शोक-सभाओं में !

मित्रवर के बड़े भाई की मृत्यु ! भाई ख्याति प्राप्त सामाजिक कार्यकर्ता। घर में चुप्पी। मंच पर आप ऐसे बिलख बिलख रोए कि कुछ न पूछिये। *शोक सभाओं में हजरत बड़ी शांति से, अपने नाम की* पुकार की प्रतीक्षा में रहते हैं। मेरी समझ में तो मित्रवर अपने पिता की मृत्यु पर भी शायद ही स्वाभाविक रुदन से विह्वल हुए होंगे।

× × ×

यह मेरे हमदर्द मित्र ! अधेड़ावस्था पार कर अब बुजुर्गी की ओर

बढ़ गए हैं। फिर भी मधुरता का अभाव न है। उनकी स्थिति का [illegible], वृद्धावस्था का [illegible] अनुमान लगाया जा सकता है—मित्र में [illegible] ज्यादा [illegible] मित्र होंगे और परिवार में भी [illegible] वे ही [illegible]। [illegible] शायद दूसरा कोई न होगा।

आँख का प्रकाश जब [illegible] होगा, [illegible] की [illegible] होगी, [illegible] का मधुर्य [illegible] होगा, तब अवश्य, अपनी [illegible] पर वे [illegible] होंगे। और तो [illegible] तब उनमें दिख जाएगा। वह [illegible], [illegible] हो। उनकी कुशलक्षेम पूछ [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] का पूरा करेंगे।

भगवान् करे, [illegible] में [illegible] [illegible] [illegible] का [illegible], [illegible] नहीं!—वे तो [illegible] मरें, [illegible] के माँ बाप मरें, [illegible] मरें, [illegible] मरें। पर [illegible] न मरें [illegible] [illegible] मरें!

[illegible] में [illegible] न [illegible] आएँ! पर यह तो निर्दय है! ऐसा होगा तब क्या गति होगी [illegible] [illegible] मिश्रजी की?—इसकी कल्पना तक [illegible] करती है!—वह समय होगा उनके [illegible] का। [illegible] गतिविधि [illegible] होगा! प्रतिदिन [illegible] का प्रश्न होगी! [illegible] [illegible] [illegible] स्वार्थी हमलोग, तब कोसों दूर होंगे।

फिर भी [illegible] [illegible] आती है। [illegible] [illegible] आया। आया [illegible] [illegible], पर [illegible] [illegible]! [illegible] हो तब, जब दूसरे का [illegible] अपना [illegible] हो, [illegible] का [illegible] [illegible] [illegible] हो!—पर मिश्रजी [illegible] [illegible] [illegible] निर्लिप्त! आपने कभी किसी और को अपनी और का [illegible] नहीं समझा।

× × ×

एक बार मिश्रजी को अनायास ही [illegible] [illegible] में किसी एक कुटिया पर दया आ गई। [illegible] [illegible] में [illegible] [illegible] मिले। कुछ महीना बाद हो गाँव में एक [illegible] का भी [illegible], [illegible] [illegible] जमाई बना लिया।

वह [illegible] दम्पति! घर की शोभा! निस्सन्देह [illegible] [illegible] [illegible]

कृपापात्रों से भी अधिक उनकी देखरेख, मान-सम्मान, स्नेह और मोहब्बत।

घर के आँगन में जब कुकुर जोड़े का प्रेमालाप होता, तब मित्रवर को उनमें शकुन्तला और दुष्यन्त का मिलन दीखता। उनके रोमांस की क्रीड़ा और किल्लोलों में वह आत्मविभोर हो उठते।

कुतिया, अपने प्रेमी पति से उदासीन हो, जब कभी घर से भाग निकलती थी। तीन चार दिन बाद लहूलुहान हो वह लौट आती। मित्र तब उसे ताड़ना देते और प्रशंसा करते। मिलने आनेवालों के समक्ष वह सविस्तार कुतिया का उल्लेख करते। नौजवानों को लक्ष्य कर वह कहते कि उनकी संकुचित विचार धारा से तो उनकी कुतिया कहीं अधिक प्रगतिवादी है। कुतिया के चरित्र से उनके दर्शनशास्त्र को और उनकी मान्यताओं को बल मिलता था।

आखिर फरार हुई कुतिया कुशल क्षेम से तो घर लौटती नहीं थी। अपने घाव लिए वह लौटती। उसकी मरहम पट्टी की जाती थी और साथ ही उसके साहस की सराहना। महिलाओं के समक्ष भी मित्रवर अपनी इस कुतिया के साहस, शौर्य एवं स्वच्छन्दता का उदाहरण प्रस्तुत करने में चूक नहीं करते थे—समाज में कितनी ऐसी महिलाएँ होंगी जो इतना मनस्व कर तनहा गुण्डों के गिरोह से छुटकारा पा लौट सकें? गरज कि मित्रवर के घर का कोना कोना इस कुक्कर दम्पति से आलोकित रहता था।

कुतिया का देहावसान हुआ। मेरे पास दास्तान पहुँचती रही। गद्यकाव्य और कविताओं की रचनाएँ हुईं। मित्रवर आफिस न जा सके। अनमने से घर के कोने में बैठे रह गए। खबर फैली। अधीनस्थ कर्मचारी और खुशामदियों की मातमपुरसी के लिए भीड़ लगी।

× × ×

मेरी माँ की मौत। दाहकर्म कर मैं लौटा था। घर पर संवेदना प्रकट करने आए आगन्तुकों से मैं निबट रहा था। मित्रवर का फोन आया।

'सुना, आपने ! लारी (कुतिया) मर गई ! गजब हो गया आचार्यजी !'

'शायद इसी कारण माँ के श्राद्धकर्म में आप सम्मिलित न हो सके !' मैंने कहा

'हाँ ! आचार्यजी ! घर सूना हो गया है। शेरू (कुत्ता) अस्त व्यस्त है। घर के कोने-कोने को ढूँढ रहा है ! उसकी पीड़ा और वेदना देखी नहीं जाती !'

'भाई जान ! मेरी भी संवेदना स्वीकार। माँ ना सही, होती तो मैं स्वयं आता !'

× × ×

यह है मेरे हमदम ! मेरे मित्र !—अनेकों में से एक

———

भूख की ज्वाला

अकाल! मरुस्थल के इस भाग में हर तीसरे साल, वर्षा के अभाव में, अकाल की छाया मँडराती रहती है। अब के तो सारा प्रांत ही अकाल ग्रस्त था। गाँव के गाँव खाली हो रहे थे, लोग अपने-अपने मवेशियों को ले पड़ोसी प्रांतों की ओर मुड़ पड़े थे। जिनके पास मवेशी नहीं थे, वह रोजी-रोटी की खोज में शहरों की ओर चल पड़े।—लादूराम और हुक्माराम ऐसे ही संतप्तों में से थे।

आश्रयहीनों का शहरों में कोई स्थान है तो गंदी बस्तियाँ। घास फूस, टाट और टिन के जोड़-तोड़ से बने झोंपड़े! पास ही शहर की गंदगी का बहाव लिया जाता, गंदा नाला! नगर के गटरों की त्रिवेणी! वर्षों से आबाद यह बस्तियाँ! सैकड़ों को आसरा देनेवाली यह बस्तियाँ! पर नगरपालिका के रजिस्टरों में इनका नामोनिशाँ नहीं।—

अनधिकृत जमीन पर अनधिकृत रूप से झुग्गी बना कर रहनेवाले, कानून की दृष्टि में मनुष्य नहीं! प्रशासन की दृष्टि में उसका कोई अस्तित्व नहीं!—हर वर्ष अनेकों नए झोंपड़े यहाँ बनते और उजड़ते। पर, बस्ती का स्वरूप जो सदियों से चलता आया है वही रहता—न सुधरता और न बिगड़ता ही। तूफानों और झंझावतों से अनेकों बार यह बस्तियाँ उजड़ी हैं। किसी की सहानुभूति नहीं! प्रशासन पर सहायता का कोई दायित्व नहीं!—अनेकों बार बुलडोजरों के क्रूर आक्रमण से यह बस्तियाँ उजड़ी हैं लेकिन फिर देखते ही देखते यह आबाद हो आई हैं।

ऐसी ही एक बस्ती में हुक्माराम और लादूराम के परिवारों ने शरण ली। पहले दिन बस्ती के निवासियों में कुछ हड़बड़ाहट हुई, दूसरे दिन कानाफूसी और कुछ आपत्ति, तीसरे दिन थोड़ी जान-पहचान और

सफर। इस प्रकार दोनों भाइयों ने आस-पास ही, थोड़ा सिमट कर डेरा डाला और अपना अपना झुग्गा तैयार किया।

बस्ती का अधिकांश जनसंख्या दिन में रोजी रोटी की तलाश में, शहर के भिन्न भिन्न कोने में बिखर जाती, पर एक बार यहाँ लग जाते, गलियों में सन बच्चों की चहचहाहट सुन पड़ती तो दूसरी ओर गालियाँ और वृद्ध महिलाओं का चीत्कार!—दिन में यहाँ का यही जीवन है, रात्रि अवश्य यहाँ की प्राणवान होती है। ढोलक पर उन्माद भरे गीत और भजन! राशन की मस्ती में कहाँ नाच गाँव का यहीं नाच!

× × ×

दुखाराम और मल्लूराम के परिवार को आज, इस बस्ती में बहुत पक्के दिन होने आए थे। दोनों को रुपये की मिल में मजदूरी मिल गई थी, और मजदूरों से कुछ जान-पहचान भी बनी थी, मेल-जोल और एक दूसरे के यहाँ आना-जाना भी शुरू हो गया था। जीवन कुछ व्यवस्थित हो चल निकला था।

रोटी तो मिली, पर रोटी इन दोनों भाइयों का पेट भी न भर पा सकी, बच्चे भी पेट भरीब कर, बस तैसे यह अब तक निबाह करते रहे थे। मँहगाई और उस पर ऊपर से इनकी कमर तोड़ दी थी। एक सहारा था तो वह था राशन कार्ड की आस! दिक्कतों के बाद राशन कार्ड बना, दोनों भाइयों के परिवार के लिए भी राशन कार्ड!—अब इस एक-एक का राशन! थोड़ा-थोड़ा! सहारा भी बेसहारा हुआ!

अनाज का अभाव! चारों ओर अकाल! उस पर तो अनाज था वह दबा लिया मुनाफाखोरों ने!—दूसरे प्रांतों से अनाज आया, कड़ी प्रयत्नों से अमेरिकन गेहूँ मिला।—राशनिंग द्वारा उसके वितरण का प्रबन्ध हुआ।

भात की समस्या पहले ही कौन कम समस्या थी! वितरण की समस्या उससे और कठिन निकली। पहले तो राशन कार्ड बनना मुश्किल,

बन भी जाए तो दुकान से राशन प्राप्त करना दुष्कर !—दुकान खुलने के घंटों पहले से ही लम्बी-लम्बी कतारें, बंद होने तक भी वह ज्यों-की त्यों !—आदमी का पूरा दिन जाए सो अलग, उस पर भी राशन मिल ही जाए, इसका कोई भरोसा नहीं !

यही हाल हुआ दोनों भाइयों की पत्नियों का। भाई दिन की मजूरी पर जाते पीछे राशन लाने की जिम्मेदारी होती केसर और देबु की। केसर हुकमाराम की स्त्री थी, तो लादूराम की पत्नी का नाम था देबु। आज तीसरा दिन था उन लोगों को राशन की क्यू में खड़े होते, जैसे-तैसे वह दुकान तक पहुँचती भी थीं तो भीड़ का एक धक्का फिर उन्हें पीछे ला पटकता था !—

आज सुबह नौ बजे से ही वह दोनों क्यू में आन जुटी थीं। दो घंटे के बाद वह दुकान के नजदीक पहुँची कि झगड़ा हो गया। सड़ा गला अनाज, रुपये की कीमत में चार आने का नाज मिलते देख, भीड़ उत्तेजित हो गई थी। क्यू टूटा। दरवाजा टूटा। नाज की बोरियाँ सड़क पर बिखरा और लूट मची। 'सरकार मुर्दाबाद' के नारे लगे। पुलिस आई। लाठी चार्ज हुआ। भगदड़ मची। बच्चे और औरतें कुचले गए। केसर और देबु ने भी भाग अपनी जान बचाई।

आज फाकाकशी का दिन था। न देबु के चूल्हे में आग जली और न केसर की झुग्गी में ही धुआँ नजर आया। लादू और हुकमा ने, मजूरी से लौटने पर बच्चों को बिलबिलाते और बीवियों को पाँव पसारे जमीन पर पड़ पाया। दोनों भाइयों ने मसले को समझा और मौन रहे। स्त्रियाँ भी चुप रहीं। अपनी ओर से बात को छेड़ना और बढ़ाना वह नहीं चाहती थीं। सुना था राशन की कुछ नई दुकानें और खुल रही हैं। आशा थी कि कल अनाज जरूर मिल जायेगा। सब उस भुलावे में रात काट डालना चाहते थे, एक दिन की भूख से वे मरनेवाले नहीं थे। चर्बी जो खुराक की जगह जलती है, आदमी को इतनी आसानी से मरने भी तो नहीं देती !

× × ×

यह रूखा-सा खाना 'खाना न भी बच्चे', भूखे रह गए आया हूँ।'

'फाँसी दो इन सब बच्चों को। चुड़ैल को आग चाहिए थी तो क्या न भाड़ में झुलस जाती आई। मैं भी तो लाई हूँ। मेरे बच्चे भूखों मरें और पराए बच्चों की पाल्ती फिरूँ!'

रोष में बड़बड़ाती वह बाहर निकली और साथ वाली में केसर की झोपड़ी में उसने प्रवेश किया।

केसर के बच्चे चूल्हे को घेरे बैठे थे, माँ उनकी हाँडी में पत्ते हिला रही थी, बच्चे ललचाई दृष्टि और आतुरता से देख रहे थे।

'चुड़ैल! तो आज मेरे गोविन्द पर क्या जादू कर डाला है। आटा तेल तक घर का ढो।' कहती हुई वह राक्षसी की तरह हाँडी पर झपटी और चूल्हे से उसे लेकर अपनी झुग्गी में घुस गई।

× × ×

हँडिया क्या गई, तेल पर का सामान ही हाथ में रह गया। हाथ में से रोटी का टुकड़ा तेल कोई झपट कर ले गया हो। बच्चे चीत्कार मार कर रो पड़े। केसर बच्चों को छाती से चिपटाए फूट-फूट कर रोने लग गई।

केसर अब किससे भीख माँगे? और क्यों माँगे? कौन उसे कुछ देगा और क्यों दे? विचारों में खोई हुई कोने-कोने में बैठी वह बच्चों को पुचकार रही थी, कि हुकमाराम ने झुग्गी में प्रवेश किया।

'क्या कुछ खा लिया है न बच्चों ने? मैं कहीं ठुकार का तो मैं प्रबंध कर आया हूँ, मालिक ने भी कुछ करने का आश्वासन दिया है।' कहते हुए हुकमाराम बैठ गया।

'हाँ, अभी लाए थे। उस दिन मुट्ठी में मुझे तो आज भाल मिला नहीं। बच्चे आए थीं, उसी में जादू कुछ हो गया था, पत्ते पका रही थी कि तुम्हारी भाभी झपटी आई और हँडिया ले गई—'

गला रुँध आया। आँसू टपक आए, सिसकियाँ भरने केसर लगी,

'वहा कुएँ म ढकेल दो, इस दुख से मौत तो अच्छी।'

× × ×

धैय की सीमा होती है, हुक्माराम भूखा रहा, पत्नी और लाडल बच्चों को भूख से तडपते देखकर भी उसने हिम्मत नहीं छोडी, पर इस ठेस को वह न सह पाया। धैय और विवेक दोनों अस्त हो आए। मस्तिष्क का सतुलन बिगडा, वह मौन, निस्तब्ध खडा रह गया मानों जीती लाश हो।

वह इस अँधियारे का पार करन का रास्ता ढूँढ रहा था। रास्ता कैसा? भूख प्यास को बुझाने का नहीं, बल्कि इसकी ज्वाला से सदा सदा के लिए छुटकारा पा लेने का। जीवन के प्रति अविश्वास और प्राणों के प्रति वैराग्य उसके चिन्तन का तूफान था। उसका मस्तिष्क 'विसुवियस' की तरह एक ही विचार का लावा उगल रहा था—जीवन अल्प हो या दीघ, है तो वह नाशवान् ही।—शरीर नाशवान् है और मृत्यु है ध्रुव सत्य।—

हुक्माराम का विवेक शून्य में लोप हुआ, विचार तन्तु टूटे, दृष्टि ओझल हुई। फौलादी निणय—मृत्यु शाश्वत और उसका आलिंगन ही विषाद मुक्त।

× × ×

निणय ने हुक्माराम का ह्रद शान्त किया, प्रसन्नता का आभास चेहरे पर लाते, वह पत्नी से बोला, 'क्या घबराती है री! म सब प्रबन्ध कर आया हूँ। मालिक ने सब प्रबन्ध कर दिया है भविष्य में अब कोई तकलीफ नहीं होगी। बच्चों को जगा और जल्दी कर, कुछ दूरी पर जाना है। सबको भर पेट खाना मिलेगा।'—

केसर प्रसन्न हो उठी, मानों सूखती फसल पर वर्षा की बौछार हुई हो। बच्चों को जगाया, एक को क धे पर, दूसर को कोरव में, तीसरे की अगुली पकड वह हुक्माराम क साथ हो ली।

सडका और गलियों को पार करते वह बढ चले। हुक्माराम का

'कहीं कुएँ में ढकेल दो, इस दुख से मौत तो अच्छी।'

× × ×

धैर्य की सीमा होती है, हुक्माराम भूखा रहा, पत्नी और लाडले बच्चों को भूख से तड़पते देखकर भी उसने हिम्मत नहीं छोड़ी, पर इस ठेस को वह न सह पाया। धैर्य और विवेक दोनों अस्त हो आए। मस्तिष्क का संतुलन बिगड़ा, वह मौन, निस्तब्ध खड़ा रह गया मानों जीती लाश हो।

वह इस अँधियारे को पार करने का रास्ता ढूँढ रहा था। रास्ता कैसा? भूख प्यास को बुझाने का नहीं, बल्कि इसकी ज्वाला से सदा सदा के लिए छुटकारा पा लेने का। जीवन के प्रति अविश्वास और प्राणों के प्रति वैराग्य उसके चिंतन का तूफान था। उसका मस्तिष्क 'विसुवियस' की तरह एक ही विचार का लावा उगल रहा था—जीवन अल्प हो या दीर्घ, है तो वह नाशवान् ही।—शरीर नाशवान् है और मृत्यु है ध्रुव सत्य।—

हुक्माराम का विवेक शून्य में लोप हुआ, विचार तंतु टूटे, दृष्टि ओझल हुई। फलादी निर्णय—मृत्यु शाश्वत और उसका आलिंगन ही विषाद मुक्त!

× × ×

निर्णय ने हुक्माराम का द्वंद्व खत्म किया, प्रसन्नता का आभास चेहरे पर लाते, वह पत्नी से बोला, 'क्या घबराती है री? मैं सब प्रबन्ध कर आया हूँ। मालिक ने सब प्रबन्ध कर दिया है, भविष्य में अब कोई तकलीफ नहीं होगी। बच्चों को जगा और जल्दी कर, कुछ दूरी पर जाना है। सबको भर पेट खाना मिलेगा।'—

केसर प्रसन्न हो उठी, मानों सूखती फसल पर वर्षा की बौछार हुई हो। बच्चों को जगाया, एक को कंधे पर, दूसरे को कोरव में, तीसरे की अंगुली पकड़ वह हुक्माराम के साथ हो ली।

सड़कों और गलियों को पार करते वह बढ़ चले। हुक्माराम का

छोर का भान था, न अंधकार और आतंक का। सुख था, कमर के लिए यह अज्ञात था, फिर भी वह उसके लिए मगन था। उसमें उसके प्रति उल्लास था और उत्साह।

हुकमाराम के कन्धों में उत्तरदायित्व की ओर निराशा, और उसी राह पर कमर उस विश्वास के साथ कदम बढ़ा रही थी—जीवन की आस्थाओं से सम्पन्न, आकांक्षाओं से आलोकित। रास्ता एक था, मान्यताएँ विभिन्न। अंत एक था – पर अंतर था उनमें।

× × ×

आध घण्टे की चढ़ाई के बाद हुकमाराम का यह परिवार एक छोटी पहाड़ी की तलहटी में पहुँचा। वहाँ आम्रकुंज से घिरा भगवान् शंकर का मन्दिर था। पास ही एक कुण्ड था, गहरा, पानी से लबालब भरा। कुण्ड के चारों ओर सीढ़ियाँ थीं, जिससे यात्री उतर कर पानी पी सकें। कुण्ड का पवित्र जल भगवान् शंकर की पूजा के काम में आता था।

पत्नी और बच्चों को कुण्ड में छोड़ कर वह, माथे पसीने को धोता आचमन लेकर वह मन्दिर की ओर चला। हुकमाराम जानता था कि यह उसके छोटे-से गृहस्थ का अंतिम क्षण है! पर मानो वह छोड़ कर ही आया था—स्पन्दन और द्वन्द्व शून्य! पत्नी-बच्चों की ममता मोह से मुक्त और दूर। पीड़ा में रति और परिस्थिति से बचाव! जीवन की उसकी गति विधि अंधकार में लुप्त थी। केवल अपना रास्ता उसके सामने स्पष्ट था—असीम अंधकार और निर्ममता का रास्ता, जिसमें उसका विलय और अवसान था!

थोड़ी देर बाद वह लौटा। कहा, 'चलो, खाना मिल जायगा, जगह देख आया हूँ, मन्दिर में भगवान् शंकर का प्रसाद है। मालिक आज सबको यहाँ भोजन करा रहे हैं। आओ, पहले हाथ-पाँव धो लें, फिर अन्दर चलेंगे।'

यह कह, उसने कमर और बच्चों को कुण्ड में उतरने का रास्ता

लिया। कुण्ड लगभग पचास फीट गहरा था, सब सीढ़ियों पर खड़े एक साथ ही हाथ-पाँव धो रहे थे। तुक्काराम ने पत्नी और बच्चों को जोर से धक्का दिया और फिर स्वयं भी उनके साथ कुण्ड में कूद पड़ा। दुःख-दर्दों से दूर जा उतरने को!

× × ×

प्रातःकाल सूर्य उदय हुआ। पंडे पुजारियों ने एक पूरे लावारिस खानदान की लाशों को पानी में तैरते पाया। कौन जान पाया कि इस वैभव-सम्पन्न मन्दिर तले किस अभागे परिवार ने अपनी भूख की ज्वाला इस पवित्र कुण्ड में शांत की थी!

इधर लाश तैर रही थी और उधर भगवान् शङ्कर का शुद्धि-संस्कार हवन और मन्त्रोच्चारण के साथ हो रहा था। हवन कुण्ड में मनों घृत का होम! पाषाण मूर्ति की शुद्धि में दूध, दही, घी, शहद आदि के पञ्चामृत से स्नान! ब्रह्म भोजन में हजारों का व्यय!

काश! कुछ अन्न के दाने एक दिन पूर्व, इस परिवार को भी मिल पाते।

श्मशान और दक्षिणा

यह भयानक स्थान मरघट था। जागृत और सुप्त, अनजान और उजड़ा हुआ—लेकिन फिर भी आबाद। वीभत्स और कुत्सित—किन्तु पवित्र! बरबादी में आबाद और विनाश में गतिशील!

यह रहस्यों का रहस्य। जो चल कर यहाँ आया, उसका शोक और जो आया कन्धों पर, वह इस भाग पर ही प्रगाढ़ निद्रा में लीन हुआ। नश्वरता का यहाँ ज्ञान। चेतन अचेतन का यहाँ परिज्ञान। जीवन और मृत्यु का यहाँ उपहास! प्रसन्नता और अन्धकार का सम्मिलन। पाप और पुण्य, सत्य और असत्य का यहाँ परिमार्जन।

जीवन का यह बौद्धिक स्वप्न। चेतना में गर्भ अन्धकार का यह भावना स्तब्ध। यहाँ कोई आता नहीं, पर सबको आना एक ध्रुव सत्य! यह है वह स्थान, जहाँ जीवन का अहं, ममता और मोह, अनन्त विश्राम में लीन हैं। दुविधाओं, द्वन्द्वों और व्यवसायों का यह मात्र स्थल! साथ ही अनगिनत पीड़ाओं और स्नेहों का यह उदय स्थल।

एक दिन किसी अपने के संस्कार में भी यहाँ आया था। अनमना सा एक ओर बैठा था। पास ही था अस्थियों का ढेर, चिता हो रही थी। हरिद्वार के लिए उनको प्रस्थान होना था। मृतात्मा की शान्ति के लिए, पिण्ड प्रदान, आदि क्रिया कर्म किए जा रहे थे।

इस निर्विशिका के पास एक और आदमी, निकृष्ट और कुरूप। अनजाना-सा, कर्मकाण्ड की विधि में व्यस्त, विचार किया। मैं उसकी ओर विरक्तता से देख रहा था। आयु में अधेड़, दुबला हाड़ का शरीर, गाढ़ और विकृत चेहरा, ललाट पर मोटा सिन्दूर तिलक, बुद्धि शून्य, पर स्वतः स्वार्थ-सा। वह कर्मकाण्ड का अधिष्ठाता था। महाब्राह्मण श्मशान

का। भगवान् शंकर का वह गण। मरघट का वह देव। कर्मकाण्ड से निवृत्त हो, वह भोजन के आसन पर बैठा। जजमान ने पत्तल और दोने सामने रखे, पानी छिड़ककर उसने उन्हें पवित्र एवं शुद्ध किया।

मैंने भोजन परोसना शुरू किया। पिंड के लिए बने चावल, पूरी मिठाई, सब्जी आदि को परोसते, मेरे हाथ पत्तल पर टिक रहे थे और उठ रहे थे। हाथों की गतिविधि के साथ साथ, उसकी कौये जैसी आँखें भी उठती थीं और गिरती थीं। क्षुधा की आतुरता से वह बेचैन था।

परोसकारी समाप्त होने पर उसने दाहिने हाथ में चावलों का लुकमा लेकर मुझसे पूछा, 'और भी कुछ है जजमान?'

मैंने कहा, 'बस महाराज! भोजन ग्रहण करें।'

व्यंजनों को उसने एक बार आतुरता से आँका। फिर क्या था। सब वस्तुओं का एक साथ जमाव और उनका निगलन!—चावलों का पिंड, उसमें कचौरी पूरी का जमाव, फिर दही का पुट। ऊँट की तरह वह जुगाली करता लगता था। कैसा बेखबर था, वह उस स्थान की निर्ममता से। कितना अछूता था वह मृत्यु के दाह से। मानों उसको छोड़ शेष सब मरनेवाले थे। वह तो धरा पर शाश्वत था और उसका व्यवसाय भी अमिट। मुर्दे उस भूमि पर सदा आते रहेंगे और उसका यह धंधा भी परम्परागत रीति से चलता ही रहेगा। लगता था, शुद्धता अशुद्धता, पवित्रता अपवित्रता, हित अहित के भाव, उसकी चेतना में मर चुके थे। एक अनोखी सिद्धि—व्यवसाय के मोह और विवेक की कुण्ठा से जन्मी!

उसकी पत्तल साफ थी, वह जुगाली कर रहा था! 'हरि ओउम्' बोलकर उसने तृप्ति की डकार ली फिर एक लोटा पानी पिया। हाथ धोए, गीले हाथों से मुँह और आँखों को मलते, वह बोला

'धनवान! पुत्रवान्!! आरोग्यवान् हो।'

आशीष देकर, दक्षिणा प्राप्त करने की व्यग्रता उसमें दिखाई दी। मैं उसके रंग-ढंग से आकर्षित होकर, उसके पास खिसका। जजमान

को पास देखकर, वह प्रसन्न हुआ। होठों पर मुस्कान लाता, सहृदयता से देखता, सहानुभूति की डली उसमें घोलता वह बोला, 'बाबूजी! वे तो आपके कन्धों पर चढ़कर मुक्त हो गए। भाग्यशाली भी थे, शास्त्रानुसार क्रिया-कर्म भी हो गया। इस ज़माने में किसको यह सब नसीब होता है, बाबूजी!'

उत्तर में कहना ही क्या! मृत्यु जिनकी हुई थी वे आयु में अठसठ थे, अपने पीछे परिवार को अस्त-व्यस्त और संताप में छोड़ गए थे। और यह महाब्राह्मण मुझसे उनकी मौत के सम्बन्ध में सन्तोष की भावना चाहता था।

मैं अपनी व्यथा व्यक्त करता तो निश्चय ही उसको निराशा होती। मैं मौन रहा, पर उसके विकृत जीवन का प्रश्न मेरे मस्तिष्क में कुलबुलाता रहा।

अधीर हो, मैंने उससे पूछा, 'महाराज यह आपका रोज़ दिन का धन्धा है। काफ़ी आमदनी हो जाती होगी। दिन-रात व्यस्त और परेशान रहना पड़ता होगा?'

मुस्कराकर वह बोला, 'क्या कहा? मैं व्यस्त रहता हूँ। मतलब कि मेरे पास बहुत पैसा है। अरे साहब! जाति के चालीस घर हैं। सम्मिलित व्यवसाय है। सबके आसरे बँधे हैं। मेरा भी साल में कुल आठ दिन का आसरा है।'

'लेकिन इन आठ दिनों में भी तो हज़ार आठ सौ कमा लेते होंगे?'

'बाबूजी! चार दिन सूखे निकले हैं। आज का दिन हाथ आया है। परसों तीन-चार का दाह-कर्म हुआ था, उससे आज थोड़ा काम मिला है। बाज़ार का धन्धा है बाबूजी! आत्मा भी मरती है और पैसा भी नहीं मिलता। बाप-दादा का धन्धा, चलता है जितना चलाता हूँ।'

उदासीनता में अपनी भावना व्यक्त कर, उसने दक्षिणा के प्रश्न को फिर सामने रखना चाहा।

मैंने कहा, 'आपके चार दिन सूखे निकलने का दुःख हुआ है।

अगर दो-तीन शव भी उन दिनों आ गए होते तो सौ-दो-सौ तो आप कमा ही लेते। भगवान् भी कितना दुष्ट है। देखिए न! चार दिन की आपकी रोजी पर लात मार दी।'

मेरे पग को उसने पकड़ लिया, वह कांपा, सहमा, अपमानित-सा, वह बोला, 'साहब! आपका मतलब है कि मैं पापी हूँ! ज्यादा लोग आता तो मुझको खुशी होती! बाबूजी! इतना खराब आदमी नहीं हूँ। धंधा है, इससे बैठा हूँ, मुझे भी मरना है। फिर भला क्यों किसी का अनिष्ट चाहने लगा। खैर! आपने तो मुझे पिशाच मान ही लिया।'

मेरी बात से उसे कष्ट हुआ! होना स्वाभाविक था। आखिर वह गृहस्थ था, पत्नी होगी, बच्चे भी होंगे।

मैंने नम्रता से कहा, 'महाराज! मेरी बात से आपको दुख हुआ, क्षमा करना। संसार में गृहस्थी का भार बुरा है। सँभल कर चलना होता है। आपके भी बाल-बच्चे होंगे?'

'हाँ साहब! दो लड़कियाँ और दो लड़के।'

'लड़के पढ़ते हैं या नौकरी पर?'

'एक बी० ए० में पढ़ रहा है जवान है। शादी कर दी है। दूसरा अभी छोटा है। लड़कियाँ भी पढ़ रही हैं। भगवान् निबाहता है बाबूजी। जमाना खोटा है, धर्म कर्म से लोगों की आस्था उठती जा रही है।'

उसे दूसरे जजमानों के पास पहुँचने की जल्दी थी। मैंने दो रुपए दक्षिणा में दिए और प्रणाम किया।

रुपए तो उसने ले लिए, सन्तोष उसे न था। निराशा से मेरी ओर देखता, वह बोला, 'साहब! आशा तो बहुत थी। बड़े जजमान। बड़ा घर। बड़ा ओहदा।—फिर इतना कम! जैसी आपकी मर्जी।'

एक रुपया और दिया उसे सतोष नहीं था। मेरी ओर आशा से वह देखता रहा, बोला कुछ नहीं। मैंने दो रुपए और दिए। अब उसके पास पांच रुपए पहुँच गए थे। लेकिन वह तो अब भी असन्तुष्ट था। वह तो जाने के बजाय और जमकर बैठ गया। और लगा मेरी ओर नम्रता से देखने।

का पास लेकर, वह प्रसन्न हुआ। होठों पर मुस्कान लाकर, गद्गदता से स्वर, सहानुभूति की टेक लगा कर उसने यह बोला, 'बाबूजी! ये तो आपकी कृपा पर चल कर पूरी हो गए, भाग्यशाली भी थे, शास्त्रानुसार क्रिया-कर्म भी हो गया। इस जमाने में किसको यह सब नसीब होता है, बाबूजी!'

उत्तर में कहना तो क्या! मृत्यु निकट होते हुए भी वे आयु में अधिक थे, अतः मेरे परिवार को [illegible] और समाज में [illegible] थे। और यह महाब्राह्मण [illegible] उनकी मौत से [illegible] सन्तोष की भावना चाहता था।

मैं अपनी व्यथा [illegible] उसे निराशा होगी। [illegible] मौन रहा, पर उसके विकृत चिन्तन का प्रश्न मेरे मस्तिष्क में खटकता रहा।

अधीर हो, मैंने पूछा, 'महाराज यह आपका धन्धा है। [illegible] बहुत कठिन होता होगा। दिन-रात व्यस्त और परेशान रहना पड़ता होगा?'

मुस्कुराकर वह बोला, 'क्या कहा? मैं [illegible] रहता हूँ। मतलब कि मेरे पास [illegible] है। [illegible] साहब! जाति से ब्राह्मण [illegible] है। [illegible] व्यवसाय है। [illegible] हैं। मेरा भी [illegible] में [illegible] और दिन का [illegible]।'

'लेकिन इन चार दिनों में भी तो इतना [illegible] क्या [illegible] होगा?'

'बाबूजी! चार दिन खूब मिले हैं। आज का दिन हाथ आया है। पहला तो चार रोज से [illegible] हुआ था, इसमें और थोड़ा काम मिला है। बेकार का धन्धा है बाबूजी! आमदनी भी सस्ती है और पैसा भी नहीं मिलता। बाप दादों का धन्धा, चलता है जितना चलाता हूँ।'

[illegible] में अपनी भावना व्यक्त कर, उसने दक्षिणा के प्रश्न को फिर सजग करना चाहा।

मैंने कहा, 'आपको चार दिन खूब मिलने का [illegible] हुआ है।

अगर दो-तीन शव भी उन दिनों आ गए होते तो सौ-दो-सौ तो आप कमा ही लेते। भगवान् भी कितना दुष्ट है। देखिए न! चार दिन की आपकी रोजी पर लात मार दी।'

मेरे व्यंग को उसने पकड़ लिया, वह चौंका, सहमा, अपमानित-सा, वह बोला, 'साहब! आपका मतलब है कि मैं पापी हूँ। ज्यादा लाश आता तो मुझको खुशी होती! बाबूजी! इतना खराब आदमी नहीं हूँ। धंधा है, इसमें बैठा हूँ मुझे भी मरना है। फिर भला क्यों किसी का अनिष्ट चाहने लगा। खैर! आपने तो मुझे पिशाच मान ही लिया।'

मेरी बात से उसे कष्ट हुआ। होना स्वाभाविक था। आखिर वह गृहस्थ था, पत्नी होगी, बच्चे भी होंगे।

मैंने नम्रता से कहा, 'महाराज! मेरी बात से आपको दुख हुआ, क्षमा करना। संसार में गृहस्थी का भार बुरा है। सँभल कर चलना होता है। आपके भी बाल-बच्चे होंगे?'

'हाँ साहब! दो लड़कियाँ और दो लड़के।'

'लड़के पढ़ते हैं या नौकरी पर?'

'एक बी० ए० में पढ़ रहा है, जवान है। शादी कर दी है। दूसरा अभी छोटा है। लड़कियाँ भी पढ़ रही हैं। भगवान् निबाहता है बाबूजी। जमाना खोटा है, धर्म कर्म से लोगों की आस्था उठती जा रही है।'

उसे दूसरे जजमानों के पास पहुँचने की जल्दी थी। मैंने दो रुपए दक्षिणा में दिए और प्रणाम किया।

रुपए तो उसने ले लिए सन्तोष उसे न था। निराशा से मेरी ओर देखता, वह बोला, 'साहब! आशा तो बहुत थी। बड़े जजमान! बड़ा घर। बड़ा ओहदा!—फिर इतना कम? जैसी आपकी मर्जी।'

एक रुपया और दिया उसे सतोष नहीं था। मेरी ओर आशा से वह देखता रहा, बोला कुछ नहीं। मैंने दो रुपए और दिए। अब उसके पास पाँच रुपए पहुँच गए थे। लेकिन वह तो अब भी असंतुष्ट था। वह तो जाने के बजाय और जमकर बैठ गया। और लगा मेरी ओर व्यग्रता से देखने।

मैं भी उदासीनता दिखाने के लिए दूसरे कामों में व्यस्त हो गया।

मुझे अन्यमनस्क पा, सम्बोधित करता बोला, 'साहब! कौन इस अपवित्र भूमि पर भोजन करता है और कौन यहाँ का निकृष्ट दान लेना चाहता है! फिर आप मुझसे [illegible]?'

बीच में ही उसकी बात को काटते मैंने कहा, 'पण्डितजी! दान दक्षिणा तो भाग्य से मिलती है। इसमें अपवित्रता नहीं होती। फिर भी आपको लाचार नहीं करना चाहता। यह लीजिए दो रुपए और। अब तो आप प्रसन्न हैं न?'

लगता था, वह महाशय तीस पच्चीस रुपया की आशा लगाए बैठा था। जो कुछ अब तक उसके पास पहुँचा था, वह तो उसकी मेहनत थी, दक्षिणा नहीं। गरज कि वह महाशय सन्तुष्ट नहीं हो सका। कुछ मिल जाने की प्रतीक्षा में, हाथ फैलाए, बैठा ही रहा।

मैं अब तंग-सा आ गया था। श्रद्धानुसार दक्षिणा मैं उसको भेंट कर चुका था। उसकी इतनी [illegible] नहीं करनी थी।

मैंने उसके व्यवहार से चिढ़कर कहा, 'महाराज! अबकी बार क्षमा करेंगे। जो उचित था, भावना से भेंट किया। आगे अपनी मृत्यु से पूर्व मैं अपने वसीयतनामे में लिख जाऊँगा कि मेरे श्राद्ध-कर्म के समय आपको अधिक-से-अधिक दक्षिणा दी जाए।'

मैं लौट पड़ा, जैसे ही उधर गया। श्री बिन्दुजी के हाथ जैसे उस पर माथा टेका। वह सिहर उठा [illegible] आँखें आँसुओं से डबडबा, वह बोला, 'भगवान आपको दीर्घायु करें। क्षमा, अनुभव आप क्या चाहते हैं। मुझे दक्षिणा नहीं चाहिए। आपका मंगल हो।' यह कह वह उठा और चल दिया।

निवृत्त हो जब मैं रवाना हुआ तो क्या देखता हूँ, वह महाब्राह्मण, चिताओं के पास, भोजन के आसन पर फिर विराजमान थे। वहाँ से भी दक्षिणा की उसे आस थी।

मेरे हमदर्द

काश मैं साधारण आदमी होता।

मेरा भाई, अस्पताल के कमरे में हृदय-रोग से ग्रसित!—डाक्टर कभी हालत में सुधार बतलाते तो कभी खतरे का संकेत देते थे।

मैं परेशान! मानसिक संतुलन मेरा असंतुलित। फिर भी मैं अपने इस कष्ट और व्यथा को स्वयं ही पीना और सहना चाहता था। किसी को इसका भागीदार मैं नहीं बनाना चाहता था। मैं तनहाई चाहता था। पर तनहाई मुझ मन्त्री के नसीब में कहाँ!

मैं भी मरीज हो आया था—चलता फिरता। वेदना से दग्ध एवं आगन्तुकों की थोथी हमदर्दी से परेशान! हमदर्दी की कमी नहीं। इस उच्च पद की यह महिमा है। बिन ढूँढ़े, बिन चाहे, वह आ मँडराते हैं—बस, जरा शान भर हो जाए आपके कष्ट का उन्हें! और इस पर मेरा भाई बीमार और हॉस्पिटल में।—ऐसा मौका! और चूक जाएँ ये दुनियावी हमदर्द!

मैं भाई की बीमारी से कम परेशान न था और तिस पर इन थोथी हमदर्दियों से मानसिक संताप और तनाव और बढ़ते थे—पर क्या करता? मैं एक बड़ा आदमी था।

अनेकों आते, और उनके निरर्थक प्रश्नों के उत्तर देने होते मुझे! अन्दर ही अन्दर मुझे खीज आती पर बाहर से उनकी सहानुभूति के लिए धन्यवाद देता और कष्ट के लिए आभार प्रकट करता था—एक मुस्कान के साथ हँसी दिल्लगी भी कर लेता था! लोग कहते सुने जाते, "क्या खुशमिजाज आदमी है। आफत में भी देखो, जिंदादिली है!"

मैं भाई के पास बैठ अपने स्नेह की तृष्णा को तृप्त करना चाहता

मैं भी उदासीनता दिखाने के लिए दूसरे कामों में व्यस्त हो गया।

मुझे अन्यमनस्क पा, सम्बोधित करता बोला, 'साहब! कौन इस अपवित्र भूमि पर मातम करता है और कौन यहाँ का निकृष्ट दान लेना चाहता है? फिर आप मुझको...!'

बीच में ही उसकी बात का रुख बदल मैंने कहा, 'पण्डितजी! मान दक्षिणा तो मान मनि में ही लगी है। इसमें जबरदस्ती नहीं होती फिर भी आपको नाराज नहीं करना चाहता। यह लीजिए दो रुपए और। अब तो आप प्रसन्न हैं न?'

लगता था, वह मुझसे तीस-पचास रुपया की आशा लगाए बैठा था। जो कुछ अब तक उसके पास पहुँचा था, वह तो उसकी मेहनत थी, दक्षिणा नहीं। इसलिए वह मुझसे सन्तुष्ट नहीं हो सका। कुछ खिन्न मन की प्रतिक्रिया में, हाथ बढ़ाए बैठा ही रहा।

मैं अब उससे ऊब उठा था। श्रद्धानुसार दक्षिणा मैं उसको भेंट कर चुका था। उसको इतनी हुज्जत नहीं करनी थी।

मैंने उसके व्यवहार से चिढ़कर कहा, 'भगवान! अबकी बार क्षमा कर दो। जो उचित था, भावना से भेंट किया। आगे अपनी मृत्यु से पूर्व अपने वसीयतनामे में लिख जाऊँगा कि मेरे श्राद्ध-कर्म के समय आपको अधिक-से-अधिक दक्षिणा दी जाए।'

मैं बोला क्या, जैसे तीर छूट गया। जो बिन्दुओं के टुकड़े जैसे उसके एक साथ लगे। वह सिहर उठा। मेरी ओर कातर नेत्रों से ताकते, वह बोला, 'भगवान् आपको शतायु करें। ऐसा अशुभ आप क्यों बोलते हैं। मुझे दक्षिणा नहीं चाहिए। आपका मंगल हो।' यह कहकर वह उठकर चल दिया।

निवृत्त हो घर से रवाना हुआ तो क्या देखता हूँ, वह महाब्राह्मण, भिखमंगों के पास, मार्ग के आसन पर डटे विराजमान थे। वहाँ से भी दक्षिणा की उन्हें आस थी।

मेरे हमदर्द

काश मैं साधारण आदमी होता।

मेरा भाई, अस्पताल के कमरे में हृदय-रोग से ग्रसित!—डाक्टर कभी हालत में सुधार बतलाते या कभी खतरे का संकेत देते थे।

मैं परेशान! मानसिक संतुलन मेरा असंतुलित। फिर भी मैं अपने इस कष्ट और व्यथा को स्वयं ही पीना और सहना चाहता था। किसी को इसका भागीदार मैं नहीं बनाना चाहता था। मैं तनहाई चाहता था। पर तनहाई मुझ मंत्री के नसीब में कहाँ!

मैं भी मरीज हो आया था—चलता फिरता। वेदना से दग्ध एवं आगन्तुकों की थोथी हमदर्दी से परेशान! हमदर्दी की कमी नहीं। इस उच्च पद की यह महिमा है। बिन ढूँढे, बिन चाहे, वह आ मँडराते हैं—बस, जरा भान भर हो जाए आपके कष्ट का उन्हें! और इस पर मेरा भाई बीमार और हॉस्पिटल में।—ऐसा मौका! और चूक जाएँ ये दुनियावी हमदर्द!

मैं भाई की बीमारी से कम परेशान न था और तिस पर इन थोथी हमदर्दियों से मानसिक संताप और तनाव और बढ़ते थे—पर क्या करता! मैं एक बड़ा आदमी था।

अनेकों आते, और उनके निरर्थक प्रश्नों के उत्तर देने होते मुझे! अन्दर ही अन्दर मुझे खीज आती पर बाहर से उनकी सहानुभूति के लिए धन्यवाद देता और कष्ट के लिए आभार प्रकट करता था—एक मुस्कान के साथ हँसी दिल्लगी भी कर लेता था! लोग कहते सुने जाते, "क्या खुशनुमा आदमी है। आफत में भी देखो, जिन्दादिली है!"

मैं भाई के पास बैठ अपने स्नेह की तृष्णा को तृप्त करना चाहता

एक श्रद्धांजलि!

मैं तेरी लाश पर फातिहा पढ़ रहा हूँ! तू न मालूम कहाँ से यहाँ आया? कहाँ तेरा जन्म हुआ? कहाँ तू पला बढ़ा? और क्यों आज अचानक ही मौत ने इस दर में तुझे आन दबा? तू! जिसे कभी जीवन में शान्ति नहीं मिली, चैन नसीब नहीं हुआ! मैं आज तेरे शव की साक्षी में तेरी आत्मा की शान्ति के लिए दुआएँ माँग रहा हूँ! तू मा[illegible] का पाप! आवागमन के चक्र से सदा मुक्त हो। मैं तेरे शव को श्रद्धांजलि देकर तेरी सद्गति की कामना में गीता पाठ कर रहा हूँ।

तू जब तक जीवित रहा, तेरा आदर मेरा तक [illegible] न कर सका! न समय ही! आज मैं तुझे शान्ति मिले और जीवन में तुम्हारा! तेरे शव को मिली सहानुभूति और प्राणों को मिली अवहेलना।

तू भूखा-प्यासा, नंगा, लाचार, गरीब और रोगी अपनी आत्मा से [illegible] नगर के चौराहे की धर्मशाला का निकला था! न जमीन का [illegible] किया तूने और न राम का! तेरा काया देखकर इस चौराहे तक ही रेंग सका। तेरा शव आज बस्ती के कफ़न में लिपटा, अपनी आवाज दुनिया वालों को सुना रहा है। लाखों आदमी रोज़ दुःख देकर आज फिर नहाते हैं। मन्दिर में जाते और मन्दिर को दान देकर इन्सान का अभिनन्दन करते हैं!

ना जाने किस जीवन राह में तू जन्मा! और ना जाने कितना निर्मम अवहेलनाओं के मार में से तू गुजरा! और अन्त में हार कर इस चौराहे को अपने जीवन का गान तूने सुनाया। इस चौराहे को अपना शव भेंट कर, क्या तू असमानता की राह में छिपी सगावत को मसल देना चाहता है?

तू जीते जी इस जीवन का सम्मान न ले सका, ना सहानुभूति ही! आज तू अनन्त निद्रा में इस चौराहे पर पड़ा है—वस्त्रविहीन, जनरिक्त! तेरा शव पुलिस के संरक्षण में है। राज्य की सम्पत्ति! राज्य का सम्मान आज तेरे चरणों में!!

तू जिन्दा, समाज से लड़ न सका। अब मरकर तू जूझना चाहता है! देख तेरे शव के पास रखे हैं—फल, दूध और मिठाई। लगता है तू जागने वाला है। समाज का तेरी मृत्यु पर अब तक विश्वास नहीं!

देख! आज यह तिलकधारी तेरे शव को देख कितना दयाद्र हो आया है। मन्त्रोच्चारण कर रहा है। राहगीर सहानुभूति में 'राम नाम' ले रहे हैं। विभिन्न धर्मावलम्बी तुझे अपना-अपना विश्वास देने में व्यस्त हैं। जो तुझे जिन्दा देखना नहीं चाहते थे, आज वही तेरी सेवा के लिए तत्पर हैं। तुझे कंधा देना चाहते हैं।

तू उठना चाहता है! तो उठ!! अब देख अपनी दुर्दशा को और हो सजग। अब गलती न होगी। तेरे साथ भेदभाव न होगा। तुझे सहानुभूति मिलेगी!!

एक बार उठ। और देख तेरी मौत ने मुल्क में चेतना भर दी है। राष्ट्र ने समाजवाद अपनाया है।

उठ और देख! समाज सेवी तेरी लाश को घेरे खड़े हैं। इधर हिन्दू हैं तो उधर मुसलमान। दोनों ही तेरी अन्त्येष्टि की होड़ में हैं। तू 'राम' कह दे तो हिन्दू तुझे स्वर्ग देगा। 'रहीम' बोल दे तो मुसलमान तुझे जन्नत दिलायेंगे। तू न बोला! तो अंजाम होगा मजहबी तनाव और मारकाट। लाशें और लाश!!

तू तो परिचित है इस देश से! यहाँ के दया धर्म से। जिन्दा यहाँ ठोकर खाता है और मौत पर उसका यहाँ सम्मान होता है। इस दया धर्म के देश में जीवन का मूल्य नहीं। तू अभी खामोश पड़ा रह। जीवित लाशों के इस विशाल राष्ट्र में जीवन का अन्त ही अध्यात्म वाद है।

था। पर कहाँ! मैं एक आदमी था! मेरे चाहने वालों की, मेरे हमदर्दों की कमी नहीं थी। एकान्त में चैन पाता तो कैसे!

रात्रि के शान्त प्रहर में कभी-कभी मैं सोचा करता, 'गरीब था आदमी तो मैं मजे में था। मस्त अपने घर में, जितना हो अच्छा था! इन आदमियों की निर्भीक हमदर्दी में, एक दो मित्रों में स्नेह की गम्भीरता तो मरी थी! यह जीवन मेरा क्या दिखावा बन कर रह गया है? जो कुछ मेरा अपना था, उसको भी भ्रम में खोता जा रहा हूँ—"

मेरा दुःख मेरा था। समाज का न था। पर सामाजिक हमदर्दी, मेरी जिन्दगी बन कर रह गई थी। मैं व्यस्त था अपने चाहने वालों की हमदर्दी के स्वागत और सत्कार में। वाह रे मेरा जनमत, वाह रे मेरा पद!!

मेरे ये हमदर्द! ये कलाकार!! सहानुभूति की ताज़गी के बाद वह मुझ पर जोर डाल जाते, और मैं विवश होता और सुनता उनके स्वार्थों को। किसी को पदवृद्धि चाहिए तो कोई अपना तबादला चाहता है। किसी को नौकरी चाहिए तो किसी को सिफारिश। आश्वासन में कुछ कहता, तो शुरू होता उनका अपने प्रमाणों का एक लम्बा विवरण! मैं थकता।

मैं बीमार था भाई! लाभ कर नहीं सकता था! अप्रिय हो नहीं सकता था। सहानुभूति के प्रति आभार देने की परम्परा को आघात पहुँचा नहीं सकता था। मैं कैसे स्वप्न में न रहा था ... आश्वासन देता, क्योंकि इन्हें होते थे। मैं अपने में न होता, इसमें उनसे मैं कोप रखता।

मकान की दरवाज़ा के लिए ताले हैं। पर दरवाज़ा बन्द कर इन हमदर्दों के आने और जाने के लिए ही है! यह ताले का संकेत था। मैं बड़ा आदमी था। मेरी मर्यादा का मूल्यांकन था मेरी सहृदयता। उसके हीन प्रदर्शन को मूल्य में कैसे रोक सकता था!

इन हमदर्दों से परेशान हो, आखिर मैंने भाई का डाक्टरों से

हाथों में सौंपा। डाक्टरों की मेरे साथ हमदर्दी थी। क्या न होती! मैं एक बड़ा आदमी था। एवज में मैं उनके परिश्रम के गीत गाता। दाद देता! अपनी और बीमार की कुशल मैं इसी में देखता!

काश! मैं साधारण आदमी होता। स्नेह और सहानुभूति—जो पाता, सब अपने असली रूप में पाता!

के बीच विवाह होते ही हैं। वैष्णव और शाक्तों के बीच भी सर्वत्र विवाह होते हैं। इस में कोई किसी की उपासना में बाधा नहीं डालता। जैसी जिस की भक्ति, वैसी उपासना की इजाजत होगी। खानदान के रस्मरिवाज जैसे चलते आये हैं वैसे चलेंगे। अवश्य उन में धीरे धीरे परिवर्तन भी होंगे। जहाँ प्रेम है, आत्मीयता है, परस्पर आदर है वहाँ उदारता रहती ही है। एक-दूसरे को सँभालने की वृत्ति होनी ही चाहिए। सवाल या तो उपासना का होगा या खान-पान का। हिन्दुओं के अन्दर इस का जो इलाज होगा वही आन्तर धर्मीय विवाहों के बीच भी होगा। मैं देखता हूँ कि कई खानदानों में चन्द लोग शाकाहारी और कई लोग मांसाहारी होते हैं। ऐसा भेद होते हुए भी खानदान में झगड़ा पैदा नहीं होता। एक-दूसरे की भावना को और कमजोरी को सँभालने की तैयारी होनी ही चाहिए। और ऐसी तैयारी पायी भी जाती है। चर्चा में जो बात कठिन सी मालूम होती है, व्यवहार में उतनी कठिन नहीं मालूम होती। अतः मेरे जैसे शाकाहारी लोग मांसाहारियों का बहिष्कार न करें, उन की निन्दा न करें, उन को पापी न कहें अपने को श्रेष्ठ न समझें और इतनी मर्यादा सँभाल कर शाकाहार की सुन्दरता का प्रचार करते जायें तो मुझे विश्वास है कि भारत में जो आज है उस से शाकाहार का प्रचार अधिक होगा। आज परस्पर बहिष्कार होते हुए भी मांसाहार का प्रचलन बढ़ रहा है। शाकाहारियों को प्रचार का मौका ही नहीं मिलता। वे अपने मन में अपनी श्रेष्ठता का अभिमान रख सकते हैं और कलियुग की बलिहारी कह कर अपनी लाचारी का समर्थन भी कर सकते हैं।

अब सवाल आता है भिन्नधर्मी माँ बाप के सन्तानों के धर्म का। यह सवाल इतना कठिन नहीं है। हम लोग अपनी आश्रम की प्रार्थना में सब धर्मों की प्रार्थनाएँ सूक्ष्मरूप में सही एक साथ चलाते हैं। हम आश्रमवासी अपने को एक तरह से सर्वधर्मी मानते हैं क्योंकि हमारे मन में सब धर्मों के प्रति एक-सा आदर है। मैं लोगों से कहता हूँ कि जन्म से मैं हिन्दू हूँ। हिन्दू धर्म को न मैं ने छोड़ा है, न छोड़ने की जरूरत महसूस करता हूँ। तो भी मैं अपने ढंग का बौद्ध भी हूँ, ईसाई भी हूँ और मुसलमान भी हूँ। नास्तिकों की जमातों में भी शरीक होते मुझे कठिनाई नहीं है। मेरे पास किसी भी किस्म की चोरी नहीं है। अपनी भूमिका साफ कर के सब के साथ घुलमिल जाते मुझे तनिक भी कठिनाई नहीं है।

घर के बच्चों को सब धर्मों की जानकारी देनी चाहिए। हरएक धर्म की खूबी बतानी चाहिए। खामी अथवा मर्यादा जैसा भी हम मानें सहानुभूति के साथ वह भी बतानी चाहिए। फिर तो बच्चे हृदय से उदार बनेंगे। सब धर्मों

के प्रति उन में एक-सा आदर रहेगा और धर्म भेद के कारण सामाजिक जीवन कुण्ठित नहीं होगा।

हिन्दू धर्म के लिए यह कोई नवीन अथवा कठिन बात नहीं है। हमारे असंख्य अवतार हुए हैं, आगे भी हो सकते हैं। सब धर्म-ग्रन्थ हमारे लिए आदरणीय हैं। किसी समय हमारे धर्म में—यज्ञ में गौ की, घोडे की और बकरे आदि की बलि चढायी जाती थी। शाकाहारी लोग उसे बरदाश्त करते थे। इसी हिंदू वृत्ति को व्यापक बना कर भारत में बसे हुए सब धर्मों को विराट धर्म की शाखाएँ मान कर हम सब के साथ मैत्री स्थापित कर सकते हैं। भारत का यह मिशन है और उस के फलीभूत होने का अनुकूल समय है। हम या तो सवधर्म समन्वय की तयारी करते जायें या वृथा धर्म कलह में फँस कर आत्महत्या की तयारी करें। वृथा कलह के लिए हमारी संस्कृति का शब्द है, शुष्क विग्रह। शुष्क विग्रह का अर्थ होता है, बेमतलब का, नीरस और कोरा झगडा। उसे चलाने में न कोई लाभ है, न हित। उस में दिलचस्पी नहीं होनी चाहिए।

(१ मार्च १९६६)

विवाह-संस्था और धर्म-संस्कृति

विवाह की प्रथा और उस के नियम दुनिया के सब देशों में, धर्मों में और छोटे बड़े समाजों में पाये जाते हैं। ऐसे नियमों का इतिहास बड़ा मनोरंजक और बोधप्रद होता ही है। कभी-कभी विवाह के नियम और रस्म रिवाज विचित्र और आश्चर्यकारक होते हैं। लेकिन विवाह के नियम भले बुरे कैसे भी हों उन का पालन करने में हरएक समाज बहुत ही रूढिग्रस्त और आग्रही होता है। अभी अभी इंग्लैंड के एक राजा को रूढि विरुद्ध मनमाना विवाह करने के कारण अपनी राजगद्दी खोनी पडी।

विवाह में अनेक दृष्टियाँ रखी जाती हैं। उन में सामाजिक छोटे-बड़े के भेद का खयाल बड़ा महत्त्व रखता है। हिन्दुओं की स्मृतियों में वर्णान्तर विवाह मान्य थे ही। लेकिन उन दिनों माना गया था कि सवश्रेष्ठ ब्राह्मण हैं। बाद में आते हैं क्षत्रिय। उन के बाद अनेकानेक वैश्य जातियाँ थीं। और शूद्र तो सब से नीचे थे। उस के नीचे जो चाण्डाल और पतित थे वे तो समाज बाह्य थे। उच्च नीच भेद की ऐसी समाज-व्यवस्था जब तक सारा समाज स्वीकार करता है

तब तक ही चल सकती है। अगर किसी व्यक्ति ने, खानदान या जाति ने ऐसी व्यवस्था मानने से इनकार किया तो समाज क्या कर सकता है? अन्य देशों में समाज-व्यवस्था को तोड़ने वाले का कत्ल भी हो सकता है। भारत का समाज इतना अत्याचारी या जंगली नहीं था। हम लोग समाजद्रोही व्यक्ति का अथवा पन्थ का बहिष्कार करने को ही संतोष मानते थे।

ब्राह्मण से लेकर शूद्र तक चार वर्णों के समाज में जब उच्च-नीच भेद समाज-मान्य था तब नियम था कि ब्राह्मण चार वर्णों में से किसी भी वर्ण की कन्या के साथ विवाह कर सकता था। क्षत्रिय के लिए ब्राह्मण को छोड़ कर बाकी के तीन वर्णों की कन्या से शादी करने का अधिकार था। वैश्य को ब्राह्मण और क्षत्रिय छोड़ कर बाकी के वर्णों की जातियों में विवाह करने की इजाजत थी। शूद्र की शादी शूद्रों के अन्दर ही हो सकती थी। ऐसी व्यवस्था को अनुलोम विवाह पद्धति कहते थे। निचले वर्ण या जाति के पुरुष का ऊपर के वर्ण या जाति की लड़की के साथ विवाह हुआ तो उसे प्रतिलोम कहते थे। समाज को ऐसे विवाह मान्य नहीं थे। तो भी केवल अगर ऐसे विवाह हुए तो उन्हें तोड़ने की बात कोई करते नहीं थे। ऐसे प्रतिलोम विवाह की प्रजा की सामाजिक स्थिति बहुत हलकी गिनी जाती थी।

अमेरिका में गोरे और काले दोनों रंगों की प्रजा रहती है। इस में अगर गोरे पुरुष के साथ काली स्त्री का सम्बन्ध हुआ तो काली को उस में ऐतराज नहीं था। लेकिन गोरे लोग ऐसे सम्बन्ध की प्रजा को काले समाज में ही ढकेल देते हैं, फिर उस प्रजा की चमड़ी चाहे जितनी सफेद क्यों न हो। यह हुई अनुलोम विवाह की बात। निग्रो मर्द और गोरी औरत के सम्बन्ध को अमरिकी प्रजा सहन ही नहीं करती। ऐसे मर्द को सामाजिक ढंग से मार डालने का रिवाज था जिस का नाम है लिंचिंग। अमेरिका में प्रतिलोम प्रजा शायद ही कहीं देखने को मिलेगी।

भारत में अनुलोम विवाह बहुत हुए। स्मृतिकारों ने उन की तरह तरह की जातियाँ मुकर्रर कर दीं। उस का विस्तार स्मृतियों में पाया जाता है। इन असंख्य जातियों में उच्च-नीच व्यवस्था भी मुकर्रर की गयी।

लेकिन निचली जातियों में स्वाभिमान जाग्रत हुआ तब अनुलोम प्रतिलोम दोनों तरह की शादियाँ समाज में अमान्य हो गयीं और सैकड़ों जाति वाले हिन्दू समाज में रोटी-व्यवहार और बेटी-व्यवहार बड़े कड़े हो गये। उच्च-नीच भाव का पाप जब समाज में घुसता है तब मानवता ही गायब होती है। समाज अन्धा बनता है और सामाजिक आत्मीयता और विशाल दृढ़ता खो बैठता है।

आहारशुद्धि और बीजशुद्धि का अभिमान ले कर ऊँची जातिया ने अपना अधिकार चलाया। और बाकी की जातियों को संस्कारलोप के नाम से हीन, तुच्छ और दलित बनाया। लेकिन ऐसी दयनीय और कष्ट की हालत में रहने को लोग क्योंकर तैयार हो जाय ? मुसलमान और ईसाई राज्यकर्ताओं के अन्याय और अत्याचार का समर्थन हम करना नहीं चाहते। लेकिन इस बात से इनकार हम नहीं कर सकते कि हिंदू समाज में इज्जत ■ और आराम से रहना मुश्किल है ऐसा देख कर, कई जातियाँ, धर्मांतर कर गयी। तो भी हिन्दू समाज ने उच्च नीच का भेद आज तक नहीं छोड़ा है। मानवमात्र की समानता भारतीय अध्यात्मशास्त्र स्वीकार करता है लेकिन समानता का अमल करने का आग्रह उस ने दिखाया नहीं। संतों ने असमानता का सौम्य ढंग से विरोध किया लेकिन समानता का सामाजिक आंदोलन उन की ओर से नहीं हुआ।

स्वराज्य का नाम ले कर गांधीजी ने समानता का प्रचार खूब जोरों से किया। आज भारत का राजनीतिक मानस समानता का स्वीकार करता है। आध्यात्मिक मानस समानता का समर्थन करता है किंतु सामाजिक मानस पुराने पाप को छोड़ने को तैयार नहीं है। अधिकांश जनता मानती है कि छोटे-बड़े का भाव और भेद हिंदू धर्म का प्राण है। रूढ़िवादी सनातनी विद्वान इस भाव को और जाति भेद को वैज्ञानिक मानते हैं। वैज्ञानिक परिभाषा का प्रयोग कर के इस भाव का समर्थन करते हैं। हिंदू संगठनवादी लोग हिंदू एकता की बात तो करते है किंतु मानवमात्र की एकता का प्रचार बहुत कम करते हैं। खान-पान के नियम ढीले होने के कारण और सामाजिक आर्थिक व्यवहार में क्रांति होने के कारण जाति भेद का कोई अर्थ नहीं रहा है। तो भी शादी ब्याह में और अपने पराये के भेद में जाति भेद मजबूत हो रहा है। और यह दोष जितना हिंदुओं में है उतना ही मुसलमान और ईसाइयों में पाया जाता है। मुस्लिम, ईसाई पारसी, यहूदी प्रत्येक स्वयंपूर्ण अलग अलग जातियाँ ही है। जाति भेद के भले बुरे सब लक्षण इन में पाये जाते हैं।

शुरू शुरू में सुधारकों के आंदोलन के कारण आन्तरजातीय विवाह हुए। इन में ज्यादा अनुलोम थे प्रतिलोम कम थे। अब प्रतिलोम विवाह भी होने लगे हैं।

धर्मांतर विवाह बहुत ही कम होते हैं। इन के भी अंदर उच्च-नीच भेद कैसा काम करता है यह देखने लायक है।

मुसलमानों के राज्यकाल में कई क्षत्रियों ने मुसलमानों के राज घराने में अपनी लड़कियों की शादी की। उन की राजनीतिक तरक्की हुई होगी। लेकिन

ऐसे विवाहों से समाज को बचाने के लिए हिन्दू नेताओं ने धर्मान्तर विवाहों की निन्दा की। और धर्मान्तर विवाहों को प्रतिलोम घोषित किया।

अब जब भारत में स्वराज्य हुआ है और हिन्दू लोग धर्मान्तर विवाह की निन्दा नही करते। तब कई मुसलमान और ईसाई डरने लगे हैं। वे कहते हैं कि हरएक धर्मान्तर विवाह के साथ हिन्दू समाज एक हिन्दू परिवार का पहले खोता था। क्योंकि धर्मान्तर विवाह होते ही हिन्दू समाज ऐसे दम्पति को अपने समाज से बाहर फेंक देता था। अब ऐसा नहीं हो रहा है। हिन्दू मुसलमान अथवा हिन्दू ईसाई शादी हो कर भी दम्पति हिन्दू रह सकते हैं। इस लिए मिश्रविवाहो से अब हिन्दू कम डरते हैं। मुसलमान और ईसाई थोड़े थोड़े डरने लगे हैं। स्पष्ट है कि बीजशुद्धि का सवाल अब नही रहा। अपना श्रेष्ठता का (यानी अनुलोम प्रतिलोम भेद का) और समाज सख्या घटने बढ़ने का ही सवाल मुख्य हो गया।

समन्वयवादी दृष्टि ऐसी हालत में निराग्रही रहती है। समन्वय कहता है कि मिश्र विवाह से धर्मान्तर का आग्रह नही होना चाहिए। पति और पत्नी चाहे अपने-अपने धर्म में रहें इस का विरोध नही होना चाहिए। और बच्चों के धर्म को तो उन के बड़े बनने पर उन्हीं पर छोड़ देना चाहिए। (और आज कल के बच्चे तो कहेंगे हमें तो सब धर्म प्यारे लगते हैं और आग्रह किसी का नही। भलाई का छोड़ना नही। प्रगतिशील समाज को नाराज करना नही, ऐसे ढग से हम रहेंगे। हम अपने को सब धर्म के प्रेमी मानते हैं इससे ज्यादा सोचने की जरूरत नही है।)

हमने देखा कि आफ्रिका में युरोपियन लोग अपने को सवश्रेष्ठ मानते हैं। भारतीय हिंदू आफ्रिकन लोगों से बेटी-व्यवहार तो क्या रोटी-व्यवहार भी पसन्द नही करते थे। बाद में युरोपियन लोगों की देखा देखी हमारे लोग आफ्रिकनों से घर घर रसोई बनवाने लगे और वे लोग भारतीय भोजन बनाने में अत्यन्त कुशल साबित हुए। बच्चों की सँभाल भी अच्छी तरह कर लेते है। चन्द भारतीय मर्दों ने आफ्रिकन स्त्रियों से सम्बन्ध रखा लेकिन शादियाँ करने के लिए तयार नहीं हुए।

जिस तरह अमेरिका में नीग्रो स्त्रियों के साथ गोरे लोग शादी के बिना केवल शारीरिक सम्बन्ध रखें तो भी निग्रो लोग नाराज नही होते थे। वैसा ही भारतीय लोगों के बारे में आफ्रिका में था। वहाँ की एक सभा में चन्द आफ्रिकन लोगों ने मुझ से पूछा भी कि आप लोग इस तरह सम्बन्ध रखते हैं तब स्वदेश लौटते वक्त अपनी इस मिश्र प्रजा को अपनाकर स्वदेश क्यों नहीं ले जाते ?

मैंने जो जवाब दिया उस से उन्हें सन्तोष हुआ लेकिन उस का जिक्र यहा नही करूँगा।

अब अनेक देश धीरे धीरे स्वतन्त्र होने लगे ह। अब उन लोगों का स्वमान जागत हुआ है और स्वाथ भी। अब वे कहने लगे हैं कि एशियन लोग हमारे यहाँ शादी सम्बध करें हमें पसन्द नही है। ऐसी शादियाँ हम स्वीकार नहीं करेंगे। शादी करके अफ्रिकन नागरिकता ढूँढने वालों को कोई खास सहूलियत नही मिलेगी इत्यादि।

अमेरिका में जब अफ्रिकन गुलामों को मुक्ति युद्ध के बाद स्वतन्त्रता मिल गयी तब उन्होंने पुरानी गुलामी याद करके गोरों के लिए खेती करना अस्वीकार किया। गोरे स्वय खेती कहाँ तक करें ? उन लोगों ने भारत की अँगरेज सरकार से मदद लेकर भारत से मजदूर लोग खेती के लिए मँगवाये। उन की हालत गुलामों की जैसी ही रखी। इन अर्द्ध गुलामों को हम गिरमिटिया कहते थे। इन में से अधिकाश लोग दबी हुई हिन्दूजाति के थे। हिन्दू नेता अपने देश के लोगों को इस तरह गिरमिटिया के तौर पर विदेश भेजने को तयार हुए। इसलिए हिन्दू-धम और सस्कृति के बारे में अफ्रिका और अमेरिका के काले लोगों में (और गोरे लोगों में भी) बहुत तुच्छता का खयाल घर कर बैठा है।

हम ने देखा कि अमेरिका में भारतीय लोग अपने अनाथ बच्चों का पालन स्वय न कर उन्हें ईसाइयों के सुपुर्द करते हैं। जिन लोगों के मन में ईसाई धम के प्रति आदर नहीं है वैसे हिन्दू लोग अपने समाज के अनाथ बच्चों को ईसाइयो के सुपुर्द करते हैं यह सुन कर मैंने उन के लिए जो लज्जा का अनुभव किया वह कभी भूल नही सकता।

(यहा एक बात भले ही अपवाद रूप हो लिखे बिना रहा नही जाता। बहुत वर्षों की पुरानी बात ह। दक्षिण भारत के एक बहुत विद्वान् धमप्राण ब्राह्मण सज्जन वज्ञानिकता की बातें करते थे। मैंने उन से जब जिक्र किया कि भारत के पिछड़े हुए हिन्दू हम से ऊब कर ईसाई धर्म स्वीकार करते हैं तब अपनी वैज्ञानिकता सिद्ध करते वे बोले अच्छा ही होता ह। हमारे समाज का इतना कचरा कम होता है। भले ही ईसाई लोग ऐसा कचरा जुटा लें। उन की वैज्ञानिक दृष्टि स्वराज्य का चिन्तन करने को तयार नहीं थी।)

शादियों के बारे में हमारे लोगों के आदश समय समय पर बदले हैं सही। लेकिन उस जमाने की कट्टरता उन्होंने नहीं छोड़ी। विवाह शादी एक ऐसी जबदस्त सस्था ह जिस के सामने सब धर्मों को झुकना पड़ा ह। और सब धर्मों ने इस सस्था से धार्मिक और अधार्मिक लाभ उठाया ह। केवल हिन्दुओं ने लाभ

उठाने का सच्चा रास्ता क्या है इस का विचार न करते हुए सस्ता लाभ लेने का ही रास्ता हमेशा पसन्द किया है। जो हो शादियों का सवाल तभी हल होगा जब हम सब धर्मों के प्रति और सब संस्कृतियों के प्रति (विकृतियों की बात हम नहीं करते) एक सी समान इज्जत की नजर रखें और धर्म और शादी का सम्बन्ध बनाये रखने का आग्रह छोड़ दें।

जब हम लोग आहारशुद्धि और बीजशुद्धि के नाम रोटी-बेटी व्यवहार में कट्टर थे और दूसरे लोगों को दूर रखते थे तब ऐसी कट्टरता न रखने वाला की उदारता की कदर होती थी। अब जब दुनिया के सब देश के सब लोग रोटी बेटी व्यवहार में निराग्रही बनते जा रहे हैं। हरेक देश के कट्टर लोग बेटी व्यवहार के बारे में नाराज हो रहे हैं, लेकिन जमाना उन के साथ नहीं है।

हिन्दू लोगों का एक ही नियम है जान बूझ कर और सोच विचार कर किसी भी सुधार को स्वीकार नहीं करना। परिस्थितिवश जो भी भले बुरे परिवर्तन समाज में आ जाते हैं उन को प्रथम प्रथम सहन करना बाद में उन का समर्थन करना और अपनी इस जड़ता और अबुद्धि का समर्थन करने के लिए कलि प्रभाव की दलील आगे करना। जड़ता (इनर्शिया) भी तो एक जीवन धर्म है। चैतन्य का लक्षण उस में न हो। उन्नति के लिए भले ही वह पोषक न हो, लेकिन प्रतिष्ठित अप्रतिष्ठित जीवन जीने की जिन की तैयारी है वे तो जड़ता धर्म के वश हो कर ही चलेंगे। ऐसे समाज को धार्मिक या सामाजिक नेताओं की आवश्यकता भी बहुत कम होती है। हर एक आदमी अपना अपना नेता है ही। पुराना समाजविज्ञान भले ही कहे— "सर्वे यत्र विनेतारः सर्वे पंडितमानिनः। सर्वे महत्त्वमिच्छन्ति तद् राष्ट्रं नाशम् आप्नुयात्।"

अब जिद और दुरभिमान छोड़ कर धर्मरुढ़ि की बात भी पर रख कर विवाह संस्था के बारे में हम लोगों को मानव कल्याण की दृष्टि से अध्ययनपूर्वक सोचना ही चाहिए।

(१६ नवम्बर १९६१)

गोदान की तरह कन्यादान

प्रदानमपि कन्यायाः पशुवत् कोऽनुमन्यते ?[1]

हिन्दू संस्कृति में ऐसी चन्द मान्यताएँ हैं जिन के प्रति लोगों में श्रद्धा आदर

१ भगवान श्रीकृष्ण कहते हैं जैसे पशु का दान किया जाता है वैसे कन्या का दान करने के रिवाज को अपनी अनुमति अथवा अनुमोदन कौन देगा?

अत्यन्त होते हुए भी दोषपूर्ण होने के कारण उन का त्याग ही करना चाहिए। हिंदू जाति के सामाजिक आदर्श में आवश्यक सुधार किये बिना सामाजिक मानस की कमजोरियाँ दूर नहीं हो सकेंगी। ऐसे दोषों का थोड़ा बहुत वर्णन यहां करने का विचार है। इन में एक अत्यंत लोकप्रिय और धर्ममान्य विधि है, कन्यादान की।

हिंदू समाज कन्यादान का खास बड़ा पुण्य मानता है। रिवाज के अनुसार पिता कन्या को लेकर भावी दामाद से कहता है, कि मैं ने इस कन्या का आज तक पालन पोषण किया। अब गृहस्थाश्रम चलाने के लिए आप को इस कन्या का दान करता हूँ। इस दान को स्वीकार कर के मुझ पर अनुग्रह कीजिए।

कल्पना ऐसी है कि लड़की का मालिक है पिता। अपनी चीज का दान वह चाहे जिस को कर सकता है। इसीलिए तो पुराने रिवाज के अनुसार पिता अपना कन्या को किसी बूढ़े को भी दे सकता था। और जिस की एक शादी हुई है और घर में जिस की पत्नी और बाल-बच्चे हैं ऐसे आदमी को भी पिता अपनी कन्या दे सकता था। कन्या की सम्मति लेने का सवाल था ही नहीं। कन्या तो गरीब गाय, गले में डोरी बांध कर जिसे सौंप दी उस के घर में चली जाये।

एक तरफ वेदमन्त्र कन्या को आशीर्वाद देते हैं कि पति के घर पर सम्राज्ञी (रानी) बन कर सास और श्वसुर पर राज्य करो। 'सम्राज्ञी श्वसुरे भव सम्राज्ञी श्वश्र्वां भव।' मनु महाराज कहते हैं, 'यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवता।' जहाँ स्त्रियों की इज्जत होती है उसी घर में लक्ष्मी, सरस्वती आदि देवी देवता प्रसन्नता से रहते हैं। वहीं यह भी कहा गया है—

'पिता रक्षति कौमारे भर्ता रक्षति यौवने।
रक्षन्ति स्थविरे पुत्रा न स्त्री स्वातन्त्र्यमर्हति॥'

बचपन में लड़की की रक्षा पिता करते हैं। शादी होने पर पति रक्षक बनते हैं और बुढ़ापे में उस का अपने बच्चे के अधीन रहना पड़ता है। स्त्री के लिए आजादी नहीं है। न स्त्री स्वातन्त्र्यमर्हति।' यह सारी गड़बड़ी दूर करनी चाहिए और स्त्री-पुरुष की समानता मंजूर करनी चाहिए। जो भी धार्मिक विधि स्त्री के समान अधिकार में बाधक हो उसे हटाना चाहिए।

हमारे समाज में विवाह विधि का विधान गृह्य-सूत्रों में और स्मृतियों में पाया जाता है। इन के अलावा हरक समाज में अपने खास भले-बुरे रस्म रिवाज होते हैं। कन्या का विवाह माता पिता के लिए चिन्ता का विषय होता है। खर्चा अनहद होता है। तरह-तरह के वाहियात और आपत्तियोग्य रिवाज भी प्रचलित हैं। ऐसे सारे जंगल को दूर कर के शुद्ध धार्मिक विवाह विधि तयार

करने का काम गांधीजी ने मुझे सौंपा। मैं ने महाराष्ट्र के वाई (गांव) के एक उत्तम चरित्रवान् विद्वान् संस्कृत पण्डित नारायण शास्त्री मराठे की मदद ली। देश में प्रचलित विवाह विधि की पुस्तकें मँगवा ली और एक शास्त्रमान्य विधि तयार की। आश्रम के अंतेवासी थी विनोबाभाव नारायण शास्त्री के पास ही संस्कृत सीखते थे। उन से भी मशवरा कर के विवाह विधि निश्चित कर के गांधी जी को सौंप दी।

कन्यादान की बात मुझे पसन्द नहीं थी। इसीलिए मैं ने शास्त्रों में भी इस का कोई विकल्प है या नहीं ढूंढना शुरू किया। ऐसा विकल्प मुझे मिला, जिसे 'समाश्रय विधि' कहते हैं। इस विधि में पिता कन्या का दान नहीं करता किन्तु विवाह के लिए पिता की अनुज्ञा लेना जरूरी माना है।

इस समाश्रय विधि में शादी करने का इच्छुक युवक कन्या के पिता के पास जाकर कहता है—धर्म, अर्थ, काम इस त्रिविध पुरुषार्थ की सिद्धि के लिए मैं गृहस्थाश्रम में प्रवेश करना चाहता हूं। धर्म, अर्थ, काम की प्राप्ति में आप की कन्या का सहारा (समाश्रय) लेने की मेरी इच्छा है।

पिता भावी दामाद की योग्यता की जाँच-पड़ताल करके दामाद को अनुज्ञा देने के पहले कहता है कि धर्म, अर्थ और काम के सेवन में इसी के साथ निष्ठा रखने का वचन दे दो और कहो कि इस में कन्या का नहीं ठगूँगा इस का द्रोह नहीं करूंगा, अतिचार नहीं करूँगा, बेवफा नहीं बनूंगा।

दामाद अपनी जिम्मेवारी पहचान कर तीन दफे वचन देता है नातिचरामि, नातिचरामि, नातिचरामि। तब पिता दामाद को कन्या का पाणि ग्रहण करने की, जीवन साथी के तौर पर स्वीकार करने की अनुज्ञा (इजाजत) देता है।

कन्यादान और समाश्रय दोनों प्रकार की विधि लिख कर मैं ने महात्माजी को दे दी और कहा, कि मुझे तो कन्यादान का यह तरीका मान्य नहीं है। समाश्रय विधि अच्छी है।'

गांधीजी ने दोनों विधियों का दख कर (और दोनों को एक ओर रख कर) अपनी ही एक विधि हिन्दी में लिख कर तयार की जो गांधीजी की किताब में दी गयी है।

उस में गांधीजी हम से भी एक कदम आगे बढ़े हुए पाये जायेंगे।

गांधीजी की विधि में कन्या के माँ बाप को कोई स्थान ही नहीं। एक अच्छा पुरोहित वर और कन्या को विवाह सम्बन्ध का महत्व और उस की पवित्रता समझाता है और दोनों से एक साथ प्रतिज्ञा करवाता है। इस में पति-पत्नी की समानता का स्वीकार दोनों ओर से किया जाता है।

वर और कन्या दोनों की प्रतिज्ञा सुनने के बाद पुरोहित उपस्थित समाज के सामने घोषित करता है कि इन दोनों को विवाह के बंधन में बांध देता हूँ। तब समाज के प्रतिनिधि—उपस्थित सज्जन इस विवाह को अपनी मान्यता देते हैं।

अब हमारी सिफारिश है कि कन्यादान का रिवाज छोड़ कर लोग विवाह के समय या तो समाश्रय विधि से विवाह करावें, अथवा महात्मा प्रणीत विवाह विधि को मान्य करें।

गान्धीजी की विधि में नीचे की बातें स्पष्ट रूप से आती है।

पति पत्नी स्वस्थ चित्त होकर समाज धर्म का स्वीकार कर समझ लें कि गृहस्थाश्रम केवल विषय सुख के लिए और भोग के लिए नहीं है। पति पत्नी धर्मभाव से त्यागभाव से और सेवाभाव से उस में प्रवेश करें। दोनों एक दूसरे के सेवाकार्य में विक्षेप न डालें। लेकिन एक दूसरे की मदद करें। एक-दूसरे के प्रति मन वचन, कर्म से निष्ठावान रहें। अस्पृश्य माने जाने वाले लोगों के साथ रोटी-बेटी व्यवहार को विहित मानें। स्त्री पुरुष के समान अधिकार का स्वीकार करें। दम्पती (पति पत्नी) के बीच मित्र का सम्बन्ध रहे न कि दास दासी का।

एकपतिव्रत और एकपत्नीव्रत इस में आ ही जाता है। ऊपर जो समाज धर्म का जिक्र आया है उस में संयम सफाई, भूमि सेवा जलाशय सेवा, वनस्पति सेवा, गौ सेवा और धार्मिक विद्याध्ययन सप्तपदी के स्थान आ जाते हैं।

यह भी ध्यान में रखने की बात है कि गान्धीजी की विवाह विधि में जातिभेद, वर्णभेद और धर्मभेद बीच में नहीं आते।

हिन्दू धर्म की यह भूमिका नहीं है कि हमारा धर्म ही सच्चा है और बाकी के गलत हैं। सब धर्मों के प्रति सद्भाव रख कर हिन्दू धर्म ने सब धर्मों का एक विश्व कुटुम्ब माना है। इसलिए वर्णभेद, धर्मभेद, पन्थभेद शादी को नहीं रोकते। शादी करने वाले स्त्री-पुरुष इतना जरूर देखें कि एक दूसरे का रहन सहन, धन कमाने का, और जीवन का आदर्श परस्पर अनुकूल है या नहीं।

(१ फरवरी १९६६)



स्त्री-जीवन और क्रान्ति

भविष्य काल उन का है

परिस्थिति की कठोर परीक्षा में से निकला हुआ एक वर्ग हमारे साथ रहता है। आज लोग उसे 'अबला' के नाम से पहचानते हैं। लेकिन एक समय ऐसा जरूर आने वाला है, जब संसार को यह महसूस हुए बिना नहीं रहेगा कि आज की अबला भविष्यकाल की शक्तिस्वरूपिणी है। उस ने आज तक बहुत कुछ तकलीफें सह कर सहानुभूति पायी है। जीवन-कलह से कुछ हद तक मुक्त रह कर उस ने कोमल भावनाओं का विकास कर लिया है। नम्र बन कर साम्राज्य भोगने की' कला उस को साध्य हुई है। भविष्य काल जरूर उसी का है।

किन्तु स्त्रियों की तपश्चर्या अभी अपूर्ण है। उन की दृष्टि संकुचित है। प्रेम सम्बन्ध का क्षेत्र भी संकुचित है। कुछ हद तक जीवन पराधीन और अति सहन की वजह से उन की वृत्तियाँ कुछ विकृत भी हुई हैं। इस हकीकत की ओर हमें आँखें नहीं मूँदना है। माता की हैसियत से उन का स्थान शिक्षिकाओं के समान है। लेकिन इस स्थान में वे अभी तक अधिक चमकती हुई नहीं दिखाई दे रही हैं। भगिनी की हैसियत से पुरुषों में कोमल तेजस्विता और पवित्र निष्ठा पैदा करने का काम उन्होंने अब तक हाथ में नहीं लिया है। स्त्री की हैसियत से सहधर्मिणी के स्थान पर वे अभी तक विराजमान नहीं हुई हैं। और कन्या की हैसियत से उन के द्वारा परम मंगला चितिस्वरूपिणी आदिशक्ति का भी दर्शन हमें नहीं हो रहा है।

यह सब करने के लिए उन्हें नयी दीक्षा लेनी चाहिए। वह खुद दीक्षा ले और संसार को शीतल त्याग का उत्साहयुक्त आत्मबलिदान का पाठ दें। भविष्य काल उन का ही है।

(दिसम्बर १९१३)

हि दू कानून में परिवतन हो रहा ह। इस में ज्यादातर कोई नया परिवतन नही ह। हिदू कानून में समय समय पर जो परिवतन हो चुका ह उसी की एक सुलभ सहिता बनाने के लिए हिन्दू कोड बिल बनाया गया ह। एकपत्नीव्रत और एक पतिव्रत का सुधार महत्त्वपूण ह। जो समाज के नेताओ की तरफ से करीब सौ वष हुए पुरस्कृत होता आया है। हिदू कुटुम्ब में पुत्र और पुत्री दोना के अधिकार समान हों, यह भी उल्लेखनीय सुधार ह।

जब कभी एसे सुधार की बात आती ह तब रूढिवादी होहल्ला मचाते हैं कि हिदू धम और हिदू सस्कृति पर कुठाराघात हो रहा है। सुधारवादी लोग इस का जवाब तो देते ह लेकिन डर है कि दोनों पक्ष के लोग समाज धारणा के मूलभूत सिद्धान्त क्या ह और क्या होने चाहिए इस का आमूलाग्र विचार नही करते।

कुटुम्ब और समाज में स्त्री का स्थान क्या हो—यह सवाल केवल हिदुओ के लिए नही केवल भारत वासियों के लिए नही कितु समस्त मानवजाति के अतगत जितने भी भिन्न भिन्न समाज ह उन सब के लिए अत्यन्त महत्त्व का है।

स्त्री पुरुष मिल कर के कुटुम्ब होता ह। उन के सहयोग से ही प्रजोत्पत्ति होती है। बच्चों को माँ से केवल नौ महीने की गभगत परवरिश ही नही, केवल दूध का आहार ही नही किन्तु जीवन के अत्यन्त महत्त्व के सस्कार भी मिलते ह। सन्तान उत्पत्ति से लेकर समाज धारणा तक सब प्रवृत्तियों में स्त्री का हिस्सा पुरुषो स तनिक भी कम नही ह अधिक ही होगा। ऐसा होते हुए भी व्यवहार ने कानून ने धमशास्त्र ने और मोक्ष शास्त्र ने भी स्त्रीजाति का स्थान गौण बनाया था। फलत स्त्रीजाति को हर तरह के अन्याय और कठिनाइयाँ सहन करनी पडी हैं और स्त्रीजाति की ऐसी दु स्थिति के कारण मानव जाति के हर एक समाज को भी नुकसान पहुँचा ह। इस लिए कुटुम्ब म और समाज में स्त्रियों का स्थान और अधिकार कसा होना चाहिए इस बार में अब नये सिरे से सोचने का अवसर आया ह।

वेदा न कहना ह कि स्त्री पुरुष दानो के हृदय में एक ही आत्मा का वास ह। आत्मिक दृष्टि से देखा जाये तो दोनो में तनिक भी भेद नही ह।

पुरुष की शक्ति से—मानवाओं की उत्कटता की दृष्टि से देखा जाये तो स्त्रियों का विकास पुरुषों की अपेक्षा अधिक हुआ है।

मानव-कल्याण के चिन्तन की दृष्टि से मौका के बाद हम तुलना नहीं कर सकते। इस लिए कि व्यापक दृष्टि से शासन का मौका ही स्त्री-जाति को कम मिला है। लेकिन जब-जब कुछ मौका मिला है तब स्त्री जाति ने सर्वहित की दृष्टि ही प्रधान रखी है।

भारत का पिछले सौ वर्ष का इतिहास हम देखें तो जातिवाद और सम्प्रदायवाद का जहर स्त्रियों में कम पाया गया है। कुछ भी हो हमारे राष्ट्र ने अब निश्चय किया है कि स्त्री और पुरुष का दरजा हर बात में समान होना चाहिए।

पैतृक सम्पत्ति का कुछ हिस्सा अगर लड़की ले जायगी तो हर एक बहू अपने पिता का कुछ हिस्सा अपने पति के यहाँ भी ले आयेगी।

स्त्रियों के सिर पर दो विशेष भार हैं—गर्भधारण का और बच्चों की शारीरिक मानसिक और आध्यात्मिक परवरिश के लिए घर चलाने का। गृहस्थाश्रम का आधार ही पुरुष की अपेक्षा स्त्री पर अधिक है।

अगर श्रम विभाग का तत्व माना जाये तो कमाने का सर्वाधिकार भले ही पुरुष अपने हाथ में रखे किन्तु घर की सम्पत्ति को सभालने का और गृहस्थाश्रम के आदर्शों के अनुसार कौटुम्बिक सम्पत्ति को व्यय करने का अधिकार स्त्रियों का होना चाहिए।

अगर लड़कियों की शिक्षा का प्रबन्ध अलग करने की सोचा जाये तो लड़कियों के अभ्यास क्रम में हिसाब किताब लिखने का और वार्षिक अन्दाज-पत्रक (बजट) बनाने का विषय उस में जरूर होना चाहिए। कुटुम्ब व्यवस्था सुन्दर ढग से चलाने का शास्त्र केवल शोभा की दृष्टि से नहीं लेकिन कुटुम्ब के और समाज के विकास की दृष्टि से सिखाना चाहिए।

समाज रचना के मूलभूत सिद्धान्त और राज्यतन्त्र के बुनियादी सिद्धान्त भी लड़कियों को आवश्यक रूप से पढ़ाने चाहिए। व्यक्तिगत तथा सामाजिक मानस शास्त्र भी स्त्री शिक्षा का एक आवश्यक अंग हो।

बच्चों की परवरिश के साथ आरोग्य शास्त्र भी लड़कियों के शिक्षा-क्रम में रहना चाहिए।

डर बताया जाता है कि अगर स्त्रियों को पुरुषों के समान पूरी पूरी शिक्षा दी जाये उन्हें पैतृक सम्पत्ति का समान अधिकार मिल जाये और साथ साथ विवाह विच्छेद और पुनर्विवाह का रास्ता आसान किया जाये तो विवाह संस्था

ढीली हो जायेगी, सामाजिक सद्गुणों का अच्छा विकास नहीं होगा और संस्कृति खतरे में पड़ जायेगी ।

यह डर व्यर्थ है । मनुष्य स्वभाव में जो अच्छे तत्त्व दृढमूल हैं उन के प्रति जिन के मन में नास्तिकता है वे ही ऐसा डर मन में ला सकते हैं ।

पूर्ण स्वातन्त्र्य के साथ जो सद्गुण निभ सकते हैं वे ही सच्चे सद्गुण हैं । जबरदस्ती लादे हुए सद्गुण मनुष्य के विकास में मदद नहीं कर सकते ।

मानव जाति ने आज तक जो सांस्कृतिक विकास किया है वह स्वतन्त्रता के वायुमण्डल में ही किया है ।

इस लिए समाज में स्त्रियों का अधिकार पुरुषों से तनिक भी कम नहीं होना चाहिए । अगर भेद करना ही है तो स्त्रियों को हम कुछ ज्यादा अधिकार दे सकते हैं क्योंकि मानवता का द्रोह पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियों ने कम किया है ।

स्त्रियों की जो कमजोरियाँ बतायी जाती हैं वे सही भी हों तब भी विकास के लिए पूरा अवकाश मिलते ही वे आसानी से दूर हो जायेंगी । स्त्रियों के जो दोष या कमजोरियां बतायी जाती हैं उन में से एक भी स्वभावगत नहीं है । परिस्थिति के कारण ही वे दोष आते हैं । और ऐसे दोष वैसी परिस्थितियों में पुरुषों में कम नहीं आते ।

(दिसम्बर १९५५)

स्त्री जाति का पिछड़ापन

भारत सरकार ने एक कमीशन नियुक्त कर के उसे आदेश दिया कि हरिजन (अछूत) और गिरिजन (पहाड़ी और दूसरे आदिवासी) के अलावा दूसरी कौन कौन सी जातियाँ या वर्ग शिक्षा की दृष्टि से और सामाजिक हैसियत से पिछड़ी हुई मानी जायें । उस का कुछ मानदण्ड बनाया जाये और ऐसी जातियों की और वर्गों की एक फेहरिस्त बनायी जाये । इस कमीशन की नियुक्ति के पहले भिन्न भिन्न राज्यों की सरकारों की मदद से भारत सरकार ने अपनी एक कामचलाऊ फेहरिस्त प्रकाशित की ही थी और उस के मुताबिक उन जातियों को मदद देना शुरू भी किया था जो आज भी चालू है । यह फेहरिस्त जाति के आधार पर बनायी हुई है । स्वाभाविक था कि कमीशन ने अपनी फेहरिस्त भी जाति के आधार पर बनायी ।

लेकिन भारत सरकार को और कांग्रेस को आत्मनिर्भर मिटाना है। इस लिए भारत सरकार ने चाहा था कि कमीशन अपनी फेहरिस्त जाति के आधार पर न बनाये। आर्थिक आधार पर फेहरिस्त न बनाने का भी शुरू से आदेश था। जैसा हो सका कमिशन ने अपनी रिपोर्ट दे दी। और फेहरिस्त भी बना कर दे दी। फेहरिस्त में अनेक जातियों के नाम दिये हैं। लेकिन उन में स्त्रीजाति का शुमार नहीं किया है। फिर अपनी रिपोर्ट में कमिशन ने कहा है कि स्त्री जाति को पिछड़ी हुई समझ कर उसे हर तरह मदद और प्रोत्साहन देना चाहिए।

कमिशन के अध्यक्ष की हैसियत से मैं ने कुछ सुझाव पेश किये हैं और पिछड़े और न पिछड़े की पहचान के लिए कुछ सिद्धान्त बनाये हैं। उस में भी मैंने बताया है कि नारी जाति को पिछड़ा वर्ग समझना चाहिए और उन में से जिन की माली हालत खराब है उन्हें खास मदद देनी चाहिए।

भारत सरकार ने इस बात पर आश्चर्य प्रकट किया है कि हम ने स्त्रीजाति को पिछड़े वर्ग में शुमार किया है। यह तो ठीक। लेकिन मेरे परिचय की दो महिलाओं ने, जो मेरे लिए लड़की के समान हैं, मेरे पास शिकायत की है कि 'काकासाहब आपने हम लोगों को पिछड़े वर्ग में शुमार किया। लोगों में हमारी हँसी होती है।' एक ने कहा कि, अच्छा पिछड़े वर्ग में शुमार होकर हमें कोई अच्छी मदद मिले तो गनीमत।'

इस तरह जब स्त्री जाति की ओर से ही आश्चर्य प्रकट हो रहा है तब मुझे अपनी दृष्टि देश के सामने फिर से रखनी चाहिए।

जब मैं स्त्रीजाति का विचार करता हूँ तब औरों की तरह मेरे मन में केवल मध्यम वर्ग की महिलाएँ नहीं आतीं जिन की माली हालत अच्छी है। जो कुछ पढ़ी लिखी भी है। अपने बच्चों को अच्छे संस्कार देती है। बड़ी खूबी से अपने अपने घर चलाती है और सभाओं की शोभा बढ़ाती है। ऐसों की संख्या है कितनी? और क्या इस छोटे से वर्ग में भी कुछ न कुछ पिछड़ापन नहीं है? पार्लियामेंट में ही देखिए। जहाँ प्रजा के सात आठ सौ नुमाइंदे बैठते हैं वहाँ स्त्रियों की संख्या कितनी है? लोक संख्या के अनुपात से देखा जाय तो स्त्रियों की संख्या कम से कम आधी होनी ही चाहिए। आज उन की संख्या फीसदी दस की भी नहीं है। जिस तरह हरिजन, गिरिजन और कुछ अल्पसंख्यक वर्ग की खास चिन्ता रख कर उन्हें पार्लियामेंट में स्थान दिया जाता है उसी तरह अब की बार कांग्रेस ने निश्चय किया है कि अगले चुनाव में जहाँ तक हो सके स्त्रियों को अधिक स्थान दिये जायें। श्री जवाहरलालजी ने जब इस बात की ताईद की तब हँसते हुए उन्होंने कहा कि शुरू शुरू में स्त्री सदस्याएं झगड़ा करेंगी

बिगड़ बढ़ेंगी। वह सब हम बरदाश्त करना होगा। आगे जाकर परिस्थिति सुधर जायेगी।

इस से यही साबित होता है कि उच्चवर्गीय पढ़ी हुई स्त्रियां भी चन्द बातों में पिछड़ी हुई ही हैं।

हरिजनों को पिछड़ी हुई जाति कहते वक्त हम जानते हैं कि उन की जाति में भी बड़े बड़े सन्त हुए हैं और आज डा० अम्बेडकर और जगजीवनराम जैसे राष्ट्रनेता उस जाति में हैं। मुट्ठी भर लोगों की प्रगति पर से हम किसी जाति को उन्नत जाति नहीं कह सकते।

भारत की जनगणना की पचास साल की रिपोर्ट देख लीजिए और शिक्षा का प्रमाण पुरुषों में कितना है और स्त्रियों में कितना है इस देख लीजिए। घर चलाना, मजदूरी करना, बीमारों की सेवा करना और गाना-बजाना इतनी बातों में स्त्रियां पुरुषों की बराबरी कर सकती हैं। लेकिन इस में भी स्त्री जाति अगर पिछड़ी हुई नहीं होती तो समान काम के लिए उन्हें पुरुषों से कम स्वीकृति क्यों मिलती है? घर के कर्ता पुरुष के मर जाने पर उस की विधवा की और घर की दूसरी स्त्रियों की हालत कैसी होती है इस का खयाल अगर किया जाये तो स्त्रियों का पिछड़ापन सिद्ध करने के लिए दूसरा सबूत नहीं देना पड़ेगा।

जिन जातियों का पिछड़ापन सब लोगों ने मान्य किया है उन की स्त्रियाँ पिछड़ी हुई हैं ही। लेकिन जो जातियाँ पिछड़ी हुई नहीं हैं उन में भी स्त्रियों की हालत स्त्री होने के कारण ही बहुत बुरी होती है।

दर्द की बात यह है कि उच्च वर्ण की स्त्रियाँ जब स्त्रियों की बात सोचती हैं तब अपने वर्ग के बाहर की स्त्रियों का सोचती ही नहीं।

कुदरत ने ही जिन को अलग जाति बनाया उन का एक जाति होना स्वयं सिद्ध है। अगर सारी स्त्रीजाति का एकजाति होना हम मंजूर करें तो हम कैसे कह सकते हैं कि यह जाति पिछड़ी हुई नहीं है?

संस्कृत नाटकों में देखिए। राजा, ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य आदि सब संस्कारी लोग संस्कृत में बोलते हैं। शूद्र, धीवर, शिकारी आदि पिछड़ी हुई जातियाँ और स्त्रीजाति प्राकृत में बोलती हैं। फिर वह सीता या शकुन्तला ही क्यों न हो।

वेदों में और उपनिषद् काल में स्त्रियाँ पिछड़ी हुई नहीं थीं। वे संस्कृत में ही बोलती थीं।

वेदकाल में स्त्रियों का उपनयन होता था। बाद में वह बन्द हो गया। उन का लिखना पढ़ना भी रुक गया। धर्म विधि करने का उन का अधिकार भी नहीं रहा। मनु ने तो जाहिर ही कर दिया—'न स्त्री स्वातन्त्र्यमर्हति' स्त्री को

पुरुष को माँ रहा बताया गया। पानी की प्रथा और ओढ़ने की प्रथा भी इसी बात का सबूत है।

जिस तरह आजकल हम चोरों का इल्जाम नहीं लगाते उसी तरह प्राचीन काल में स्त्री को अपराधी नहीं समझते थे। स्त्रियों का तिरस्कार सर्वविदित है। [illegible] के लिए ऐतिहासिक सबूत देकर इसे सिद्ध करने की आवश्यकता नहीं है। गान्धीजी ने सही कहा था कि स्त्रियों की पिछड़ी हालत में रख कर हिन्दू धर्म ने लकवा मोल लिया है।

हमारी प्रार्थना इतनी ही है कि सारे देश में स्त्रियों की हालत अच्छी तरह सुधारने की आवश्यकता है। राष्ट्र की आधी जन संख्या का विकास नहीं होने देना यह कोई बुद्धिमानी का लक्षण नहीं है। हरिजन, गिरिजन के साथ स्त्रीजन का सवाल भी राष्ट्रीय सवाल बना कर उस का हल राष्ट्रीय पैमाने पर करना चाहिए।

लिखी-पढ़ी हुई और सरकारी स्त्रियों को चाहिए कि वे अपने को विशाल स्त्री समाज से अलग न मान कर, अलग न रह कर सब की उन्नति के लिए कोशिश करें और उन का भाई हितचिन्तक स्त्रीजाति की पिछड़ी आन्दोलन में सम्मिलित करें तो उन का बुरा न मानें।

(दिसम्बर १९६१)

स्त्री-जीवन और क्रान्ति

संस्कृत में जो अनकानक भक्तिप्रधान स्तोत्र हैं उन में सब से सुन्दर और लोकप्रिय है मुकुन्दमाला। भाषा, भाव और मनोहर वृत्तों की विविधता—सब कुछ अच्छा है। उस में राजा कुलशेखर एक जगह कहता है— भगवन्! जहाँ लोगों को खान-पीने का ठीक से नहीं मिलता और लोगों का जीवन सुरक्षित भी नहीं, ऐसे कुदेश में मेरा जन्म न हो। मेरे मन में कुभाव न हो। मुख में कुसत्य न हो। ऐसी प्रार्थना के आगे कहता है, 'मा मे स्त्रीत्वम्। स्त्री का जन्म मुझे न हो। हर एक जन्म में मैं विष्णु भक्त ही बनूं।' इस भक्त को वह विष्णुभक्त भले बने किन्तु, इस स्त्री जन्म का इतना डर क्यों रहा?

कहते हैं इस्लाम में कहा है 'स्त्री जाति के लिए उद्धार नहीं है।' पुराने ईसाई धर्म में भी ऐसी ही भावना है।

बुद्ध भगवान् को जन्म देते ही उन की माँ की मृत्यु हुई। उन को मौसी ने ही

बालक गौतम का पालन पोषण किया। बाद में जब बुद्ध भगवान धर्म का उपदेश देते देश में घूमने लगे और हजारों नवयुवक—राजपुत्र से लेकर नाई तक—उन से दीक्षा लेकर निर्वाण की साधना करने लगे, तब वही पवित्र हेतु मन में रख कर कई राजकन्याओं के साथ बुद्ध भगवान की मौसी महा प्रजापति उन के पास दीक्षा माँगने आयी। तथागत बुद्ध भगवान् ने स्त्रियों को दीक्षा देने से इनकार किया। उन्होंने बार बार याचना की लेकिन परम-कारुणिक धर्मराज बुद्ध का चित्त पसीजा नहीं। तब बुद्ध भगवान के प्रिय शिष्य आनन्द ने वही प्रार्थना फिर से की। सफलता न मिली। तब आनन्द ने पूछा, 'क्या, तथागत की राय में स्त्रियों के लिए मोक्ष नहीं है? वे निर्वाण की अधिकारिणी नहीं हैं?' बुद्ध भगवान् को कहना पड़ा, 'ऐसा तो नहीं है। उन को भी पूरा अधिकार है। तुम्हारा इतना आग्रह है तो, चलो मैं इन को दीक्षा देता हूँ। लेकिन याद रखो, कि मेरा धर्म अगर हजार बरस टिकता तो स्त्रियों को भिक्षुसंघ में स्थान देने से वह पाँच सौ बरस ही टिकेगा। मैं उन्हें संघ में तो लेता हूँ लेकिन उन के लिए कड़े नियम बनाऊँगा। और संघ में ज्येष्ठ से ज्येष्ठ भिक्षुणी का स्थान नये से नये बच्चे पुरुष भिक्षु से भी नीचा रहेगा।" बुद्ध भगवान ने इस तरह स्त्रियों को संघ में लिया। कई भिक्षुणियों की कीर्ति आज तक हम सुनते हैं। निर्वाणप्राप्ति के बाद उन के मुँह से जो धर्मोद्गार निकले वे थेरीगाथा में ग्रथित हैं। लेकिन आज सिलोन आदि देशों में भिक्षुणीसंघ नहीं हैं।

स्त्री जाति के प्रति इन धर्मात्माओं का इतना हीनभाव क्यों? कोई कहता है कि स्त्री जाति के स्वभाव में मोक्ष का माद्दा नहीं है।

पुराने लोगों की बात छोड़ दीजिए। वन्दे मातरम् का गीत बनाने वाले बाबू बंकिमचन्द्र तो आधुनिक बंगाली साहित्य के एक शिरोमणि! उन के किसी उपन्यास में आता है—"मामूली व्यवहारधर्म के पालन में स्त्री पुरुष की सहधर्मचारिणी है वा सही किन्तु सर्वोच्च धर्म में, मोक्षधर्म में वह विघ्नरूप ही है।" तो क्या स्त्री सचमुच निम्नकोटि का प्राणी है जो थोड़े अपवादों को छोड़ दें तो सर्वोच्च आदर्श तक उठ नहीं सकता?

कई बुजुर्ग कहते हैं कि 'स्त्री दाक्षिण्य के इन दिनों में साफ-साफ कहना आसान नहीं है लेकिन अनुभव तो कहता है कि दुनिया में कहीं भी देखें, स्त्री स्वभाव में दुनियादारी ही विशेष है। स्त्री अपने कौटुम्बिक क्षेत्र के बाहर देख नहीं सकती। दुनिया के उन्नत अवनत किसी भी समाज को ओर देखिए, बुद्धिमत्ता और नेतृत्व पुरुषों का ही है।"

मैं ने इस जवाब पर खूब सोचा। उन की बात कुछ हद तक सही है, किन्तु

दिल मानने को तयार नही होता कि पुरुषो को अपेक्षा स्त्रियो की योग्यता निसगत कुछ कम ह। हम ने देखा कि कुदरत ने स्त्री जाति को माता की पदवी दी है, बच्चो को ज म देने का और उन की परवरिश करने का भार उस पर रखा ह और इसीलिए कई सर्वोच्च सदगुण स्त्रियो के लिए सहज ह। मनुष्य का छोड कर बाकी के प्राणियो में बच्चो की रक्षा के लिए लडने का, जुनून (जोश) भी मादा में अधिक ह।

लेकिन मनुष्य रहा बुद्धिमान प्राणी। उस की सामाजिकता विशेष ढग की रही। माता ने देखा कि अपने बच्चो को, और प्राणियो की तरह केवल माता स सस्कार मिलें इतना पर्याप्त नही ह। बच्चा को पिता का सहवास भी काफी समय तक जरूरी ह। माता न बच्चा क हित पुरुषो की खुशामद कर के उ हें अपने साथ रखा और परिवार बना कर उस में अपने लिए गोण स्थान मजूर किया। स्त्री ने अपन इस मातत्व क कारण ही पुरुष को प्रधान स्थान दिया।

प्राचीनकाल का इतिहास दखते मालूम होता ह कि किसी समय दुनिया में कही कही स्त्री प्रधान समाज यवस्था भी थी। बच्चे माता के नाम से पहचान जाते थे। स्त्रियाँ राज्य भी करती थी। और युद्ध में लडती भी थी। लेकिन स्त्रीप्रधान समाजव्यवस्था टिक न सकी। बच्चा की परवरिश का अपना मातधम सँभालन क लिए स्त्री ने बहुत कुछ त्याग किया। उस के साथ समाज का नेतत्व पुरुषो को दे कर वह अनुयायी बनने को भी तयार हुई।

स्त्रियो ने समाज का नतत्व छोडा उस के साथ युद्ध करन की बबरता भी छोड दी। नया पीढी का ज म देनवाली और अपने सीने का दूध पिलान वाली स्त्री मनुष्य की हत्या करन क लिए तयार कैसे हो सके?

पुरुष ने स्त्री को आश्रित बनाया। घर के बाहर क क्षेत्र से उसे वचित रखा। सर्वाङ्गीण विकास का मौका ही उसे न रहन दिया। हजारों बरस तक यह व्यवस्था चली। और अब पुरुष स्त्री से कहता ह कि तुम्हारी योग्यता ही कम ह। कुदरत न ही तुम का पुरुष की आश्रित बनाया है। मनु भगवान् कहत हैं कुमारी अवस्था म स्त्री का रक्षा उस का पिता करता ह यौवन के बाद पति और वृद्धावस्था में उस का लड़का अपनी माँ को सभालता है। इसलिए न स्त्री स्वातन्त्र्यमर्हति स्त्री को स्वत त्रता का अधिकार ह नही।

किसी भी आत्मा को अगर दीघकाल तक पराजित परावलम्बी और गुलाम बना कर रखा तो एसी कृत्रिम स्थिति क कारण और प्रतिकूल परिस्थिति में यथाशक्य बचन के लिए उसे मक्कारी और असत्य जैसे साधना का उपयोग करना ही पडता ह। धनमत्त और अधिकारमत्त असामाजिक वृत्ति क मनुष्य क

हाथ के नीचे जिसे लाचारी से रहना ही पड़ता है वह निष्ठा से नौकरी करते हुए भी कभी कभी मालिक को ठगेगा ही। पकड़े जाने पर झूठ भी बोलेगा। साहस और कठोरता उस में आये बिना नहीं रहेगी। गुलाम को अगर जीना है तो इन वृत्तियों का सहारा लेना ही पड़ता है। (मराठी भाषा में गुलाम शब्द का एक अर्थ होता है होशियार चालाक, धूर्त और लुच्चा। ऐसे गुण वाले अपने लड़के की क़दर करने के लिए कभी कभी पिता कहता है "अजी! मेरे लड़के को बुद्धू न समझिए। ऐसा गुलाम है कि आप को भी बनायेगा।")

स्त्रियों को पराधीन रखने के बाद समाज ने स्त्रियों के दुर्गुणों की फेहरिस्त बनाने वाला एक श्लोक बनाया—

"अनृतं साहसं माया मूर्खत्वमतिलोभता।
अशौचं निर्दयत्वं च स्त्रीणां दोषाः स्वभावजाः॥"

स्त्रीजाति के प्रति अन्याय कर के उन्हें जिस स्थिति में रखा और ऐसी स्थिति के कारण, उन में जो दोष आ गये उस का सच्चा कारण न ढूँढते हुए 'स्त्रियों के ये स्वभावगत दोष हैं' ऐसा पुरुषस्वभाव ने निर्णय किया। बलिहारी है उन की तर्कशक्ति की!

लेकिन अन्याय की स्थिति सदा के लिए टिक नहीं सकती। एक स्वतन्त्र जाति दूसरी स्वतन्त्र जाति के प्रति अन्याय कर सकती है। किन्तु स्त्री और पुरुष परस्पर पूरक हैं। उन का एक दूसरे के बिना चल नहीं सकता। स्त्रियों की दुःस्थिति का फल पुरुष को भी भुगतना पड़ता है और समाज को पक्षाघात (लकवा) मार जाता है। पुरुष ने अपने स्वार्थ के लिए ही स्त्री को शिक्षा देना शुरू किया। अपने काम में उस की सहायता लेने में लाभ देखा। प्रेम के कारण ही या काम के कारण ही वह स्त्री का पूजक बना। और पुरुष कैसे भूल सकता है कि एक स्त्री के पेट में ही उस को जन्म लेना पड़ता है? मातृभक्ति मनुष्य के लिए सहज है। स्त्री की आत्मसमर्पणयुक्त सेवा देख कर अच्छे पुरुष के मन में भी स्त्री के प्रति आदर पैदा होता है।

और अब तो स्त्री स्वातन्त्र्य का जमाना ही आ गया। स्त्रियों को अब बाकायदा शिक्षा मिलने लगी है। घर संसार चलाने उन के अधिकार समान होने लगे हैं। राज्यव्यवस्था में स्त्रियों को वोट देने का अधिकार भी मिला है। श्रमजीवी वर्गों में स्त्री भी मेहनत मजदूरी कर के कमाती है। इसलिए वह पुरुषों की आश्रित नहीं है। सामाजिक जीवन में बड़ा ही परिवर्तन हो रहा है। समाज कल्याण के कार्यक्रम स्त्रियों के हाथ में आ रहे हैं। पहले पहल स्त्रियों ने

परिचारिका—नर्स का काम सोंपा। अब वे डॉक्टर बनने लगी हैं। शिक्षिका, अध्यापिका और लेखिका बन कर समाजहित के चिंतन में अपना हिस्सा ले रही हैं। राजकाज में स्त्रियों की योग्यता पुरुषों से कम साबित नहीं हुई है।

और ब्रह्मविद्या में तो जब तक मैत्रेयी और गार्गी वाचक्नवी के नाम कायम रहेंगे। स्त्री जाति की योग्यता सिद्ध रहती ही है। पश्चिम में महिलाएं अब स्वतन्त्र रूप से अनेक क्षेत्रों में काम कर रही हैं। पिछड़े हुए मुसलमान समाज में भी स्त्रियाँ अब स्वतन्त्र रूप से सोच रही हैं।

अब स्त्रियों को पुरुषों के पीछे-पीछे चलने की अपनी आदत छोड़ कर स्वतन्त्र रीति से सोचने का और प्रवृत्तियाँ चलाने का प्रारम्भ करना चाहिए। जैन समाज में साध्वियाँ कुछ जाग्रत हुई हैं लेकिन अभी भी वह समाज रूढ़िग्रस्त है। स्त्री जाति जब अपना मानसिक परावलम्बन छोड़ देगी और स्वतन्त्रता के उत्तरदायित्व के अनुसार जीवनपरिवर्तन करेगी तब मनुष्य जाति का महत्त्व उसी के हाथ में आयेगा। क्योंकि इतिहासकाल में पुरुषों के कई दोषों से ये मुक्त रही हैं और कई गुणों का इन में विशेष उत्कर्ष पाया जाता है। समन्वयवृत्ति और मैत्री भावना उन के लिए सुलभ है।

शुद्ध ब्रह्मचर्य के पालन के साथ सेवा के क्षेत्र में पुरुष और स्त्रियाँ समान भाव से परस्पर आदर रखते हुए सेवाकार्य करने लगेंगे, तब ही ब्रह्मविद्या के पास सामाजिक मोक्ष का इलाज आयेगा और ब्रह्मविद्या की व्यक्तिगत एकांगिता दूर होगी।

इस प्रयोग में खतरे अवश्य हैं लेकिन खतरे से डरना और प्रयोग ही न करना कापुरुष का लक्षण है।

और आज जैसी समाज की स्थिति है और कौटुम्बिक जीवन जैसा चल रहा है उस में खतरे का डर कम है? आदत पड़ने के कारण मनुष्य उन से घबराता नहीं। शुद्ध प्रयोग हिम्मत से चलाने से ही समाज सुधर जाता है और संस्कृति आगे बढ़ती है। आखिरकार मैत्रीभावना है कल्याणकारी। उस पर विश्वास रखना यही है—सच्ची आस्तिकता।

(१६ जून १९६४)

चाहिए अनुभवमूलक समाज विज्ञान

मेरी यात्रा स्वदेश में हो या विदेश में मैं सेवा संस्थाओं को ढूंढ-ढूंढ कर खोजता हूँ स्वयं जा कर देखता हूँ या वे मुझे बुलाती हैं। इसी तरह सन '६६ के फरवरी के अन्त में मैं सौराष्ट्र के जामनगर में वहाँ का 'कस्तूरबा स्त्री विकास गृह' देखने गया था। यह संस्था स्त्रीजाति की उत्तम सेवा करती है। पतिता, त्यक्ता और उपेक्षिता स्त्रियों के लिए गुजरात में कई अच्छी अच्छी संस्थाएँ काम करती हैं। त्यक्ताओं के साथ त्यक्त-पतिकाओं को भी शुमार करना चाहिए। पति ने जिस का त्याग किया है सो तो दुःखी है ही किन्तु पति के दुराचार के कारण जिस तेजस्विनी पत्नी ने स्वेच्छा से अथवा लाचार हो कर स्वेच्छा से पति का त्याग किया उस की हालत भी हमारे समाज में बहुत दफे दयनीय बनती है। इस तरह जिन स्त्रियों को (यानी मानव जाति की माताओं को भगिनियों को और पुत्रियों को) समाज ने निराशा के गर्त में ढकेल दिया उन के लिए ईमानदारी से जीने का और आशा का रास्ता दिखाने वाली ये संस्थाएँ भगवान का ही काम करती हैं।

असहाय निराश और हताश स्त्रियों को आश्रय दे कर उन्हें शिक्षा देना ईमानदारी से आजीविका प्राप्त कर सकें ऐसा कोई उद्योग सिखाना और अगर समाज इन्हें वापस लेने को तैयार हो तो इन को गृहस्थाश्रम में फिर से स्थापित करना यही मुख्य प्रवृत्ति इन संस्थाओं की होती है।

जामनगर के स्त्री विकास गृह को देखने के बाद संस्था के संस्थापक, संचालक और कार्यकर्ताओं से मैं ने स्त्री समस्या पर काफी विचार विनिमय किया। और उसी सिलसिले में विकासगृह की मुख्य संचालिका श्रीमती मंजुलाबेन के पत्र के जवाब में अपने विचार लिख भेजे। उसी पत्र का हिंदी अनुवाद यहाँ देता हूँ।

'इस में कोई शक नहीं कि मनुष्य जाति के समस्त इतिहास में सब से महत्त्व का विषय है स्त्री-पुरुष सम्बन्ध का। इस सम्बन्ध पर ही तो समाज की रचना निर्भर है। अनेक देश के अनेक वंश के और अनेक जमाने के लोगों ने इस विषय में अनेकानेक प्रयोग किये हैं। विवाह संस्था का इतिहास देने वाले कई ग्रन्थ मिलते हैं। हमारी स्मृतियों में, पुराणों में और लोकगीतों में स्त्री

पुरुष सम्बन्ध की काफी चर्चा पायी जाती है। स्त्री पुरुष सम्बन्ध परस्पर तृप्ति कर और कल्याणकारी बने इस लिए मनुष्य में धर्म और अध्यात्म का [illegible] है। इसी उद्देश्य से प्रत्येक समाज ने कानून भी बनाए हैं।

भारत जाति ने इस तरह के जो प्रयोग किए उन में से कई प्रयोग श्रेष्ठ और शुभ परिणामी साबित हुए हैं। उन के द्वारा समाज की उन्नति ही हुई है। कुटुम्ब-परिवार और सामाजिक जीवन का आधार ही स्त्री पुरुष सम्बन्ध की स्वच्छता और सुन्दरता पर है। इस आदर्श को ध्यान में रख कर हम कह नहीं सकते कि स्त्री-पुरुषों का प्रेम सम्बन्ध, गृहस्थाश्रम, बच्चों का परवरिश और समाज तथा इन मुख्य बातों में और बातों में मनुष्य को सन्तोषजनक हल हासिल हुआ है। सब धर्मों के शास्त्र-ग्रन्थ सब देश की लोककथाएँ और उपन्यास स्त्री पुरुष विषयक सवालों की चर्चा करते आये हैं। उसी चर्चा को पढ़ कर हम अनुभव करते हैं कि इन सवालों की कितनी गहराई है। इस एक मुख्य सवाल के साथ व्यक्तिगत तथा सामाजिक समस्त जीवन प्रभावित होता आया है। कुल मिला कर अनुभव कहता है "इन अनेक प्रयोगों के परिणाम स्वरूप पुरुषों की अपेक्षा स्त्री जाति को ही अधिक सहन करना पड़ा है।" लेकिन दुःख के साथ कहना पड़ता है कि इस सवाल को लेकर पुरुष वर्ग ने जितना चिन्तन किया है उतना स्त्री-वर्ग ने किया हो ऐसा नहीं दीखता। स्त्री जाति ने सहा बहुत कुछ किया लेकिन हल ढूंढा नहीं के बराबर।

अब चिन्तन का उत्तरदायित्व पुरुषों पर न छोड़ते हुए स्त्रियों को अपनतह स्वतन्त्र विचार करने के लिए तैयार होना चाहिए। इतना ही नहीं अपने अनुभव के बल पर अपनी स्वतन्त्र-दृष्टि से सामाजिक प्रयोग करने की भी तैयारी दिखानी चाहिए। मैं मानने को तैयार नहीं कि स्त्री जाति में इतनी हिम्मत नहीं है। सवाल केवल उस हिम्मत को जगाने का है।

सब देशों के और सब संस्कृतियों के समाजों ने (यानि स्त्री पुरुषों ने) विवाह के अनेक, तरह तरह के आदर्श आजमा कर देखे। इन आदर्शों का पालन करते दोनों तरह से जो स्खलन हुए उन के बयान भी काफी मिलते हैं। इन स्खलनों से मनुष्य स्वभाव का अनुमान कर के और परिस्थितियों को पहचान कर के आदर्शों में जरूरी परिवर्तन और सुधार करना चाहिए। आदर्श अगर कृत्रिम हैं मनुष्य स्वभाव के विरुद्ध हैं तो उन को बदलना चाहिए। और आदर्श अगर हद से ज्यादा बड़े हैं तो उन्हें सौम्य बनाना चाहिए।

वेद पूर्वकालीन रस्म रिवाजों से ले कर आज तक हम स्त्री पुरुष सम्बन्ध के आदर्शों में कमोबेश परिवर्तन करते ही आये हैं। इस का सारा इतिहास प्रयत्न

पूर्वक टेढ़ कर भविष्यकाल के लिए पोषक हो सके ऐसे जीवन निष्ठ आदर्शों का बिल्कुल नये ढंग से चिंतन और प्रचार करना चाहिए।

धर्म और संस्कृति के आदर्श और उन का रहस्य समझने के लिए और ढूँढ़ने के लिए भूतकाल की तरफ जाना, चाहे जितना स्वाभाविक क्यों न हो तो भी वह गलत रास्ता है। इतना तो समझना ही चाहिए। भूतकाल जीने लायक न रहा इसी लिए तो वह चला गया। उसे सजीवन करने की कोशिशें हम क्या करें? भूतकाल के प्रति और अपने पुरखों के प्रति आदर रखना योग्य है लेकिन हम उन के दास क्यों बनें? भूतकाल के प्रति अति आदर रखना और वर्तमान काल को तुच्छ समझना जीवन के प्रति और उस के भविष्यकाल के प्रति द्रोह है। भूतकाल अगर पवित्र है तो भविष्यकाल पवित्रतर है। क्योंकि वह भी ईश्वर का आगामी अवतार ही है। भूतकाल का बन्धन अगर प्राणघातक साबित हुआ तो उस बन्धनों से मुक्त होना ही हमारा कर्तव्य है।

मेरे कथन में पश्चिम का अनुकरण करने की सिफारिश भी सिफारिश नहीं है। पश्चिम के अनुभव से और उन की हिम्मत से हम जरूर लाभ उठायेंगे। पश्चिम के लोग भी ईश्वर के ही बालक हैं और हमारे सगे सम्बन्धी हैं इस को तो जरूर स्वीकार करेंगे। लेकिन हम अपनी परिस्थिति और अपने पुरुषार्थ को नजर के सामने रख कर स्वतन्त्र चिन्तन करेंगे। और उसी में से नयी-नयी योजना बना कर उस के अनुसार प्रथम मर्यादित क्षेत्र में प्रयोग कर देखेंगे। इस तरह के मर्यादित अनुभव के बल पर हिम्मत बढ़ने पर व्यापक पैमाने पर प्रयोग कर सकेंगे।

मेरा अभिप्राय है कि विकासगृहों की ओर से ऐसे नये सामाजिक प्रयोग आजमाने का प्रारम्भ करना चाहिए। समाज ने जिन्हें छोड़ दिया, बहिष्कार कर के फेंक दिया, ऐसे व्यक्तियों को लेकर जब हम प्रयोग करते हैं तब समाज अपनी पुरानी रूढ़ियाँ लेकर विरोध क्यों करे? समाज जब किसी व्यक्ति को दोषी कह कर फेंक देता है तब उस व्यक्ति की प्रतिष्ठा तो टूटती ही है लेकिन समाज को इस बात को भी स्वीकार करना चाहिए कि समाज की सूझ का भी दिवाला निकल गया है।

समाज को चाहिए कि अपनी हार कबूल कर के वह नम्रता धारण करे और सुधारक लोगों को पुराने चोले में से, पुरानी लकीर में से बाहर निकलने की स्वतन्त्रता दे दें।

शरारती, तूफानी अथवा विकलांग बच्चों को लेकर आधुनिक शिक्षा-शास्त्रियों ने शिक्षा के नये नये प्रयोग आजमा कर देखे। फलतः शिक्षा शास्त्र में, पढ़ाई

और सधाई की कला में अद्भुत प्रगति हुई ह। उन्ही के रास्ते जा कर स्त्री विकासगृहो को भी चाहिए कि वे हिम्मत पूवक नये नये प्रयोग कर दखें और बिलकुल नये ढग का समाज शास्त्र तैयार करें।

पुश्त दर पुश्त, दीघ काल तक सतत सहन करने के बाद क्या स्त्री जाति नयी हिम्मत आजमाने के लिए तयार नही होगी ?

दुर्दैवी स्त्रियों को आश्रय देना ईमानदारी से आजीविका प्राप्त कर सकें ऐसा उद्योग सिखाना अच्छी बात ह, लेकिन यह तो केवल दु ख निवारण का काम हुआ। मुख्य काम तो समाजो के जिन दोषो के कारण अथवा जीवन विरोधी गलत आदर्शों के कारण ऐसी स्थिति उत्पन्न होती ह उस का ही इलाज ढढना चाहिए।

पति की मृत्यु के बाद उस की पत्नी का पति के शव के साथ अपने को जलाने का एक रिवाज था। इस के कारण क्या क्या सामाजिक अनथ खडे हुए उस के वणन बगाल के इतिहास में हमें मिलते ह। वहाँ क सामाजिक नेताओ न सती होन की इस प्रथा को बन्द करवाया। उस के लिए अगरेज सरकार की मदद भी ली। उस के बाद ईश्वरचन्द्र विद्यासागर जसे साधु पुरुषो ने विधवा विवाह का रास्ता प्रशस्त किया। हमार जमाने म अब आ तरजातीय विवाह भी होन लगे हैं। अब ऐस विवाहो का विरोध कोई नही करता।

तो क्या स्त्री जाति के सामाजिक दु खो को और अन्यायो को दूर करन के लिए सिफ ये दो ही सुधार आवश्यक थे? जामनगर के कस्तूरबा विकासगृह को सेवा करने का दस साल का अनुभव ह। इन दस वर्षों के अन्दर असख्य अबलाओ की कठिनाई का परिचय उसे हुआ ह। सस्था क सचालको ने परिस्थिति का गहरा अध्ययन भी किया होगा। तो क्या उन के पास सुधार के नये नये सुझाव नही ह? तात्त्विक चि तन करन वाले और विशेष का अनुभव पढ़न वाले लोग कुछ न कुछ सुधार अवश्य सूचित कर सकेंगे। कि तु दस दस बीस बीस वष जिन लोगो न इस क्षेत्र में स्त्री जाति की सेवा करने का अनुभव लिया ह उन को चाहिए कि वे पुराने आदश के बोझ के नीचे न दब कर नया रास्ता ढ ढ निकालें।

जातिबहुल हमारे देश में हर एक जाति के आदश अलग ह। ऐसी हालत में सुधारको को नया जाति बना कर या मान कर भी हम प्रयोग कर सकते ह। आग जा कर इस का लाभ सारे समाज को मिलेगा।

मेरे उस मूल खत में म न इधर उधर परिवतन किया ह। लेकिन उस खत को यहाँ इस लिए द रहा हू कि सवाल सारे दश का ह। केवल उच्चवर्णीय हिन्दुओं का नही। हिंदू, मुस्लिम, ईसाई आदि सब का सवाल ह।

अभी-अभी स्व० डॉ० राममनोहर लोहिया के एक लेख का मराठी अनुवाद पढ़ा था। उन्होंने लोक कल्याण की दृष्टि से हिम्मत भरे कुछ सुझाव देश के सामने रखे हैं। उन के सुझाव कोई माने या न माने, उन की हिम्मत धारण कर के सामाजिक सवालों का हल तो जरूर ढूँढ़ना चाहिए।

(१५ नवम्बर १९६७)

■

अस्पृश्यता का हडक

अस्पृश्यता निवारण का धार्मिक पहलू

किसी एक सनातनी जवान मित्र ने मुझ से पूछा— काकासाहब जब देखें, आप अस्पश्यता निवारण की ही बात करते ह। आप जानते ह कि हम हरिजनों को छूते है। सभा में और ट्रेन में एक साथ बठते हैं। कोई हरिजन हमारे घर पर मिलने आता ह तो उसे साथ बिठा कर हम खाते भी ह। पक्ति भेद को हम न छोड दिया। अब ज्यादा क्या करने को रहता ह? आप कब कहेंगे कि भारत से अस्पश्यता अब दूर हो गया ह?"

मने कहा कि आप छुआछूत में विश्वास नही करते है यह अच्छी बात ह। लेकिन गाव में जाकर जरा देखिए अस्पश्यता निवारक कानून के पास होने पर भी वहाँ हरिजनो की क्या हालत ह। उन को कसे दूर रखा जाता ह। पान के पानी के लिए भी उन्हें भिक्षा मागनी पडती ह। आप स्वय छुआछूत छोड दें इतना काफी नहीं ह। इस पुराने पाप को देश में से हटान के लिए आप का जेहाद चलानी चाहिए। यह हुआ सीधा जवाब। लेकिन आप पूछत है कि हम कब मानें कि अस्पश्यता हिन्दू समाज में से दूर हो गयी ह? भविष्य की बात मै भविष्य पर ही छोडना पसन्द करता हूँ। लेकिन जब आप मुँह में उँगली डाल कर मुझ स जवाब निकलवाना ही चाहते ह तब सुनिए मेरा जवाब—

'जब कोई सस्कृतज्ञ चारित्र्यवान धर्मनिष्ठ हरिजन शकराचार्य की गद्दी पर बैठ सकेगा और मैं और आप उस साष्टाग दण्डवत प्रणाम करेंगे तब मैं कहूगा कि अब छुआछूत सचमुच दूर हो गयी। सनातनी दृष्टि से सोचनवाल लोगों क लिए हा मेरा यह जवाब ह। इस का यह अर्थ हरगिज नहीं ह कि म अब किसी हरिजन को शकराचार्य की गद्दी पर बठा हुआ देखना चाहता हूँ। मनुष्य होन क नाते और प्रतिकूल परिस्थिति में भी हिन्दूधर्म क प्रति निष्ठा रखने के कारण मेरी व्याख्या क हरिजन का यह अधिकार अवश्य ह। लेकिन शकराचार्य की गद्दी आज एक काग्रस्त सनातनी सस्था ह। श्री आद्य शकराचार्य क प्रति मर मन में असीम पूज्य भाव ह। श्री शकराचार्य न हो इस युग में हिन्दूधर्म का

सर्वोच्च सेवा की। उन के उत्तराधिकारियों में भी अनेक योग्य पुरुष हुए है। लेकिन आज उस संस्था में क्या रहा है? सनातन धर्म की रक्षा का भार आज के शंकराचार्य उठा नहीं सकते। सनातनी समाज का नेतृत्व भी उन के पास रहा नहीं दीख पड़ता। सनातन धर्म में सुधार कर के उस में चैतन्य लाने का काम तो और लोग कर रहे हैं। शंकराचार्यों के चन्द मठों की जो हालत मैं ने सुनी है उसे सोचते ग्लानि हो होती है। ऐसी हालत में किसी भले हरिजन को शंकराचार्य की गद्दी पर बैठने का आमन्त्रण मिल जाय तो उस को स्वीकार करने की सलाह शायद मैं उसे नहीं दे सकूगा। उस संस्था में अब वह प्राण नहीं देखता हूँ जिस के जरिये धर्मपरायण जनता की कुछ ठोस सेवा हो सके।"

अन्य स्थान पर मैं ने कहा ही है कि अनुलोम प्रतिलोम का कृत्रिम भेद भूल कर जब अनेक ब्राह्मण लड़कियों के विवाह योग्य और अनुरूप हरिजन लड़कों के साथ होंगे और सनातनी समाज उन का अभिनन्दन करेगा तब मैं कहूंगा कि अब अस्पृश्यता दूर हो गयी है।

मनुष्य जब विवाह करता है तब धर्म सुधार के हेतु से नहीं करता। लोग विवाह बद्ध होते है प्रेम के कारण और सफल सहजीवन के लिए। अगर कोई ब्राह्मण लड़की हरिजन लड़के के साथ शादी करती है तब इतना तो वह जरूर देखेगी कि 'रहनी, करनी और विचारसरणी की दृष्टि से वह लड़का उस के अनुकूल है। हम इतना ही मांग सकते है कि जाति या वर्ण के कारण सवर्ण और हरिजनों के बीच शादी का प्रतिबन्ध न हो। ऐसे विवाह होते रहें और सनातनी समाज उस का अभिनन्दन करे।

मन्दिर प्रवेश के बारे में भी यही बात है। मध्यकाल में जिस श्रद्धा भक्ति से लोग देवदर्शन के लिए मन्दिर में जाते थे वह श्रद्धा भक्ति अब नहीं दीख पड़ती। तो भी हम हरिजनों के मन्दिर प्रवेश का आन्दोलन चलाते रहे। अपेक्षा हरगिज यह नहीं थी कि मन्दिर प्रवेश का अधिकार मिलते ही हरिजन बड़ी तादाद में मन्दिर दर्शन या पूजा के लिए जाने लगेंगे। (हां मद्रास की ओर मदुरा शहर के पास एक मन्दिर का इतिहास जानता हूँ जहाँ मन्दिर के व्यवस्थापकों ने अपना मन्दिर हरिजनों के लिए खोल दिया इस से गुस्से में आ कर ब्राह्मणों ने उस मन्दिर का बहिष्कार किया। मन्दिर की आमदनी घटी। व्यवस्थापक चिन्ता में पड़े लेकिन वे शरण नहीं गये। जब ब्राह्मणेतरों को इस हालत का पता चला तब उन्होंने खासकर उसी मन्दिर में जाना और वहाँ दक्षिणा देना शुरू किया। नतीजा यह हुआ कि मन्दिर पर जो बरसों का कर्ज था वह अदा हो गया और मन्दिर का जीर्णोद्धार भी आसानी से हो सका।)

आज हम सवर्णों को इतना ही कह सकते हैं कि अगर किसी भी कारण मन्दिर जाने की दिल हुआ तो किसी हरिजन को अपने साथ लेते जाइए। जैसा पुराना नियम था कि मन्दिर में रिक्त हस्त (खाली हाथ) नहीं जाना चाहिए फल-फूल मिठाई कुछ न कुछ ले ही जाना चाहिए। इसी तरह हम नया नियम कर सकते हैं कि हरिजन का हाथ अपने हाथ में लिये बिना मन्दिर में जाने से देवदर्शन का पुण्य नहीं मिलता और भगवान् की कृपा नहीं होती।

देवदर्शन और मूर्ति-पूजा का रिवाज पुराना है। उसे बढ़ावा देना मन्दिर-प्रवेश का उद्देश्य नहीं हो सकता। मन्दिर भी एक पुरानी सनातनी संस्था है। उस में नया चैतन्य हम जरूर डाल सकते हैं। मन्दिरों के द्वारा हम सामाजिक संगठन, आचार-व्यवहार की शुद्धि, सदाचार प्रचार, शिक्षा का विस्तार और बहुविध आर्थिक सहयोग आदि अनेक प्रवृत्तियाँ चला सकते हैं। लेकिन वह एक स्वतन्त्र प्रवृत्ति होगी।

मन्दिरों में भगवान की पूजा-अर्चना, पुराण श्रवण, हरिकीर्तन, उत्सव त्योहार, श्राद्ध महालय, तीर्थ यात्रा, उपनयन शास्त्राभ्यास, शादी-ब्याह, संन्यासग्रहण, दान प्रतिग्रह ये सब हैं सनातनी जीवन के प्रधान धार्मिक पहलू। हमें जागरूक होकर देखना चाहिए कि इन में कहीं भी अस्पृश्यता या उच्च-नीच भेद आने न रहने न पावे।

(फरवरी १९५७)

हिन्दू समाज को चुनौती

डॉ० अम्बेडकर भारत की एक भव्य विभूति थे। जब भीमराव अम्बेडकर का स्मरण करता हूँ तब मुझे महाभारत के कुन्तीपुत्र कर्ण की याद आती है। 'दैवायत्तं कुले जन्म मदायत्तं तु पौरुषम्'। यह था कर्ण का वचन। समाज जिसे हीन कहता है ऐसे कुल में जन्म होने से मनुष्य को क्या क्या भुगतना पड़ता है और उस से उस के स्वभाव में चिढ़ और कड़वाहट कितनी गहराई तक पहुँच जाती है इस का पूरा खयाल जिस तरह कर्ण के जीवन से पाया जाता है वैसा ही डॉ० अम्बेडकर के जीवन से भी पाया जाता है। श्री सयाजीराव गायकवाड़ ने उन्हें शिष्यवृत्ति दी विदेश भेजा अपने राज्य में नौकरी दी। महात्मा गान्धी ने उन्हें भारत के सर्वोच्च मन्त्रिमण्डल में स्थान दिलवाया। भारतीय जनता ने उन्हें

भारत का विधान—मानो भारत का भाग्य लेख बनाने का काम सौंपा। जिस हिन्दू कानून में दण्ड में अस्पृश्यता चलायी थी उस का सुधार करने का काम भारत भाग्य विधाता ने डॉ० अम्बेडकर के हाथ में सौंपा और समस्त हिंदू समाज ने उन के इन सब सुधारों को सहर्ष स्वीकार किया। अस्पृश्यता निवारण के कानून के खिलाफ करोड़ों के हिन्दू समाज में से एक भी आवाज नहीं उठी।

इतना सब हुआ। लेकिन डॉ० अम्बेडकर के हृदय में घुसी हुई चिढ और कटुता का निर्मूलन नहीं हुआ।

हिंदू समाज के बारे में जब उन के मन में निराशा पैदा हुई, तब उन्होंने धर्मांतर करने की बात शुरू की। यह बात बरसों तक चली। उन्होंने हिंदू समाज को काफी समय दिया। हिंदू समाज ने आश्चर्यकारक प्रगति भी की। लेकिन डॉ० अम्बेडकर के लिए वह पर्याप्त न थी।

मैं ने सनातनी वृत्ति और सनातनी समाज का वर्णन करते एक व्याख्या बनायी है उस का यहां स्मरण होता है।

सनातन समाज वह समाज है जो दूसरे किसी भी समाज के मुकाबले में कम प्रगति नहीं करता। लेकिन काल भगवान् उसे जिस मंजिल तक पहुँचने को कहते हैं उस से एक मंजिल पीछे रहना—यह है उस का उसूल। फलतः सब तरह की प्रगति करते हुए भी काल भगवान् के प्रसाद से वह हमेशा वंचित रहता है। 'करने का सब कुछ किया, लेकिन उस का फल कुछ भी पाया नहीं" ऐसा कहने का उस के भाग्य में बदा हुआ है।

डॉ० अम्बेडकर ने धर्मांतर करने के लिए पहले सिक्ख धर्म को पसन्द किया। इस का एक अच्छा फल यह हुआ कि सिक्ख समाज ने अपनी रूढ़ि को कुछ हद तक तोड़ कर अपने धर्मग्रंथ नागरी में भी छापने का साहस किया।

दीर्घकाल तक सोचने सोचने डॉ० अम्बेडकर ने धर्मान्तर के लिए आखिर बौद्ध धर्म पसन्द किया। यह भी मेरी दृष्टि से अच्छा ही हुआ।

हिंदू धर्म की मेरी कल्पना के अनुसार सिक्ख धर्म और बौद्ध धर्म दोनों हिंदू धर्म के बाहर हैं ही नहीं। कोई द्वैतवादी अद्वैतवादी बन जाये कोई शाक्त शिव का उपासक बन जाये या वैष्णवधर्मी बन जाये तो उसे हम धर्मांतर नहीं कहते। जब कोई सनातनी आर्यसमाजी बनता है या कोई बंगाली अपनी हिंदुआनी' छोड़ कर ब्राह्मो बनता है तब उसे मैं धर्मान्तर कहने के लिए तैयार नहीं हूँ। हमारे पुरखा कहते आये हैं कि 'घी थाली में गिरे या कटोरे में पेट में ही जाने वाला है'।

हिंदू-मानस ने बुद्ध भगवान् की मनोहर आत्मसात् की इतना ही नहीं—प्रत्यक्ष बुद्ध भगवान् को विष्णु का अवतार—और वह भी पालू अवतार—बना दिया।

(जिन दिनों नो, दस या चोबीस अवतारों की कल्पना चली तब वैष्णव धर्म का बोलबाला अधिक था। इस लिए बुद्ध भगवान् को विष्णु का अवतार बनाया गया। अगर तटस्थ दृष्टि से देखा होता तो गोतमबुद्ध की जीवनदृष्टि का खयाल करते उन्हें शिवजी का ही अवतार बनाया होता।)

मैं नहीं मानता कि बौद्ध धर्म आत्मा का या परमात्मा का इनकार करता है। भगवान् बुद्ध का इतना ही कहना था कि हम आत्मा और ईश्वर की झंझट में क्यों पड़ें? हमारा सरोकार तो जीवन से है। जीवन दुःख से भरा हुआ है। दुःख का स्वरूप पहचान कर उस का जड़मूल से नाश करना—यही हमारा परम कर्तव्य है। जिस रास्ते से दुःख का आत्यंतिक नाश होता है वह है अष्टांगिक मार्ग, वही है धम्म।

'इस धम्म के रास्ते जाने के लिए अय मानव, तुम अपने को ही अपनी मशाल बना दो'। 'आत्मदीपो भव'। धम्म के रास्ते जाते सब पाप कर्मों को छोड़ दो। कुशल कर्मों का अनुशीलन करो। अपने चित्त को क़ाबू में ला कर अहंकार का नाश करो। और निर्वाण—परमा शांति को प्राप्त करने की तैयारी करो।

यह धम्म सर्व-कल्याणकारी है। जो कोई इस धम्म का स्वीकार करेगा उस का भला ही होगा। इस धम्म के साथ किसी का झगड़ा नहीं हो सकता।

जिस चिढ़ और कटुता का डॉ॰ आम्बेडकर ने अपने हृदय में संग्रह किया था उस छोड़े बिना निर्वाण—परमा शांति सिद्ध नहीं हो सकती। हो सकता है कि बौद्ध धर्म का स्वीकार करने पर डॉ॰ आम्बेडकर को वह शांति मिली होगी और उस शांति के साथ ही उन का जीवन समाप्त हुआ होगा।

डॉ॰ आम्बेडकर के साथ जिन लोगों ने बौद्ध धर्म का स्वीकार किया, और आयंदा भी जो लोग उस सम्प्रदाय में शरीक होंगे, उन को चाहिए कि वे अपने साथ बौद्ध समाज में अस्पृश्यता ले न जायें।

लोकसंख्या की दृष्टि से देखते दुनिया में बौद्ध धर्म का स्थान शायद सर्वप्रथम होगा। पूर्व में और पश्चिम में ऐसे कई लोग हैं जिन्होंने बाक़ायदा बौद्ध धर्म की दीक्षा तो नहीं ली है किंतु बुद्ध भगवान के उपदेश का और जीवनदृष्टि का हृदय से स्वीकार किया है। भारत के करोड़ों लोग यदि युगावतार बुद्ध भगवान के उपदेश को ग्रहण करेंगे तो उन का कल्याण ही होगा।

अद्वैत वेदान्त भी कहता है कि जिसे जीवात्मा कहते हैं वह तो माया ही है। अगर कोई सत्य है तो विश्वव्यापी सनातन सत्य ही है। वही है नारायण और वही है परब्रह्म। सब से व्यापक, बृहत और बृहत्तम जो है उसी को ब्रह्म कहते हैं परब्रह्म कहते हैं। उस के साथ एकरूप होने के लिए संयम और उपशम की साधना करनी चाहिए ताकि हृदय में विश्वात्मक्य भाव का उदय हो। डॉ० अम्बेडकर के पुरुषार्थी और तेजस्वी जीवन से हिन्दू समाज को सबक सीखना चाहिए। डॉ० अम्बेडकर हिन्दू समाज के लिए चेतावनी और चुनौती रूप थे।

(दिसम्बर १९५६)

अस्पृश्यता और क़ानून की शक्ति

'जब तक क़ानून नहीं बना, तब तक कुछ होने वाला नहीं। आप अस्पृश्यता निवारण की बातें चाहे जितनी करें मतपरिवर्तन पर चाहे जितना ज़ोर दें—सब बातें हवा में ही रहने वाली हैं। लोगों को पता चलना चाहिए कि किसी को अछूत समझना, उस के साथ अछूत-सा व्यवहार करना क़ानून की दृष्टि से गुनाह है जिस के लिए बाक़ायदा सज़ा हो सकती है। भारत के विधान में इतना लिख देना काफ़ी नहीं है कि 'अस्पृश्यता रद्द की गयी है और किसी को अछूत समझना विधान के खिलाफ़ है। अस्पृश्यता अगर विधान के खिलाफ़ है तो क़ानून के खिलाफ़ भी होनी चाहिए और उस के लिए उस की सज़ा का प्रबन्ध भी होना चाहिए। अस्पृश्यता किसे कहते हैं, उस का पालन कहाँ कहाँ होता है और उस के लिए कैसी कैसी सज़ा होगी, यह सब क़ानून के अन्दर दर्ज होना चाहिए।"

हरिजनों के नेता और हरिजनों के सेवक दोनों इसी तरह से एक लम्बे अर्से तक कहते आये थे। भारत के अलग अलग हिस्से के क़रीब सब राज्यों ने अपने अपने ढंग के क़ानून बना दिये। जिन में मंदिर प्रवेश का ज़िक्र सब से महत्त्व का था। आख़िरकार इन सब क़ानूनों को ध्यान में लेकर केन्द्रीय भारत सरकार ने सर्वानुमति से ऐसा एक क़ानून बनाया जो सब को पसन्द आया। सारे देश में एक भी व्यक्ति ने इस क़ानून का विरोध नहीं किया। सब अख़बारों ने और सब के सब सामाजिक नेताओं ने इस क़ानून का स्वागत किया और देश में सन्तोष का वायुमण्डल पैदा हुआ।

लेकिन यह सन्तोष एक दिन या एक सप्ताह तक ही टिक सका। उस के

बाद देखा गया कि हरिजन नेता और प्रधान प्रधान हरिजन-सेवक कहने लगे—
"कानून बनाने से क्या होगा ? लोगों में जब तक हृदय-परिवर्तन नहीं हुआ है।
कानून सिर्फ कागज पर ही रहेगा। कानून से कुछ होने वाला नहीं। गाँव में जा
कर देखिए कहाँ है कानून का अमल ? न पुलिस कुछ सोचती है न सरकारी
कर्मचारी, मजिस्ट्रेट या न्यायाधीश। कोई गरीब शिकायत करने जाता है तो
उसी को परेशानी होती है और आखिरकार गरीब लोग कहने लगते हैं कि जो
चल रहा है उसी को बर्दाश्त करना बेहतर है क्योंकि उस की आदत हमें है।
आप सवर्णों को छेड़ते हैं और परेशानी हमें भुगतनी पड़ती है।"

अर्थशास्त्र को सर्वस्व माननेवाले आधुनिक सुधारक कहते हैं "हरिजनों की
आर्थिक स्थिति जब तक नहीं सुधरी है अस्पृश्यता दूर होने वाली नहीं।" इस
के खिलाफ धनी और प्रतिष्ठित हरिजन अगुआ कहते हैं—"लोग हमें छेड़ते डरते
हैं सही, लेकिन सवर्ण हमें अपनाते नहीं। और मान लीजिए कि हमारी अस्पृश्यता
शहरों में दूर हो गयी हमारे जाति के गरीबों की और गाँव के हरिजनों की
अस्पृश्यता जब तक नहीं गयी है, हम कैसे मानें कि हमारा उद्धार हो गया ?"

हरिजनों ने धर्मान्तर का नुस्खा सदियों से आजमाकर देखा। नतीजा यह हुआ
कि जिन धर्मों में अस्पृश्यता नहीं थी, उस में वह पहुँच गयी। अस्पृश्यता का
नाश नहीं हुआ, उलटा विकास ही हुआ। जो हरिजन ईसाई बने वे कहते हैं कि
हिन्दू सवर्ण हमें ईसाई होने पर भी अछूत समझते हैं। सो तो हम समझ सकते
हैं। लेकिन जो सवर्ण ईसाई बन वे भी हमें अछूत ही रखना चाहते हैं। सवर्ण
ईसाई कभी हरिजन ईसाइयों से शादी करना पसन्द नहीं करते। दक्षिण में कुछ
अर्से के पहले हरिजन ईसाइयों को गिरजाघर के अन्दर ही आने नहीं देते थे।
जब अन्दर आने देने लगे तब भी उन्हें अलग बिठाने लगे। मरने पर भी हमारा
अछूतपन हमें छोड़ता नहीं।" हरिजन ईसाइयों का श्मशान अलग और सवर्ण
ईसाइयों का अलग ऐसा भेद भी दक्षिण में कहीं कहीं पाया जाता है।

सिक्खों में जातिभेद और अस्पृश्यता दोनों पाये जाते हैं। सो तो हम समझ
सकते हैं। लेकिन मुसलमानों में भी कहीं कहीं एक किस्म का जातिभेद है और
शादियों पर रोक मानी जाती है।

जब से सरकार ने अस्पृश्यों को और पिछड़ी हुई जातियों को सहूलियतें देना
शुरू किया है, तब से मुसलमानों में और ईसाइयों में जातिभेद का होना, छोटी
छोटी जमातों का अलग गिना जाना, उन के समाज स्वीकार करने लगे हैं।

हरिजनों ने धर्मान्तर का फिर एक नया तरीका आजमाना शुरू किया है।
वे बौद्ध होने लगे हैं। बुद्ध भगवान की नसीहत अच्छी ही है। किसी भी नबी

का या पैगम्बर की नसीहत बुरी नहीं हो सकती। लेकिन सवाल धर्म सिद्धान्तों का या उपदेश का नहीं है। सवाल सामाजिक है। कोई हरिजन जब मुसलमान बनता है तब सारे मुसलमान समाज का उसे सहारा मिलता है। जब कोई हरिजन ईसाई बनता है तब उसे उन सब ईसाइयों का सहारा मिलता है जो अछूत नहीं है।

अब भारत में ऐसा कौन-सा बडा अन अछूत बौद्ध समाज है, जो बौद्ध-हरिजनों को अपना कर सहारा दे सकेगा ? हिन्दू समाज बौद्ध हरिजनों को हरिजन माने या न माने ? आज का हिन्दू-समाज कहने को तैयार है कि जो बौद्ध हो गये सो अब अछूत या हरिजन नहीं रहे। लेकिन अगर सरकारी सहूलियतों के लोभ से बौद्ध हरिजन कहने लगे कि हमें हरिजन ही समझो और सब सहूलियतें मिलने दो तो सरकार को क्या करना चाहिए ? हिन्दू-समाज का क्या कर्तव्य है ?

सोचने वाले लोग कहते हैं कि जिस धर्म में अस्पृश्यता नहीं थी उस धर्म में ये लोग अस्पृश्यता दाखिल कर रहे हैं। अस्पृश्यता का नाश नहीं विस्तार हो रहा है जिस का कुछ इलाज सोचना चाहिए।

इस तरह हम ही जिस सवाल को दिन-पर दिन टेढा करते जा रहे हैं इस का इलाज क़ानून से कैसा होगा ?

जब अस्पृश्यता निवारण का कानून सर्वानुमति से मान्य हुआ तब यह माना गया कि समाज ने तो अस्पृश्यता छोड दी। अब अगर अस्पृश्यता का कोई पालन करते हैं तो इने गिने व्यक्ति ही पालन करते हैं। क़ानून उन्हें सजा कर सकता है। लेकिन जब बडी-बडी तादाद वाली जातियाँ अछूतों को अछूत रखने की कोशिशें करने लगती हैं तब क़ानून क्या कर सकता है सरकार क्या कर सकती है ? और हमारे मिनिस्टर्स भी क्या कर सकते हैं ? जिन से वोट पा कर मैं मन्त्री बना उन सब के सब लोगों को मैं कैसे दबा सकता हूँ ?

अगर मारामारी से कोई सवाल हल करने गये तो तो देश में अराजकता ही पैदा होगी। और जो हालत आज अन्तरराष्ट्रीय जगत में चिन्ता का विषय बनी है, वही देश के अन्दर घर घर में पैदा हो जायेगी। ऐसी परिस्थिति में हमें सोचना चाहिए कि क़ानून क्या कर सकता है और क्या नहीं कर सकता। हरेक मानवीय इलाज की अपनी मर्यादा भी होती है।

जो लोग निर्धन होते हैं वे मानते हैं और कहते हैं कि हमारे पास धन होता तो हम सब-कुछ कर सकते। जो धनी और बुद्धिमान् हैं वे जानते हैं कि धन की शक्ति परिमित है थोडी है। जब भारत पराधीन था और निःशस्त्र किया गया था तब कई देशभक्त कहते थे, कि शस्त्र की ही कमी है शस्त्र मिलते ही हम

भारत को आजाद कर सकेंगे। जब किसी के हाथ में शस्त्र आया तब वह अँगरेजों का तो कुछ बुरा नहीं कर सका। वह शस्त्र किसी श्रद्धानन्द को और महात्मा गान्धी को ही मारने के काम आया। जब हम ने स्वतन्त्रता खोयी तब हम निःशस्त्र नहीं थे। पराधीन होने के बाद ही निःशस्त्र किये गये थे, यह हम भूल जाते हैं।

कानून की शक्ति मर्यादित होती है, यह तो एक बात है ही। लेकिन जब किसी सामाजिक अन्याय या दोष के खिलाफ़ कानून किया जाता है तब लोग मानते हैं कि हमारा काम अब पूरा हो गया। अब ज़िम्मेवारी हमारी नहीं किन्तु सरकार की, पुलिस की, मजिस्ट्रेट की और जेलर की है।

समाज सुधार का काम जो सदाचार-परायण, लोकहित चिन्तक सेवकों का और नेताओं का है, वह काम, कानून बनने से, वे छोड़ देते हैं निश्चिन्त बनते हैं और एक तरह से बेपरवा भी बनते हैं। और सरकार तो सजा और रोकटोक में ही मानती है। वही एक शस्त्र उस के पास है। उस से काम नहीं चलता, तब कहने लगती है जो कानून से नहीं होता वह शिक्षण के द्वारा कर देंगे। सरकार इस के लिए पैसा खर्च करने को तयार रहती है। 'तनख्वाह दे कर लोगों को गाँव गाँव व्याख्यान देने के लिए भेज दीजिए। पाठ्य-पुस्तकों में अस्पृश्यता निवारण का महत्त्व समझाने वाले पाठ दाखिल कीजिए। बड़े बड़े चित्र खिंचवा कर बाजारों में, स्टेशन पर और ऐसे ही सार्वजनिक स्थानों पर लगवा दीजिए और सर्कुलर निकाल कर जो सवर्ण युवक हरिजन लड़कियों के साथ शादियाँ करते हैं उन्हें अच्छी नौकरी देने की सूचना दीजिए। सरकार का काम ऐसा ही होगा। जो लोग समाज शास्त्र समझते हैं वे कहते हैं कि अन्तरजातीय शादियाँ होने से जातियों का उच्च-नीच भाव कम होगा, लेकिन जातियाँ कम नहीं होंगी। गोत्र का ही मिसाल लीजिए। शादियाँ एक गोत्र में हो ही नहीं सकती। शादियों का नियम ही है कि वह आन्तर गोत्र होनी चाहिए। इस से गोत्रों में उच्च नीच भाव नहीं रहा लेकिन गोत्र टिके हुए हैं।

कानून किसी को सज्जन नहीं बना सकता और सार के सारे समाज की ग़लत फ़हमियों को दोषों को और व्यापक दुराचार को मिटा नहीं सकता। जो काम समाज हितैषी सदाचारी, समाज सेवापरायण त्यागियों का है, वह उन्हीं को करना चाहिए। जो लोकमत-परिवर्तन उन के द्वारा हो सकता है वह केवल शाला शिक्षकों के द्वारा, पाठ्य पुस्तकों के द्वारा और धन्धादार प्रचारकों के द्वारा नहीं हो सकेगा। तेजस्वी समाज सेवकों का कार्य ज़ोरों से चलने पर कानून उन्हें मदद कर सकता है शिक्षा का महकमा भी बाद में बहुत कुछ मदद कर सकता है।

छोटे मोटे प्रचारक भी उपदेश दूर-दूर तक पहुँचाने का काम कर सकते हैं, लेकिन असली काम करना है चारित्र्यशील, तेजस्वी समाज सेवकों को ही। सरकार ऐसों की इज्जत कर सकती है, लेकिन उन को अपने हाथ में ले कर उन से काम नहीं ले सकती।

क़ानून के द्वारा बड़ी या कड़ी सज़ा करने का मोह छोड़ ही देना चाहिए। कड़ी सज़ा से समाज हृदय कठोर होता जाता है और जिन्हें कड़ी सज़ा भुगतनी पड़ती है वे सज़ा के आदी बनते हैं। सज़ा की धार बुट्टी होती है और वह काम नहीं देती। और जब क़ानून जटिल बनते हैं तब उन का अमल करना कठिन होता है। घूसखोरी बढ़ती है, पक्षपात या दुरुपयोग करने के मौके बढ़ते हैं और सीधा-सादा समाज परेशान होता है।

क़ानून को सबसमय समझने से अथवा सबसमय बनाने की कोशिश से समाज में नये-नये दोष पैदा होते हैं।

हमें भूलना नहीं चाहिए कि अस्पृश्यता का शाप किसी समय सामाजिक धार्मिक क़ानून के हाथ का एक शस्त्र ही था जो आज स्वयं बड़ा शाप-रूप हो बैठा है।

(२६ अक्तूबर १९६७)

अस्पृश्यता निवारण में नया खतरा

अमुक जाति में या वर्ण में जन्म होने के कारण किसी को हीन समझना या अस्पृश्य समझना मानवता का द्रोह है। इसलिए धर्म की परिभाषा में हम उसे अधर्म और पाप कहते हैं। मानवता या सामाजिकता की परिभाषा में उसे हम गुनाह कहते हैं।

एक समय था जब चर्चा बहुत चली कि अस्पृश्यता दूर करने के लिए क़ानून किया जाय या हृदय-परिवर्तन और मतपरिवर्तन का सहारा लिया जाय?

जब तक इस बारे में समाज का मानस जाग्रत नहीं था, धर्मबुद्धि मलीन थी तब तक क़ानून बनाना मुश्किल था। विदेशी राज के सहारे हम क़ानून करते तो शायद समाज पर यह ज़ुल्म हुआ ऐसा ही जनता का अभिप्राय हो जाता। सन्तों ने धर्मपुरुषों ने और सामाजिक सुधारकों ने लोकमानस को जागृत किया। महात्माजी ने धर्म के साथ राजनीतिक ज़ोर लगाया और सारे राष्ट्र की धर्मबुद्धि जागृत की और अस्पृश्यता दफ़ना दी।

मैं देश विदेश के लोगों को अभिमान के साथ समझाता हूँ कि अस्पृश्यता निवारण का कानून हमारी राष्ट्रीय विधान सभा ने सर्वानुमति से पास किया है। एक भी सभ्य ने विरुद्ध मत नहीं दिया। इतना ही नहीं एक भी सभ्य तटस्थ न रहा। आज देश के पचास गांवों में, खास कर के गाँवों में अब भी अस्पृश्यता का पालन कहीं कहीं होता है। क्योंकि लोग पुरानी रूढ़ि — धर्म के नाम चली हुई रूढ़ि आसानी से छोड़ नहीं सकते। और कई जातियाँ अपनी उच्चता के घमंड को आसानी से छोड़ नहीं सकतीं।

ऐसी हालत में कानून और मतपरिवर्तन दोनों उपायों से अस्पृश्यता के सब अवशेष दूर करने हैं। जो लोग हृदयपरिवर्तन के रास्ते जाते हैं उन को चाहिए कि वे कानून की मदद ले कर गुनाहगार को सजा करने की कोशिश न करें। लेकिन सरकार के समाजसेवक और लोकनेता जरूर कानून का सहारा ले कर अनाथों का और पीड़ितों का रक्षण करें। जिन लोगों को राज चलाना है देश के विधान को जीवित रखना है उन को तो जागरूक रह कर निर्भयता से अछूत आदि दबी हुई जातियों का और व्यक्तियों का रक्षण करना ही चाहिए।

जो लोग सरकार के नौकर हैं प्रजा का नमक खाते हैं और कानून का पालन करने के लिए बंधे हुए हैं वे तो कानूनभंग को तनिक भी बरदाश्त न करें। वे तो पुराण मतवादियों को कह सकते हैं कि जो कानून आप को पसन्द नहीं उसे बदलने की कोशिश जरूर करें। लेकिन जब तक कानून कानून है तब तक उसे अमल में लाने के लिए हम बँधे हुए हैं। इस बात में अगर हम ने ढील की तो स्वराज स्वराज नहीं रहेगा।

असल में कानून तो राष्ट्र की न्यायबुद्धि, धर्मबुद्धि और मानवता को समझ कर उस पर अपनी मुहर लगाता है। उस मुहर का आदर हरएक को करना ही चाहिए। जिन के मन में कानून के प्रति सर्वमान्य आदर नहीं है विचारपूर्वक और निष्ठापूर्वक लोग कानून का पालन जो नहीं करते उन्हें कानून के खिलाफ़ सत्याग्रह करने का अधिकार ही नहीं रहता। ऐसे लोग जब कानून का भंग करते हैं तब वे सत्याग्रही नहीं किन्तु मामूली गुनाहगार ही होते हैं।

अस्पृश्यता निवारण का काम कब का खतम हो जाना चाहिए था। स्वराज सरकार इस बात में अगर जोर न लगावे और अस्पश्यता निवारण नाम से एक कायमी महकमा चलावे और बजट में उस के लिए आर्थिक प्रबंध कर रखे और उतने से सन्तोष माने तो सरकार की नीयत पर किसी का विश्वास नहीं होगा। अस्पश्यों की ओर से बोलनेवाले लोगों का सन्तोष और वोट पाने के लिए सरकार अगर प्रजाकीय धन का कुछ हिस्सा उन्हें देती रहे तो अस्पश्यता

दूर तो नही होगी लेकिन सम्भव ह अस्पश्यता मजबूत ही बनगी। अस्पश्यता के खिलाफ बोलनवाल को एक व्यवसाय मिलेगा और रूढिवानी कहेंगे कि अगर अस्पश्यता चलाते ह तो अस्पश्यता निवारको की उग्रता कम करने के लिए उन्हें कुछ-न-कुछ अवश्य दना चाहिए। रूढि की रक्षा के लिए इतना धन का व्यय बहुत नही ह अस्पश्यता पाप ह नरक है गुनाह ह ऐसी बातें चन्द लोगो के मुँह स सुननी पड़ेंगी अखबारों में पढनी पडेंगी। उस क आदी हम बन जायेंग।

अस्पश्यता कानून से दूर हो चुकी ह। उस की धार्मिक बुनियाद टूट गयी है। अब जो लोग आज तक अस्पश्य गिने जाते थे उन में तेजस्विता आनी चाहिए। उन को कहना चाहिए कि हम अस्पश्य नहीं हैं। कोई हमें अस्पश्य कहेगा तो हम उस बोझ का बरदाश्त नही करेंगे। शिक्षा पाने के लिए और अपनी माली हालत सुधारने के लिए जो कुछ सीधी मदद मिल सकेगी हम जरूर लेंगे। लेकिन अस्पश्यता स्वीकार करने के लिए अगर हमें कोई घूस देगा तो हम उस नही लेंगे। लोगो की दया पर जीने के दिन अब चले गये हैं। सवर्णों का हृदयपरिवर्तन करने का काम सवर्ण करें। उस के लिए सरकारी पैसा खच नही होना चाहिए। अस्पश्यता निवारक प्रचार के लिए न हम सरकार से पैसा लेंगे न और किसी को लेने देंगे न सरकार को देने देंगे। सामान्य समाज के साथ एक रूप हो जाना यही हमारा एकमात्र उद्देश ह। हमारे अन्दर जो अस्पश्यता पायी जाती ह उसे दूर करने का काम हमारा है। उस के लिए हम किसी से पैसा नही माँगेंगे। पैसा ले कर किये हुए प्रचार में जान नहीं आती तेजस्विता नही आती। भाडूती प्रचार से दो नुकसान होते हैं। धर्मबुद्धि से त्यागवृत्ति से चलाया हुआ तेजस्वी प्रचार फीका पड जाता है और कानून भी कमजोर होता ह। भाडूती प्रचारकों को कहना ही पडता है कि कानून निर्वीर्य ह।

अस्पश्यता निवारण के प्रचार के नाम पर सरकार की ओर से जो पैसा खच होता ह। वह पैसा बरबाद ही होता है और अस्पश्यता निवारण का काम कमजोर होता ह।

महात्मा गान्धी जी के पुण्यप्रताप से जो सावभौम कानून बना ह उसे जीवित रखना ह प्रभावशाली बनाना है। साथ साथ गान्धीजी ने अपनी तेजस्विता से जो प्रचार काय किया उसी को गान्धीजी के ही ढग स आगे चलाना ह। पाँच बरस क अन्दर इस काम को पूरा कर के दूसर महत्त्व के काम की ओर राष्ट्र का ध्यान केन्द्रित करना चाहिए। ऐसा नही किया तो सामाजिक जीवन सड जायगा और स्वराज खतरे में आयेगा।

(२८ फरवरी १९५१)

पुराना रास्ता नहीं चलेगा

हरिजनों के प्रति आज तक कम अन्याय नहीं हुआ है। आज भी हो रहा है। यह याय सामाजिक है। उसे धर्म का आधार दिया गया यह सब से बड़ी भूल हुई। अधर्म हुआ। इस अधर्म को इस अन्याय को दूर करने की कोशिश अनेक संत महात्माओं ने की। अब तो सारे राष्ट्र ने प्रायश्चित्त की दीक्षा ली है। हरिजनों के नेता भी आत्मोन्नति का प्रयत्न कर रहे हैं।

अस्पृश्यता निवारण का प्रयत्न महात्माजी जैसे चन्द लोगों ने किया। लेकिन उस का अमल तो सारे राष्ट्र ने किया है। अमेरिका जैसे सुशिक्षित देश में भी नीग्रो के प्रति पूर्ण न्याय का बरताव करने के लिए वहाँ के सेनेट के सब सदस्य तैयार नहीं हैं। चन्द पक्ष में हैं चन्द रूढ़िवादी विरोध में हैं। जिस तरह भारत अनेक राज्यों का बना हुआ देश है उसी तरह अमेरिका भी अनेक राज्यों का—(स्टेट्स का) देश है। चन्द स्टेटस नीग्रो को पूर्णतया अपनाने को तैयार हैं। चन्द स्टेट्स नहीं हैं। ऐसे राज्य (स्टेटस) केन्द्रीय सरकार की अवज्ञा करने को भी तैयार हुए। उन को दबाना पड़ा। केन्द्रीय सरकार उन्हें पूरा दबा भी नहीं सकता।

भारत की स्थिति ऐसी नहीं है। यहाँ के सब राज्य सब प्रान्त और सब पक्ष के नेता अस्पृश्यता निवारण के बारे में एकराय हैं। देश के धार्मिक नेता भी अब अस्पृश्यता निवारण के बारे में अनुकूल हो गये हैं।

ऐसी हालत में जब देश के सब के सब प्रधान तत्त्व प्रायश्चित्त-पुनीत हो रहे हैं देश के प्रति समाज के प्रति समाज की न्याय बुद्धि के प्रति धर्मबुद्धि के प्रति अविश्वास दिखाना अंधे स्वार्थ का लक्षण होगा दीर्घदृष्टि का अभाव होगा और मनुष्य हृदय के प्रति नास्तिकता का पाप होगा।

विदेशी राज्यकर्ताओं ने भारतीय समाज को कमजोर बनाने के लिए उस में फूट डाली। जहाँ हमारी सामाजिक या धार्मिक कमजोरी देखी उसे बढ़ाने की कोशिश की। हर समाज को अलग-अलग बनाया। हिन्दुओं के हाथ में मुसलमानों का हित सुरक्षित नहीं है इन लोगों के हाथ में ईसाइयों का हित सुरक्षित नहीं है ऐसी बातें फैलायी। पारसियों को भी बहकाने की कोशिशें हुई। आसाम के और

पूर्व भारत के आदिवासियों को अलग करने में विदेशी मिशनरियों को बहुत-कुछ सफलता भी मिली। और हरिजन हिंदू ही नहीं है ऐसी भूमिका खड़ी करने की आखिरी कोशिश ब्रिटिश सरकार ने कर के देखी। गान्धीजी ने प्राण की बाजी न लगायी होती तो अँगरेज इस में सफल हो जाते। अँगरेज मुसलमानों का देश के बँटवारे तक [illegible] गये। लेकिन भारत में तो देश का नहीं किन्तु समाज का बँटवारा अब भी चलाने की नीति पायी जाती है। इसे अगर हम रोकेंगे नहीं तो सारा राष्ट्र कमज़ोर होगा और आखिरकार तितर बितर हो जायेगा।

देश के संविधान में जब हर एक आदमी को मताधिकार—वोट—मिला है तब देश में जिन की बहुमती है ऐसी पिछड़ी जातियों को विशेष सियासी अधिकार क्या दिये जायें? सच देखा जाये तो देश के सार्वभौम अधिकार अब सार्वजनिक वोट के द्वारा, बहुसंख्यक पिछड़ी जाति को मिल ही चुके हैं। उन को इस सार्वभौम अधिकार के उपरान्त विशेष अधिकार लेने से उन की सार्वभौम शक्ति बढ़ेगी नहीं किन्तु घटेगी। और हमेशा के लिए वे लंगड़ रहेंगे। जिस समाज ने और जिन देश के नेताओं ने उन को न्याय देने के लिए इतनी कोशिशें की है उन पर अविश्वास करना हरिजनों के हित की बात नहीं है। और मुख्य बात तो दूसर किसी पर विश्वास रखने की है नहीं। अपनी संख्या और अपनी जागृति पर ही वे विश्वास रखें तो काफी है।

और मैं तो इस के आगे जाकर हरिजन-नेताओं को यह समझाने की कोशिश कर रहा हूँ कि जब तक वे शेड्यूल्ड कास्ट यानी हरिजन होकर रहेंगे तब तक वे एक छोटी सी जमात ही रहेंगे। जिस दिन वे अछूतपन को बात भूल कर विराट पिछड़ी जाति में घुल मिल जायँगे तब देखते देखते वे एक प्रचण्ड बहुमत के नेता बनेंगे। और तब सारे देश का नेतृत्व भी उन के हाथ में आ जायगा।

हरिजनों के लिए कानून या विधान के द्वारा खास स्थान सुरक्षित रखने से उन की हालत आश्रितों की जैसी हो जाती है। इस से चन्द नेताओं को थोड़ा कुछ लाभ होगा जरूर, लेकिन वह व्यक्तिगत लाभ होगा। सारे हरिजन समाज की स्थिति उस से सुधरेगी नहीं। जब वे विराट पिछड़ी हुई जातियों के स्वाभाविक और लोकमान्य नेता बनेंगे तब उन में नया तेज आयेगा और उन की अस्पृश्यता अपने ही आप नष्ट हो जायगी। संविधान की मेहरबानी से जो अधिकार उन्हें मिलेंगे वे अधिकार कमज़ोर लोगों के अधिकार हैं, दान में दिये हुए अधिकार हैं। जब वे अपनी आन्तरिक शक्ति के द्वारा अपने स्वाभाविक अधिकार चलायेंगे तब उन के जीवन में इतना तेज आयेगा कि उन्हें दूर रखने की कोई हिम्मत ही नहीं करेगा।

पुराना रास्ता नहीं चलेगा

अस्पृश्यता दूर करने का एक उत्तम तरीका है आंतरजातीय विवाह का। आज की समाज रचना देखते देश में हजारों और लाखों आंतरजातीय विवाह हो नहीं सकेंगे। उस की जरूरत भी नहीं है। लेकिन जब तक हरिजन अपने को अछूत जाति के मानेंगे दोहयूल में होन का दावा करेंगे तब तक मिश्र विवाह होने में वही एक बडी रुकावट रहेगी। अनुभवी लोगो ने कहा है कि मनुष्य की जैसी श्रद्धा होगी वैसा वह बनता है।

हरिजनों की सब से बडी आवश्यकता है हर तरह की शिक्षा की। अपने लडको को और खास कर के लडकियों को हर तरह की शिक्षा अधिक से अधिक देने की कोशिश करें। हरिजनों की बुद्धिशक्ति और किसी भी जाति से कम नहीं है। अगर उन में महत्वाकांक्षा आ गयी तो चाहे जितने ऊंचे वे पहुंच सकते हैं। सरकार की अपनी नीति स्पष्ट करनी चाहिए कि नौकरी देते समय आवश्यक योग्यता होने पर ही हरिजनों को प्रमुखता दी जायगी। उच्च श्रेणी की नौकरियां में केवल योग्यता का ही ख्याल रखना चाहिए। राष्ट्र का हित उसी पर निर्भर है। तीसरी श्रेणी की नौकरियों में स्पर्धा का तत्व बहुत होता है। वहाँ पिछडी हुई जातियों के लिए खास स्थान मुकर्रर रखा जाय। पचास प्रतिशत नौकरियां पिछडी हुई जातियों के लिए रखी जाँय तो बुरा नहीं है। चौथी श्रेणी की नौकरियों में पिछडी हुई जातियों के लोग ही अक्सर भरती होते हैं। वहाँ तो कुछ करने की आवश्यकता नहीं रहती।

सब पिछडी जातियों का घर बनाने के लिए औद्योगिक प्रगति के लिए जीवन में सहकार का तत्व बढाने के लिए हर तरह की मदद देनी चाहिए।

अस्पृश्यता निवारण के बारे में समाज को समझाने का काम तनख्वाह पाने वाले प्रचारकों का नहीं है। वह काम तो देश के नेताओं का है। जिन लोगों ने हरिजनों की, आदिम जाति गिरिजनों की और इतर पिछडी जातियों की दस दस, बीस बीस बरस सेवा की है वे ही स्वाभाविक नेता हैं। लेकिन ऐसे लोगों की प्रतिष्ठा अब कम हो गयी है। धन के लिए उन्हें सरकार के पास जाना पडता है। अब नेतृत्व है उन्हीं मिनिस्टरों का और सरकारी अमलदारों का जिन के हाथ में सरकारी सत्ता और सरकारी पैसा है। पिछडी हुई जातियों को उन की जातिगत संस्थाओं को अनुदान के रूप में प्रजा का पैसा देकर लोकप्रिय बनना आसान है। लेकिन उस में सेवा नहीं है। अगर राष्ट्र के सब नेता समय समय पर गाँव-गाँव में जाकर लोगों को सहानुभूति दिखावें और अज्ञान लोगों का समाज के आदर्श समझा देवें तो बहुत कुछ हो सकेगा। स्वदेशी अमलदार समाज के ऊपर काफी प्रभाव डाल सकते हैं। अस्पृश्यता अगर गाँवों में अभी

तक रही हो तो उस का कारण यही है कि हमारे अमलदार और मन्त्री अपने सामाजिक कर्तव्य का पालन नहीं करते।

(२२ मई १९५६)

इंजन के डिब्बे

एक एक सवाल को हल कर के उस से छुट्टी पाना और फिर दूसरे सवाल हाथ में ले कर उन का भी निबटारा करना हम लोग जानते ही नहीं। समाज जड़ता से भरा हुआ है। किसी सन्त-महात्मा ने पीछे से धकेल दिया तो थोड़े आगे बढ़ेंगे। जड़ता को भी एक गति होती है जिसे अँगरेजी में inertia कहते हैं। यह जड़ गति जब तक टिकती है समाज कुछ आगे बढ़ता है और फिर चैतन्य के अभाव में ठहर जाता है। इस के बाद जो प्रगति होती है वह विचारपूर्वक नहीं होती। पुराना आग्रह नहीं रहा शिथिलता आ गयी, इस लिए पुरानी भली बुरी बहुत सी चीजें छूट जाती हैं। धर्म सुधार की बात हो या सामाजिक सुधार की, जड़ता और शिथिलता के कारण जो कुछ भी परिवर्तन हो सकता है समाज को मंजूर है। किसी चीज को पकड़ रखने के लिए भी चैतन्य शक्ति की आवश्यकता होती है।

अभी आगरा में एक निष्ठावान भूदान, ग्रामदान कार्यकर्ता ने बड़े दर्द के साथ पूछा कि भूदान ग्रामदान की प्रवृत्ति अब पहले का तरह नहीं चल रही। उस में काफी शिथिलता आ गयी है। इस का कारण क्या और इलाज क्या?

बात सुन कर दुःख हुआ लेकिन आश्चर्य नहीं। मैं ने कहा कि हर प्रवृत्ति में ऐसा ही चलता है। बारिश के ही दिन लीजिए। जब बारिश शुरू होती है कुछ दिन के लिए बारिश अच्छी होती है बाद में कम होती है और अन्त में धूपकाल आता है। पानी कम हो जाता है। और फिर दूसरी वर्षा की राह देखनी पड़ती है। हमारा समाज इंजन के डिब्बे जैसा है। इंजन खींचता है तब तक डिब्बे चलते हैं। इंजन के छूट जाने के बाद जड़गति के कारण बिना इंजन के डिब्बे भी कुछ हद तक दौड़ते रहते हैं और बाद में बन्द होते हैं। इसी तरह बाह्य प्रेरणा जब तक काम करे कुछ होता है। नहीं तो जड़गति और जड़स्थिति— यही हमारे जीवन का सामान्य नियम है। हमारे युद्धों में भी जब तक सेनापति

सलामत है, फौज लड़ेगी। सेनापति मारा गया या गायब हुआ तो उस का स्थान कोई नहीं लेगा और लिया तो सफल नहीं हो सकेगा।

[सिर्फ एक ही दफा इस का एक अपवाद पाया गया। अंगरेज़ों ने एक भारतीय फौज अफग़ानिस्तान की ओर भेजी थी। अंगरेज़ सेनापति मारा गया और सेना तितर बितर होने की तयारी में थी। लेकिन एक भारत का डॉक्टर, जो फौज के साथ था लेकिन फौजी आदमी नहीं था उस ने स्वेच्छा से सेना का नेतृत्व किया। लोगों में आत्मविश्वास आया। वे बहादुरी से लड़े और विजय पा कर लौटे। अंगरेज़ों ने इस डॉक्टर की सजन कीर्तिकर की काफ़ी प्रशंसा की।]

मैं ने जवाब में कहा, भूदान ग्रामदान की सफलता सारी दुनिया में एक चमत्कार है। श्री विनोबा लोगों की दानशक्ति त्यागशक्ति पहचान सके और उसे जागृत कर सके यह उन की बड़ी आस्तिकता है। योग्य आदमी की प्रेरणा मिलते ही हमारी जनता अपना मामूली स्वभाव छोड़ कर चाहे जितनी ऊंची उठ सकती है।—यह है सच्चा चमत्कार।

इस तरह चैतन्यशक्ति और जड़शक्ति का संघर्ष हमेशा चलता रहता है। सम्भव है कि विनोबा के कार्य के बाद यानी विनोबा से प्रेरणा पा कर जिन हज़ारों लोगों ने और ग्रामों ने जो विचार परिवर्तन कर दिखाया जो जीवन परिवर्तन किया उस के प्रभाव से सरकार में नयी हिम्मत आयगी और कानून बनाये बिना भी सरकार ज़मीन वालों को और ग्रामों को समझा कर ज़रूरी परिवर्तन कर देगी जैसे भारत सरकार हमारे राजाओं को समझा सकी कि सिर पर का मुकुट उतार देने में ही खैरियत है।

अमरिका में नीग्रो गुलामों की गुलामी शुरू शुरू में ऐसे ही दूर हो सकी। बाद में दक्षिणी राज्यों ने समय को नहीं पहचाना इस लिए आब्राहम लिंकन को बाकायदा युद्ध करना पड़ा।

गांधीजी ने अस्पृश्यता निवारण के कार्य को राजनीतिक क्षेत्र में स्थान दिया। स्वराज्य प्राप्ति का उसे एक अविभाज्य अंग बनाया। कुछ प्रगति हुई। अंगरेज़ों ने अपने स्वभाव के अनुसार हरिजनों को खरीदने की कोशिश की और उन्हें अपनी निष्ठा बेचने का धंधा सिखाया। जो नैतिक प्रवृत्ति थी उसे बाज़ारू रूप आ गया। अस्पृश्यता निवारण का काम नैतिक ढंग से होना चाहिए था। अंगरेज़ों ने उसे भ्रष्ट किया। स्वराज पाते ही अस्पृश्यता निवारण का काम कानूनी ढंग से हम कर सके।

साथ साथ गिरिजनों के उद्धार का काम भी राजनीतिक क्षेत्र में आया। उस के बाद बाक़ी की पिछड़ी हुई जातियों का सवाल भी राजनीति ने अपने हाथ में ले लिया। इस से सब जातियों की स्थिति तो कुछ सुधर गयी। आइन्दा ज़ोरों से सुधरेगी भी। लेकिन सवाल हल नहीं हुआ। न किसी की मानस शुद्धि हुई न किसी के जीवन में परिवर्तन हुआ। वह काम अब करने के लिए शेष है।

यह काम अब भाषण देने से और हस्तपत्रक (पैम्फ्लेट) बाँटने से होने का नहीं। समाज को और सरकार को चाहिए कि वह समाज का एक छोटा सा सारा हिस्सा अपने हाथ में ले कर उसे एक-दो बरस में और बहुत तो एक पंचवार्षिक योजना में हल कर के ही छोड़ें।

यह काम है भंगियों की अस्पृश्यता दूर कर उन का जीवन सुधारने का। इस के लिए सामाजिक दबाव का प्रयोग करना पड़ेगा।

जो लोग जन्म से यानी परम्परा से भंगी हैं, भंगी का पेशा कर रहे हैं ऐसों को दूसरी कोई नौकरी दे कर, उन से भंगी काम ज़बरदस्ती छुड़वाना चाहिए। जब हम लाखों शरणार्थियों को अपने समाज में समा सके और उन की आजीविका का सवाल कुछ न कुछ हल कर सके, तब भंगियों का सवाल हल क्यों नहीं हो सकता? इस में सवर्ण समाज का जितना विरोध होगा उतना भंगियों की ओर से भी विरोध होगा। भंगीजाति के नेताओं की इस में कसौटी होगी। जाति का नाम ले कर सब कुछ पाने को वे तैयार हैं तो इस आजीविका परिवर्तन के लिए उन को अपने लोगों को सफलतापूर्वक तैयार करना ही चाहिए। नहीं तो अपना नेतृत्व छोड़ दें।

भंगियों का सवाल गाँव का नहीं शहरों का है। अमेरिका में लोग यही सवाल पूछते थे कि नीग्रो को मुक्त करने पर जो काम वे करते आये हैं आइन्दा कौन करेगा? जवाब यही हो सकता है कि 'जिन को गरज़ है वे करेंगे'। अगर रसोई बनाने का काम स्त्री जाति और रसोइयों ने छोड़ दिया तो रसोई बनाये बिना दुनिया थोड़े ही रहने वाली है? कुछ रास्ता निकल ही आयेगा। चमार के व्यवसाय में मुनाफ़ा है यह देख कर सब जाति के लोग चमार काम करने के लिए धीरे धीरे तैयार हो रहे हैं। जूते के बिना शायद मनुष्य का काम चल सकेगा। गन्दगी (टट्टियाँ) साफ़ किये बिना वह दस दिन भी नहीं चलेगा। लोग रोग के शिकार बन कर मरने लगेंगे। हम नहीं मानते कि समाज के नेता और समाज के सेवक ऐसी नौबत आने देंगे। भंगी काम जो आज इतना गन्दा है और जो करने के लिए भंगी ही तैयार हैं देखते देखते विज्ञान की मदद से सुधर जायेगा। विद्वान् लोग अपना दिमाग चलायेंगे। नगरपालिकाएँ बड़े बड़े पुरस्कार दे कर

नये नये आविष्कारों को प्रोत्साहन देंगी। कुछ लोग इस आन्दोलन से लाभ उठा कर विलायत की यात्रा कर के वहाँ से खबर मोल लायेंगे। लेकिन कुछ इलाज अवश्य होगा इतना निश्चित है।

भंगियों को गन्दगी की सफाई के काम से छुड़वाना, यह एक काम—और 'उन के रहने के मकानों की समस्या' हल करना यह दूसरा काम इतना अगर हमारा प्लॅनिंग कमिशन तीन या पाँच साल के अन्दर नहीं कर सका तो वह राष्ट्रीय संकट का निवारण क्या कर सकेगा?

गान्धीजी होते तो ऐसी कुछ पंचवर्षीय योजना कर के उसे हल कर के दिखाते। अगर आज जवाहरलालजी इसे सफल बनाने का निश्चय करें तो भी वह हो सकेगा। हमारे समाज और सरकार के इंजन वे ही हैं। बाकी सरकारी सारा तंत्र इंजन के पीछे जोड़ने वाले अच्छे अच्छे डिब्बे के समान है।

अस्पृश्यता का हृदक

बुद्ध भगवान् सनातन हिन्दूधर्मी क्षत्रिय थे। कहते हैं उन के मन में कुलाभिमान भी था। लेकिन किसी भी जाति के प्रति उन के मन में तिरस्कार नहीं था। हिन्दू समाज में धार्मिक दार्शनिक और सामाजिक सुधार उन्हों ने किये। अस्पृश्यतानिवारण के प्रयोग तो उन्होंने किये ही होंगे। उन्होंने ब्राह्मण और चाण्डाल शब्द की नयी व्याख्या की। उन के अनुयायियों को नाम मिला बौद्ध। लेकिन वे हिन्दू समाज से अलग नहीं हुए थे। हिन्दू समाज के वे सुधारक थे।

धीरे धीरे बौद्ध धर्म हिन्दुस्तान के बाहर गया। उस में शाक्त धर्म का मिश्रण हुआ। शाक्त धर्म पूरा पूरा हिन्दू ही था और है। जिस धर्म का प्रचार नेपाल, तिब्बत चीन मंगोलिया कोरिया जापान आदि देशों में फैल गया—उसे महायान कहते हैं। इन के प्रधान ग्रंथ संस्कृत में ही हैं। इस लिए ऊपर के सब देशों के लोगों को हम हिन्दू कह सकते हैं। लेकिन वे अपने को अलग मानें तो उन्हें हम जबरदस्ती हिन्दू थोड़े ही कह सकते हैं?

सीलोन (लंका) ब्रह्मदेश कम्बोडिया आदि प्रदेश के बौद्ध लोग हीनयान पंथी हैं। वे अपने को कभी भी हिन्दू नहीं कहेंगे। उन की भूमिका ही प्रॉटेस्टंट भूमिका है।

मैं ने मान लिया था कि बौद्ध धर्म में हिन्दुओं के कुछ कुछ दोष तो जरूर पहुँच गये होंगे लेकिन अस्पृश्यता से बौद्ध लोग मुक्त ही होंगे। लेकिन देखा कि जापान में ईता कर के एक अस्पृश्य जाति है। उन का पेशा खटीक (कसाई) का था।

हमारे यहाँ के अस्पृश्यों ने सब तरह के अन्याय और अपमान सहन किये, लेकिन वे हिंदू धर्म में ही रहे। उन की श्रद्धा और निष्ठा का फल हिन्दू धर्म के भगवान् ने उन्हें दे दिया। हिंदुओं के संत महंतों ने सुधारक और महात्माओं ने अस्पृश्यता के खिलाफ़ ज़बरदस्त जेहाद चलाया और अब तो सारे राष्ट्र ने सर्वानुमति से घोषित किया कि किसी को जाति के कारण अछूत समझना गुनाह है और उस के लिए सजा हो सकती है। अब अस्पृश्यता के अन्याय का सामना करने के लिए धर्मान्तर करने की आवश्यकता न रही।

इस के पहले चन्द अछूतों ने अपनी अस्पृश्यता दूर करने के लिए इस्लाम का स्वीकार किया। जब पश्चिम के गोरों का राज इस देश में हुआ तब कई अछूतों ने अपनी मुक्ति के लिए ईसाई धर्म को स्वीकार किया।

लेकिन धर्मांतर करने पर भी कहीं-कहीं उन की अस्पृश्यता न गयी। जो सवर्ण हिन्दू ईसाई हुए वे हरिजन ईसाइयों को पहले पहल अपने मन्दिर-चर्च में भी नहीं आने देते थे। बाद में मन्दिर में तो आने दिया, लेकिन उन को अलग बिठाते थे। कहीं-कहीं सवर्ण ईसाइयों की कब्रस्तानें अलग और हरिजन ईसाइयों की कब्रस्तानें अलग। कहते हैं कि आज भी ऐसा भेद दक्षिण भारत में कहीं कहीं पाया जाता है।

खैर! धर्मान्तर करने पर भी अस्पृश्यता ने उन को नहीं छोड़ा। तो भी इस्लाम में या विश्वासी धर्म में अस्पृश्यता को मान्यता ज़ाहिरा तौर पर नहीं है।

अब हरिजनों के चन्द नेताओं ने सोचा कि हम अब तक हिंदू हैं, हमारी अस्पृश्यता टलने की नहीं। इस लिए हम धर्मान्तर करें। वे बौद्ध हुए, नवबौद्ध हुए। हिंदू न रहे।

अब सरकार कहने लगी कि जिन लोगों ने धर्मांतर किया वे हिंदू न रहे। इस लिए अछूतों को जो विशेष अधिकार या सहूलियतें मिलती हैं, तुम को नहीं मिलनी चाहिए।

जो अछूत मुसल्मान या ईसाई हुए वे अपने को शेड्यूलकास्ट में शुमार नहीं करते। उन को अछूतों की सहूलियतें नहीं मिलतीं, न वे माँगते हैं। अगर वे मांगेंगे तो उस का अर्थ यही होगा कि या तो वे अपने को हिन्दू मानते हैं अथवा उन्होंने अस्पृश्यता की बुराई इस्लाम में या ईसाई धर्म में ले जाना पसन्द किया। स्वयं तो अस्पृश्यता से मुक्त नहीं हुए किन्तु एक मुक्त धर्म को उन्होंने अस्पृश्यता के पाप से भ्रष्ट कर दिया।

सुनता हूँ कि बम्बई की तरफ़ कई नव-बौद्ध सरकार से कहते हैं कि हम ने धर्मांतर तो किया, लेकिन हमारी अस्पृश्यता गयी नहीं है इस लिए हमें शेड्यूल-

कास्ट के जो विशेष अधिकार मिलते थे, सहूलियतें मिलती थीं, आइन्दा भी मिलनी चाहिए।

सरकार इन्हें नाराज क्यों करे? जो लोग शेड्यूल्ड कास्ट की फेहरिस्त में रहना चाहते हैं वे सचमुच हिन्दू मिटे ही नहीं। बुद्ध भगवान् जैसे हिन्दू थे, वैसे वे भी हिन्दू ही हैं।

अब वे अस्पृश्यता बौद्ध धर्म में ले गये। जो बौद्ध जमात अस्पृश्यता के पाप से मुक्त थी, वह वैसी न रही।

पता नहीं कि जब नव-बौद्धों को अछूतों के अधिकार मिल रहे हैं तब जो अछूत ईसाई बन गये या मुसलमान बन गये वे भी अगर नव-बौद्धों के जैसे शेड्यूल्ड कास्ट की फेहरिस्त में घुसना चाहें तो सरकार उनके इस दावे को मान्य रखेगी या नहीं। चुनाव के दिन जब आयेंगे तब यह सवाल अवश्य उठेगा।

हमारा तो स्पष्ट अभिप्राय है कि अस्पृश्यता के दैत्य को नष्ट करने का कर्तव्य हिन्दूधर्म का ही है, हिन्दू समाज का ही है। हिन्दुओं का पाप हिन्दू ही धो सकते हैं। हम अपने लोगों को अछूत बनाने का पाप कर ही चुके, साथ साथ इस्लाम, ख्रिस्ती धर्म और बौद्ध धर्म को भी इस बात से मुक्त नहीं रहने देंगे और यह विचित्र प्रयत्न सवर्णों सनातनियों के द्वारा नहीं, किन्तु जो आज तक अस्पृश्य गिने गये उन्हीं के प्रयत्न से अस्पृश्यता का प्रचार अन्य धर्मियों में भी घुस जायगा। पाप का प्रचार कहाँ होगा कहाँ नहीं होगा कहना मुश्किल है। सब धर्मों को बचाने के लिए भी हमें अपने धर्म में से अस्पृश्यता को समाप्त करना ही चाहिए।

(१६ मई १९६१)



पिछड़ी जातियाँ

हमारे आदिम-जाति भाई

देश की जाग्रति के साथ हमारे आदिम जाति भाइयों की उन्नति होती देख कर खुशी होती है। हालांकि हरिजन आदि अन्य जातियो में जितनी जाग्रति हुई है इतनी अभी तक इन में नही पायी गयी है, तो भी जहाँ देखें आदिमजाति के कई लोग अपनी उन्नति के लिये कुछ-न-कुछ सोचते हुए और करते हुए दीख पडते हैं। श्री ठक्कर बाप्पा ने महात्माजी की सहायता से जो काम शुरू किया, उसे सारे देश में इस तरह जोर पकडते हुए देख कर किसे खुशी नही होगी ?

चन्द लोग कहते हैं कि इन भूमिजनों का जीवन जैसा है वैसा ही रहे। यह जीवन इतना आकर्षक है कि उस का काव्य बिगडने नहीं देना चाहिए। इन रसिकों को क्या पता है कि हमारे भूमिजन भाइयों की जीवन-यात्रा कितनी कठिन और कष्टमय है! आदिमजाति के लोगो का एक जिन्दा संग्रहालय बनाना रसिकों के लिए लाभदायी बनेगा। नृवंशशास्त्री लोगो के अध्ययन के लिए इस में बडा सुभीता होगा। लेकिन हम चाहते कि हमारे इन भाइयो को उन्नति और आनन्द के सब साधन मिलें। उन का ज्ञान और कौशल्य बढे। जो तरह-तरह के प्रगति के और सुख के साधन हमें हासिल है, वे सब इन्हें मिलें, और देश में इन्हें वही प्रतिष्ठित स्थान मिले जो दूसरो को आज मिल रहा है। श्री जवाहरलाल नेहरू और राष्ट्रपति राजेन्द्रप्रसाद जिन स्थानो पर आज विराजमान हैं वे सब स्थान आदिमजाति भाइयो के लिए भी खुले हैं। लेकिन उन की महत्त्वाकांक्षा आज वहाँ तक नही पहुँचती है। किसी-न किसी वक्त उन को वहाँ तक पहुँचना ही है।

आदिमजाति के लिखे-पढे नवयुवक आज अपनी जाति की उन्नति की बातें सोच रहे हैं। यह अच्छा ही है। लेकिन केवल अपने ही लोगो की उन्नति का ख्याल करने वालो का पूरा उत्कर्ष नहीं होता। जो लोग औरों के हित की—सारे देश के लोगो के हित की बात सोचते है, उन्हीं की पूरी उन्नति होती है। महात्माजी अगर सौराष्ट्र के मोढ बनिया की ही उन्नति की सोचते तो विश्ववन्द्य महात्मा नही बनते। भारत के सर्वोच्च सेवक जवाहरलालजी भारत की उन्नति

के लिए दिन रात लगे रहते ही हैं, लेकिन साथ साथ वे दुनिया के अन्य देशों की भी सोचते हैं। इसीलिए आज दुनिया में उन का इतना ऊँचा स्थान है। और उन के कारण भारत की ओर सारी दुनिया आशा की निगाह से देख रही है। हमारे आदिमजाति भाइयों की और बहनों की महत्त्वाकांक्षा की तनिक भी मर्यादा नहीं होनी चाहिए।

इन गिरिजन और भूमिजन बन्धुओं की उन्नति की बात जब हम सोचते हैं, तब हमारी यह कोशिश नहीं होनी चाहिए कि हम उन्हें अपनी कोई मनमानी सूरत दे दें, उन्हें हम अपने साँचे में ढाल दें। आदिम जातियाँ ईश्वर की कलाकृति हैं। उन के सामने इस युग के सब आदर्श हम प्रेम से धर दें। इन्हें जो बात पसन्द आयेगी, ले लेंगे, जो पसन्द नहीं आयेगी, छोड़ देंगे। जैसी इन की खुशी हो, वैसा अपना विकास-क्रम वे पसन्द करेंगे।

आज इन के आसपास की दुनिया जोरों से आगे बढ़ रही है। उन्हें इस की पूरी जानकारी नहीं है। कई स्वार्थी लोग इन भोले लोगों की अज्ञानता से लाभ उठाते हैं, इन का शोषण करते हैं। इन्हें बचाना हमारा प्रथम कर्तव्य है।

इन्हें बचाने का और इन की उन्नति का सब से महत्त्व का तरीका है शिक्षा। हम अपने बच्चों को जैसी शिक्षा देकर बिगाड़ रहे हैं, वैसी शिक्षा इन्हें देंगे तो इन का अहित होगा। इन्हें इन के जीवन के अनुरूप वही शिक्षा देनी चाहिए जो महात्मा गान्धीजी ने देश के सामने रखी है। लेकिन अगर हम इन्हें उच्च शिक्षा का रास्ता और सरकारी नौकरी का रास्ता बन्द कर दें तो इन का विकास रुक जायेगा। आज की शिक्षा के द्वारा बेकारी बढ़ती जाती है। यह बेकारी की शिक्षा इन के काम की नहीं है—किसी के भी काम की नहीं है। इन लोगों के लिए महात्माजी की बतायी हुई बुनियादी शिक्षा ही सब तरह से मुफीद है। लेकिन हम जानते हैं कि ये लोग यह शिक्षा लेने के लिए तभी तैयार होंगे जब हमारी सरकारें घोषित करेंगी कि सरकारी नौकरी देते वक्त उन्हीं को ज्यादा पसन्द किया जायेगा, जिन्होंने बुनियादी शिक्षा में प्रवीणता हासिल की है।

और भी एक बात है। बुनियादी शिक्षा के लिये आज तक हम ने ऐसे शिक्षक पसन्द किये जो सफेदपोश जाति के थे। ऐसे लोगों को परिश्रम के प्रति अरुचि होती है। हाथ पाँव चलाना वे अपनी शान के खिलाफ़ समझते हैं। स्वयं काम करने की अपेक्षा वे दूसरों का शोषण कर अपना घर भरते हैं। गान्धीजी की बतायी हुई शिक्षा ऐसों के हाथ में सलामत नहीं है।

आइन्दा हम गाँव के और देहातों के कारीगरों को बुला कर कहेंगे कि गाँव के गृह उद्योग और हाथ-कारीगरी में हम आप का इम्तहान लेंगे। उस परीक्षा में

भी इन्हें समझाना जरूरी है। वोट (मतदान) क्या चीज है, पार्लियामेंट क्या काम करती है, अन्याय का इलाज कैसे हो सकता है, पंचायत के अधिकार क्या और कितने हैं, इन सब बातों से इन्हें वाकिफ करना चाहिए।

विज्ञान के साथ शुद्ध धर्म का ज्ञान भी शिक्षा के द्वारा दिया जाये और धार्मिक जीवन के विकास के लिए गीत, नृत्य, नाटक और चित्रकला का उपयोग किया जाये। आदिवासियों के गीत और नृत्य का सम्मान तो हम करते आये हैं। लेकिन इतना काफी नहीं है। जहाँ जहाँ इन के गीत और नृत्य संस्कारी और आकर्षक हैं वहाँ उन को अपनाने का, फैलाने का प्रयास हम करें, यह भी इतना ही जरूरी है। जब वे देखेंगे कि उन के पास देने लायक भी कुछ है और हम उन के पास से सीखते हैं तो उन का आत्मविश्वास बढ़ेगा और हमारे साथ घुलते मिलते हुए उन को संकोच नहीं रहेगा।

गिरिजनों को और भूमिजनों को लोग जंगली कहते हैं। जंगलों के साथ का घनिष्ठ सम्बन्ध रहता है इस अर्थ में इन्हें हम जंगली कह सकते हैं। लेकिन अगर 'जंगली' का अर्थ असंस्कारी है, तो यह शब्द इन आदिम-जातियों के लिए बिलकुल अनुचित है। इन का सामाजिक संगठन, इन की सत्यनिष्ठा, खुले दिल से बात करने का इन का तरीका, जहाँ विश्वास बैठ गया वहाँ इन की असाधारण निष्ठा—ये सब ऊँची संस्कारिता के लक्षण हैं। परिमित साधनों के द्वारा ये लोग जिस तरह अपनी जीवन-समस्याएँ हल करते हैं, उस में भी इन की संस्कारिता और शक्ति प्रकट होती है। ग्रामोद्योग में इन की प्रवीणता और कला-कौशल्य बड़े ही आकर्षक होते हैं। इन के औजार, इन के वादित्र इन के शिकार के साधन आदि हर बात में इन की संस्कारी सफलता पायी जाती है। इन की बनायी हुई कलायुक्त चीजें हम केवल संग्रहालय में न रखें। हजारों घरों में भी उन का इस्तेमाल बढ़ाना चाहिए।

आदिवासियों के धार्मिक ख्यालों का हमें आदरपूर्वक अध्ययन करना चाहिए। ईसाइयों ने उन के साथ धर्म प्रचार बहुत किया है। दो करोड़ आदिवासियों में से चार लाख आदिवासी ईसाई बन चुके हैं। जो धर्म हमारे इन भाइयों ने अपनाया उसे हम अब पराया धर्म नहीं कह सकते। ईसाई मिशनरी भले ही आदिवासियों के धर्म विचार के प्रति सहानुभूति या आदर न रखें, किन्तु हमें ईसाई धर्म के प्रति अनुदार दृष्टि नहीं रखनी चाहिए। दुनिया में जितने भी महान् धर्म हैं, हमारे आदर के अधिकारी हैं। जब दुनिया में अधर्म का फैलाव बढ़ रहा है, सब धर्मों को चाहिए कि वे अपनी अपनी संकुचितता छोड़ कर परस्पर भाई चारा बढ़ायें और सब मिल कर अधर्म के खिलाफ मोर्चा बाँध दें।

ईसाई धर्म प्रचारकों को हम दुश्मन क्या मानें ? अगर उन में संकुचितता है, तो वह हम अपनी उदारता के द्वारा दूर करें। भगवान् ईसा एक परम भागवत थे। उन की ईश्वरनिष्ठा अनन्य थी। वे बाल ब्रह्मचारी थे। पतितोद्धारक थे। हिन्दू धर्म ने ऐसे सब सन्तों को आराध्य माना है। हम लोग जिस तरह अनेक त्यौहार मनाते हैं, नाताल (क्रिसमस) का भी त्यौहार मनावें। ईसा के उपदेश में कोई ऐसी चीज नहीं है जो हमें आपत्तिजनक लगें। हम हिन्दू रह कर ईसा को और ईसा के सदुपदेश को स्वीकार कर सकते हैं।

ईसाई मिशनरियों ने हमारे देश में बहुत कुछ प्रचार किया है। राज्य सत्ता की उन्हें मदद थी। और उन्होंने सेवा-काम भी बहुत किया है। इस लिए उन्हें कामयाबी मिली। चन्द मिशनरियों की करतूतें अच्छी नहीं हैं लेकिन इस से ईसाई धर्म को हम बुरा नहीं कह सकते। हिन्दू धर्म और ईसाई धर्म दोनों की दृष्टि में एक बड़ा फ़र्क़ है। ईसाई धर्म के प्रचारक कुछ असहिष्णु होते हैं। वे कहते हैं कि सत्य तो हमारे पास ही है। बाकी के सब धर्म असत्य में डूबे हुए हैं। लेकिन ख़ूबी यह है कि इन ईसाइयों में अनेक पन्थ हैं। एक को जो बात सही लगती है, वह दूसरे को गलत लगती है। आपस में वे विवाद करते रहते हैं।

हम कहते हैं कि भगवान् की दुनिया में तरह-तरह के मानस होते हैं। ईश्वर की ओर बढ़ने के रास्ते बहुत हैं। आदिवासियों में भी सदाचार की चाह है। हिन्दूधर्म में आदिवासियों के धर्म विचारों का और रूढ़ियों का तिरस्कार नहीं किया है। आदिवासियों के धर्म विचारों के लिए हिन्दू धर्म में स्थान है। अगर ठीक सोचा जाये तो हिन्दू धर्म एक विशाल धर्म कुटुम्ब है। इस में अनेक मार्गों के लिए स्थान है। हम अपनी उपासना में रोज कहते हैं "सब सन्तन की जय।" संकीर्ण बुद्धि के लोग इस चीज को नहीं समझ सकेंगे। वे तो वाद विवाद करने को ही तैयार हो जाते हैं। उन के प्रति हम दयाभाव रखें और उन से चर्चा करना छोड़ दें।

आज दुनिया में तीन धर्म अनेक देशों में फैले हुए हैं बौद्ध, ईसाई और इस्लाम। तीनों के साथ हम प्रेम का सम्बन्ध रखें, भाईचारा बढ़ायें। सब धर्मों के साथ सहयोग स्थापित कर हम अपनी दृष्टि को जामन (leaven) की तरह उपयोग में लायें। जैसे हम दूध में दही का जामन डालते हैं और उस में से मक्खन निकालते हैं उसी तरह हमारी दृष्टि का जामन इस्तेमाल कर के हम सब धर्मों में से उन का मक्खन निकाल सकते हैं और अपना सकते हैं।

आज दुनिया में राजनीतिक विचारों का झगड़ा चल रहा है। धार्मिक

झगड़ों से भरी हुई दुनिया अब राजनीतिक वादों में लगी हुई है। और अब इन वादों के झगड़े चल रहे हैं। पूँजीवाद, समाजसत्तावाद, साम्यवाद आदि के झगड़े ऐसे ही बढ़े हैं जैसे धर्म के चले थे। अब इन में से एक रास्ता निकल आया है जिसे कहते हैं 'को-एक्जिस्टन्स' या सहचार या सह अस्तित्व, जिस के माने हैं "भैया तुम भी रहो, हम भी रहेंगे। तुम्हारे उसूल तुम्हें मुबारक हों। हम अपनी जगह, अपने उसूल पर चलेंगे। झगड़ा करने से कोई धर्म या कोई 'इज़म' का नाश नहीं होता, किसी एक की विजय भी नहीं होती। सिर्फ झगड़ा बढ़ता है। तो क्यों न मान लें कि झगड़े का मुँह काला। झगड़ा छोड़ कर हरेक अपने-अपने रास्ते चलें। जब भगवान् सब को बरदाश्त करता है तो हम क्यों आराम से साथ न रहें?"

अगर झगड़ा छोड़ कर सह-अस्तित्व को स्वीकार किया तो धीरे धीरे सह-अस्तित्व से सहयोग पैदा होगा। आदान-प्रदान शुरू होगा। और अन्त में हम सर्व-समन्वय तक पहुँच जायेंगे।

असली बात प्रेम, सेवा, भाईचारा और सहयोग की है। अगर हम अपने सब भाइयों की सच्चे दिल से सेवा करें, उन के जीवन के प्रति मन में आदर रखें और उन के उत्कर्ष से हम खुश हो जायें तो कोई झगड़े नहीं रहेंगे।

इन दो साल हम सारे देश में खूब घूमे। जो आदिम जाति लोग ईसाई नहीं बने हैं, उन की ईसाइयों के खिलाफ शिकायत है कि उन के मन में आदिमजाति जीवन के प्रति आदर नहीं है। वे अपने को श्रेष्ठ समझते हैं और चार लाख होते हुए, दो करोड़ के अगुआ बन बैठना चाहते हैं।

स्वराज्य सरकार का राज्य जब तक अँगरेज़ी में चलेगा तब तक ईसाई आदिमजाति की विशेष प्रतिष्ठा कुछ न-कुछ कायम रहेगी ही। हमारी सरकार भी उन की तरफ कुछ पक्षपात रखती है। अगर राजकाज हिन्दी में चला तो स्थिति सुधर जायगी। "गैर ईसाई आदिमजाति की जमात अलग करो, उन के हिसाब से ईसाइयों को उन के अधिकार दे दो। और हमें अपने ढंग से जीने और बढ़ने दो। नहीं तो हमारा विकास रुक जायेगा और हम हमेशा दबे रह जायेंगे।"

जिस तरह आदिम जातियाँ अनेक हैं उसी तरह उन की भाषाएँ भी अनेक हैं। इन भाषाओं का अध्ययन हमारे सेवक तो करेंगे ही, लेकिन उस के साथ हमारे विश्वविद्यालय-युनिवर्सिटियाँ भी आदिमजाति भाषाओं का गहरा अध्ययन शुरू कर दें। पूना में डेक्कन कालिज रिसर्च इन्स्टीट्यूट के द्वारा डॉ० कत्रे इस दिशा में जो प्रयत्न कर रहे हैं वह सराहनीय है। हमारे आदिमजाति-सेवक उन के साथ अपना सम्पर्क शुरू करें, उन की सहायता करें और उन से सहायता भी लें।

आदिमजाति भाषाओं के लिए या तो प्रादेशिक लिपि काम में ली जाये या देवनागरी। इन की भाषा के कोश, व्याकरण और गीत-संग्रह तो नागरी में ही छपने चाहिए। ताकि उच्च और गहरा अध्ययन करने वालों को सहूलियत मिल जाये। और आदिमजाति के हजार नवयुवकों को भी हिन्दी, संस्कृत आदि अनेक भाषाएँ सीखना आसान हो जाये।

इतने विशाल देश में आदिमजातियों का जीवन सर्वत्र एक-सा नहीं है। जो लोग स्वराज की नींव मजबूत करना चाहते हैं, राष्ट्र-संगठन का महत्व समझते हैं, उन को चाहिये कि वे आदिमजातियों के जीवन का अध्ययन गहराई से करें। उन की भाषाएँ कामचलाऊ नहीं—अच्छी तरह से सीखें। उन की भाषा में, वहीं के ढंग के नये-नये शब्द बनाने की शक्ति भी सेवकों में होनी चाहिए। उन की भाषा के अच्छे-अच्छे शब्द हम हिन्दी में और अपनी प्रान्तीय भाषाओं में क्यों न लें? उन के गीत और नृत्य भी हम अपनायें। उन के साथ खानपान का परहेज भी न हो। जिस तरह दिल्ली के उत्सव में हम इन्हें बुलाते हैं, वैसे ही हर जगह के स्थानिक उत्सव में हम इन्हें बुलायें और आमोद प्रमोद में बिलकुल एक हो जायें।

जैसे हम इन की सेवा करें वैसे ही उन की सेवा लेते भी हमें संकोच नहीं होना चाहिए। आदिमजाति लोग प्रकृति के बालक हैं। वनस्पति का ज्ञान इन के पास बहुत है। हमारे वैद्य और रसायनशास्त्री इन की इस जानकारी से बहुत लाभ उठा सकते हैं।

आदिमजातियों के शिक्षण क्रम में भी हमें इस बात का ख्याल रखना चाहिए कि इन का जीवन एक पशु पक्षी, वनस्पति और खनिज द्रव्यों के साथ ज्यादा सम्बन्ध रखता है। इसलिए इन को वनस्पति विज्ञान, पशु विज्ञान, खनिज विज्ञान आदि शास्त्रों का अच्छा परिचय कराना चाहिए। कोयले के या लोहे के खदान में इन लोगों को मजदूरों के तौर पर हम रखते हैं इतना काफी नहीं है। अगर इन में-से अच्छे होनहार नवयुवकों को हम खदान काम 'माइनिंग' और खनिजशास्त्र 'मेटालर्जी' में प्रवीण होने का मौका दें तो इन के प्रति यह न्याय होगा, और इन से राष्ट्र की अच्छी सेवा भी हो सकेगी। चन्द युवकों को हम जर्मनी, रशिया और अमेरिका भेज दें और वहाँ की विद्या स्वदेश में लाने का बहुमान इन्हें प्राप्त हो, यह सर्वथा उचित है।

कोऑपरेटिव सोसाइटीज के बारे में मैं यहाँ ज्यादा कुछ न कहूँ इस विषय के जो माहिर हैं उन्हीं को यह अधिकार है। मैं जानता हूँ कि बम्बई राज्य में वन्य सहकारी समितियाँ बड़ी सफलता के साथ चल रही हैं। मैं यह भी जानता हूँ कि

आदिमजाति लोगों का स्वभाव इस प्रवृत्ति के लिए सब तरह से अनुकूल है। जरूरी जानकारी पाने के बाद वे ऐसी सोसाइटी का काम बड़ी सफलता के साथ कर सकते हैं। कहा जाता है कि अनुकूल समय आने पर, जो सब से पिछड़े हैं वे ही सब से आगे आ जाते हैं—'द लास्ट शॅल बी द फर्स्ट'।

हर एक देश की सुधरी हुई सरकारें जंगल की हिफाजत की ओर खूब ध्यान देती हैं। हर साल जितने पेड़ काटने की इजाजत दी जाती है, उस से दस गुने पेड़ बोने का प्रबन्ध भी किया जाता है। हमारे जंगल हमारी ही कीमती सम्पदा हैं। उन्हें घटने नहीं देना चाहिए।

साथ-साथ इस का भी ख्याल रहे कि जंगल में रहने वाले आदिवासियों को भी परेशानी न हो। आदिवासियों की संख्या और शक्ति भी देश की कीमती दौलत है।

अरण्य विद्या का रहस्य इन्हें सिखाकर, इन्हीं को अरण्य रक्षक के तौर पर नियुक्त किया जाये। वन रक्षक (फॉरेस्ट गार्ड) के तौर पर बाहर से लोगों को लाना बिलकुल जरूरी नहीं है।

आदिमजाति के पढ़े हुए नवयुवकों से मैं कहूँगा कि वे अपनी जाति की सेवा करें तो वह ठीक है ही। किन्तु इतने से वे अपना और अपनी जाति का पूरा उत्थान नहीं कर सकेंगे। उन्हें भारत के समूचे उत्थान में योग देना चाहिए। जिस तरह राष्ट्र के अन्य नेता केवल अपनी जाति की बात नहीं सोचते, विश्व कल्याण का ख्याल रख कर ही सेवा में लग जाते हैं वैसे ही उन्हें भी करना होगा। वही सर्वांगीण उन्नति का एक मात्र उपाय है।

आदिवासियों के बीच रह कर उन की सेवा करने का व्रत जिन्होंने लिया है ऐसे कई सज्जन यहाँ उपस्थित हैं। उन का कार्य ईश्वरीय कार्य है। इस कार्य में लगे हुए लोगों की वन्दना करना हमारा प्रथम कर्त्तव्य है। इन से दो बातें करने का जो मौका मिला वह तो परमात्मा की कृपा ही है।

हमारा तो आदर्श है कि जिन की सेवा करते हैं उन्हें भगवान् का ही रूप मान लें। भगवान ने आदिमजातियों का भोला रूप धारण कर के हम से सेवा लेने का तय किया है तो हम पूरी निष्ठा से उन की सेवा करें। हम उन के विश्वास के योग्य बनें यह हमारा प्रथम कर्त्तव्य है। जब तक हम उन की भाषा पूरी तरह से नहीं सीखते हैं और उसे नहीं अपनाते हैं तब तक उन का हृदय कमल पूरा खिलेगा नहीं। उन की सेवा के साथ अगर उन की भाषा की भी सेवा हम ने की तो नये साहित्य के द्वारा हम उन के कण्ठ में और हृदय में स्थान

सकेंगे और आने वाली अनेक पीढियों के साथ हमारा सम्पर्क बना रहेगा। कण्ठस्थ साहित्य हरेक समाज की क़ीमती पूँजी होती है।

हमारे देश में जाति भेद के कारण हम खान-पान का परहेज़ बहुत रखते हैं। ऐसे सब परहेज़ छोडने से ही हम भाईचारा बढा सकेंगे। अभक्ष्य भक्षण और अपेय पान की सिफ़ारिश मैं नही कर रहा हूँ। लेकिन किसी के साथ बैठ कर खाना, किसी के हाथ की बनी हुई चीज़ खाना—इस में तो कोई कठिनाई नही होनी चाहिए।

आदिवासियों को हिसाब किताब का ज्ञान जितना अधिक दें उतनी ही उन की उन्नति तेजी से होगी। बहुधन्धी सहकारी समितियाँ चलाने के लिए भी हिसाब किताब का अच्छा ज्ञान बहुत ज़रूरी है।

आरोग्य के बारे में भी हमारे पास इन्हें देने लायक काफी ज्ञान होना चाहिए।

असली बात तो यह है कि हम उन के बीच ऐसे आश्रम चलायें कि जिन के द्वारा आदिमजाति के अनेक खानदान एकत्र रह सकें और सब धर्मों के प्रति आदर रखने वाला वायुमण्डल पैदा कर सकें।

जीवन शुद्धि और जीवन समृद्धि यही हमारा आदर्श हो। इन लोगों के साथ ओत प्रोत हो कर रहने का जो आनन्द है, वही हमारे जीवन की सच्ची कृतार्थता है।[1]

---

१ अ भा आदिमजाति कल्याण सम्मेलन जगन्नपुर (मध्य प्रदेश) में ता० ११ मार्च १९५५ को दिया गया भाषण।

हम असहिष्णु क्यों बने ?

साम्प्रदायिक मनमुटाव

हमारे बचपन में हिन्दू और मुसलमान ये दो जमातें करीब अलग अलग रहती थी। हिन्दू मुहल्ला अलग, मुसलमान मुहल्ला अलग। ऐसा होते हुए भी दोनों के बीच वैमनस्य नहीं था। हिन्दू अपने रस्म रिवाज के अनुसार चलते थे, मुस्लिम अपने।

हिन्दुओं के घर में, दुकानों में और कारखानों में मुस्लिमों को नौकरी मिलती थी। मुसलमानों की दुकानों में हिन्दू ग्राहक खुशी से जाते थे। त्योहारों के दिनों में लोग अपनी अपनी जमात के लोगों को ही बुलाते थे। लेकिन हिन्दू मुसलमान दोनों, अपने भिन्न धर्मी दोस्तों के यहाँ मिठाइयाँ और दूसरी चीजें भेजते थे।

जहाँ मुस्लिम राज रहा, वहाँ मुसलमान हिन्दुओं का कम समझते थे। हिन्दू राज में मुसलमानों की वही ही हालत थी। इस में किसी को बुरा नहीं लगता था। दोनों समाज विभक्त होते हुए भी समानभाव से रहते थे और सहयोग भी करते थे। जहाँ हिन्दुओं का जोर रहा मुसलमान गोवध नहीं करते थे। जहाँ मुसलमानों का अधिकार था, वहाँ हिन्दू लोग गोवध सहन करते थे।

मुख्य बात यह थी कि दोनों समाज एक दूसरे के रस्म रिवाज समझ कर और बलाबल पहचान कर शान्ति से रहते थे। आज भी मैं समझता हूँ, हालत ऐसी ही है लेकिन अब दोनों पक्षों के लोगों के मन में अशान्ति रहती है। कभी कभी मनमुटाव भी पैदा होता है। हमारे बचपन में हिन्दू मुस्लिमों के बीच जब झगड़े होते थे तो गोवध के ही कारण। मस्जिद के सामने बाजे बजने के कारण कभी झगड़े नहीं हुए थे। उन दिनों हिन्दुओं में सचमुच गोमाता के प्रति भक्ति रहती थी। गाय को बचाना हमारा विशेष धर्म है ऐसी भावना करीब हर एक हिन्दू की थी। आजकल हिन्दुओं की वही गोभक्ति बहुत सी शिथिल हुई है। चन्द लोग गोरक्षा की बातें करते हैं गोरक्षा का प्रचार जोरों से होता है लेकिन ऐसे प्रयत्न को गान्धीजी ने रचनात्मक रूप दिया है। गाय

को मारने वाले के साथ झगडा कर के उसे मारने की कोशिश आजकल कोई नही करता, न करनी भी चाहिए ।

प्राणियों की हत्या करने का अधिकार किसी का भी नही है। तो भी मनुष्य छोटे-बडे प्राणियों को मारता हो आया है। हम इतना ही कह सकते हैं कि जानवरों को और पशु पक्षियों को मारना हैं तो बुरा, लेकिन इस तरह प्राणियो की हत्या करने वाले लोगों को जबरदस्ती रोकने का अधिकार हम अपने हाथ में ले नही सकते। मनुष्य जाति [illegible] इतना विकास नही हुआ हैं।

लेकिन हम जीवदया की दृष्टि से और उच्च धार्मिक दृष्टि से लोगों में बीच प्रचार तो जरूर कर सकते है कि प्राणियों को न मारना अच्छा।

इस में भी हमें अपना प्रचार क्रमश करना चाहिए। सिंह, बाघ आदि हिंस्र पशु और सांप आदि जहरीले प्राणियों की हत्या रोकने का प्रयत्न हम इन दिनों न करें। केवल अभयारण्य में ही इन प्राणिया को न मारने का नियम हैं वही पर्याप्त है।

मनुष्य के शरीर में रोग के जो सूक्ष्म जन्तु होते हैं और बढते है, उन का विनाश दवाइयाँ ले कर हम करते हैं। ऐसी जन्तु-हत्या को रोकने की बात कोई मानेगा नहीं। हम प्राकृतिक चिकित्सा का प्रचार कर के ही सन्तोष मानेंगे।

घर के इर्दगिर्द खेती में और बगीचे में मच्छर आदि जन्तुओं का उपद्रव टालने के लिए आजकल डी० डी० टी० जैसी जहरीली दवाओं का छिडकाव किया जाता है। इसे रोकने का हमारे देश में कही भी प्रयत्न नहीं हो रहा है। जहरीली दवा के छिडकाव से मनुष्य की जानें बचती हैं, रोग दूर रखे जाते है, यह लाभ स्पष्ट हैं। इसलिए जन्तुनाशक दवाओं का प्रयोग हम रोक नही सकते।

हालांकि अमेरिका में खेती बचाने के नाम जन्तुनाशक जहरीली द्रव्य इतने नये नये बनाये जा रहे हैं और उन का प्रयोग इतने बडे पैमाने पर हो रहा है कि पशु-पक्षी और मनुष्य का जीवन भी खतरे में आ रहा है और वहाँ जन्तुनाशक द्रव्यों के प्रयोग के खिलाफ एक जबरदस्त आन्दोलन शुरू हुआ है।

ऐसी बातो में हिन्दू मुसलमान, ईसाई, पारसी सब का हित एक सा है। और जीव-दया का प्रचार सब के बीच एक-सा होना चाहिए।

आजकल जो साम्प्रदायिक मनमुटाव है, वह सचमुच धर्म के कारण नही हैं। अपनी अपनी जमात का स्वार्थ सिद्ध करने के लिए और हद से ज्यादा अधिकार पाने के लिए जो खींचातानी चलती है वही कारण हैं। जबरदस्त लोग कमजोर लोगों को दबाने की कोशिश जब तक करते रहेंगे मनमुटाव ही रहेगा। जब समानता और न्याय का आदर होगा, और सब को अपने-अपने उत्कर्ष के लिए

एक-सा अवसर मिलने लगेगा, तब साम्प्रदायिक आन्दोलन अपने-आप बन्द हो जायेंगे, और अगर चलेंगे भी तो उन की ओर कोई ध्यान नहीं देगा।

अलगाव सचमुच राष्ट्रीय रोग है

हमारे देश में अनेक धर्म हैं, अनेक भाषाएँ चलती हैं और जानकार लोग बताते हैं कि हमारा राष्ट्र अनेक वंशों (races) का बना हुआ है। इतनी विविधता हमारे देश में रहते हुए भी उन के बीच परस्पर आत्मीयता का सम्बन्ध रहना चाहिए। बिना आत्मीयता के एकता टिक नहीं सकती। नाम मात्र की एकता से वह दृढ़ता, वह सन्तोष और सामर्थ्य पैदा नहीं हो सकता जो सच्ची, दिल की एकता—आत्मीयता की एकता से सहज पैदा होता है।

यदि विविधता के बीच एकता—सच्ची, आत्मीयता वाली एकता—स्थापित न हो जाये तो वह एक रुग्ण दशा है। इस रुग्ण स्थिति के हम ऐसे आदी बन गये हैं, कि यह स्थिति रुग्ण है यह भी हम भूल गये हैं, और मानने लगे हैं कि यह तो स्वाभाविक स्थिति है।

अक्सर लोग अपने परिवार का, अपने खानदान और अपनी छोटी सी जाति के ही विषय में सोचते हैं। कहते हैं "हम अपने हितों की रक्षा करते हैं, एक दूसरों की मदद करते हैं, औरों का कुछ बिगाड़ते नहीं। हम को बाहर के लोगों की क्या पड़ी है ? इस में हमारा क्या दोष है ? हर एक आदमी अगर अपना और 'अपनों' के हितों की रक्षा कर ले तो किसी को कुछ कहने के लिए न रह जाये। सारी दुनिया का भार उठा कर हम कहाँ फिरें ? हमारे लिए हमारी जाति काफी है।" पिछड़े हुए स्वजनों के प्रति खास कर्तव्य है इस बात को वे भूल ही जाते हैं।

ऐसी संकुचित दृष्टि देश को कमजोर बनाती है। व्यापक आत्मीयता के बग़ैर राष्ट्र की एकता टिक नहीं सकती। आज की संकुचितता हम अगर कायम रखेंगे और झगड़ालू कौमों के साथ केवल राजनीतिक समझौते करते रहेंगे तो छोटे छोटे समाज ज्यादा से ज्यादा मजबूत होते जायेंगे और 'झगड़ा और समझौता', 'फिर झगड़ा और फिर से नया समझौता'—ऐसी अखण्ड परम्परा चलती रहेगी और राष्ट्र की रुग्णता जड़ पकड़ेगी।

इस का इलाज राजनीतिक तरीके से नहीं हो सकता। यह तो सामाजिक

और सांस्कृतिक क्षेत्र में ही सम्भव हो सकता है। जातिभेद, धर्मभेद, प्रान्तभेद, वंशभेद और संस्कृतिभेद होते हुए भी परस्पर ओतप्रोत होने की कला हमें सीखनी ही होगी। हर एक को लगना चाहिए कि 'हम सब एक ही हैं, हम सब के हैं, सब हमारे हैं। हमारा क्षेत्र सब के हाथ में है और सब के लिए हम जिम्मेवार हैं।' 'मैं स्वयं का ख्याल रखूँगा अपनी जाति के बारे में ही सोचूँगा'—यह सोचना राष्ट्रद्रोह है। इतना अगर हम न समझ सकें तो देश की एकता और देश की आजादी टिक नहीं सकेगी।

भारत के हम सब लोग अगर आत्मीयता से एक होंगे तो, जगत भर में भारत सब से समर्थ राष्ट्र बनेगा और दुनिया की सेवा कर के सर्वत्र शांति और आत्मीयता स्थापित कर सकेगा।

भारत से भगवान् ने ऐसी युग-सेवा की अपेक्षा की है।

इस के लिए रोटी बेटी-व्यवहार के तंग दायरे तोड़ने ही पड़ेंगे। अपनी सम्पत्ति, समृद्धि और कार्य शक्ति का फायदा अमुक लोगों को ही मिले, औरों को न मिले, ऐसी संकुचित वृत्ति छोड़े बिना मुक्ति न होगी।

गुजरात की ही सोचें। हमारे पारसी भाई तेरह सौ साल से हमारे बीच रहते हैं। ईरान की अपनी भाषा छोड़ कर उन्होंने स्वभाषा के तौर पर गुजराती भाषा अपनायी। पारसी लोग किसी के साथ झगड़ा नहीं करते। फिर भी हम और वे अलग अलग ही रहते हैं। यह स्थिति तोड़ कर हमें परस्पर घुल मिल जाना चाहिए। यही बात ईसाई और यहूदियों के बारे में भी है। इन सब के साथ अगर हम ओतप्रोत हो सकें तो मुसलमानों का सवाल भी आसान हो जायेगा।

यही सब से बड़ी क्रान्ति अब हमें करनी है।

(१६ जनवरी १९६८)

दूसरों की देखा देखी हम संकुचित क्यों बनें ?

हिंदू धर्म में और समाज में असंख्य पंथ और जातियाँ हैं तो भी हम उन्हें हिंदू ही कहते हैं। इन के बीच अक्सर शादियाँ नहीं होतीं। खानपान की कठिनाइयाँ बहुत थीं जो आज कम हो गयी हैं। भिन्न जाति के बीच विवाह नहीं होते सो नहीं लेकिन उन की संख्या कम है। समाज पहले ऐसे मिश्रविवाहों को बहिष्कार

भी सजा देता था, अब नहीं देता। शैव, वैष्णव और देवी उपासकों के बीच शादियाँ आसानी से हो सकती हैं, इस में कोई शिकायत नहीं है। गुजरात में हिंदू बनिया और जैन बनियों के बीच आसानी से शादी होती है। धर्मचर्चा जब चलती है तब जैन कहते हैं, हम हिन्दू नहीं हैं। ऐसा कहने का उन्हें अधिकार है, क्योंकि हिंदू लोग वेद को मानते हैं और जैन नहीं मानते। (सच पूछा जाये तो वेद को मानने-न मानने से किसी का कुछ बिगड़ता नहीं।) पंजाब में अँगरेजी शासनकाल से सिख अपने को हिंदुओं से अलग मानते हैं, लेकिन हिंदू सिखों के बीच शादियाँ हो सकती हैं आज भी होती हैं।

कहते हैं कि पूर्व भारत में बंगालियों और असामियों के मध्य सौहार्द नहीं। उन के बीच प्रांत भेद और भाषा भेद के कारण काफी मनमुटाव है, तो भी हम देखते हैं कि वहाँ पर बंगाली और असमिया लोगों में काफी शादियाँ होती हैं और इस के खिलाफ कोई शिकायत नहीं करते। जाति एक रही तो भाषा भेद बाधक नहीं होता। महाराष्ट्र और कर्णाटक के बीच ऐसा ही है। महाराष्ट्री और कर्णाटकी ब्राह्मणों के बीच हमेशा विवाह होते आये हैं। भाषा की कठिनाई क़ायम थोड़े ही रह सकती है? लड़कियाँ ससुराल की भाषा सीख जाती हैं।

इसीलिए मैं कहता हूँ कि सिखों को और जैनियों को संस्कृति की दृष्टि से और सामाजिक दृष्टि से हिंदू ही कहना चाहिए।

अब यह सामाजिक भेद कहाँ से आता है और सामाजिक एकता कैसे तय की जाती है? बड़ा सवाल तो आहार का है। मांसाहारी और शाकाहारी जातियाँ अलग रहें तो इस में आश्चर्य नहीं माना जाता। उन का अलग रहना यथायोग्य और न्याय्य माना जाता है तो भी एक ही जाति में अगर दोनों रिवाज हैं तो इन के बीच शादी विवाह में कठिनाई नहीं आती। उत्तर भारत में और बंगाल में भी एक ही जाति में मत्स्याहारी और गैरमत्स्याहारी मांसाहारी और शाकाहारी ऐसे भेद पाये जाते हैं फिर भी उन में शादियाँ होती आयी हैं। शादी के बाद लड़कियों को ज़रा सँभालना पड़ता है। उन के लिए वह कठिन नहीं है। हम तो इस तरह जबरदस्ती किये हुए विवाहों को मान्यता देने के पक्ष में नहीं हैं। लेकिन आहार भेद होते हुए भी राजी खुशी से ऐसे विवाह होते हैं तो उन का हम अभिनंदन करते हैं और चाहते हैं, ऐसे विवाह बढ़ें। आहार के बारे में किसी पर जबरदस्ती नहीं होनी चाहिए। दोनों रिवाजों के बीच समझौता चलाना कठिन नहीं है। अब जहाँ हिंदू और ईसाई दो परिवारों में परस्पर परिचय है, एक-दूसरे के घर में आना जाना चालू है वहाँ खानपान का व्यवहार चला तो उस में कोई बाधा नहीं होनी चाहिए। शाकाहारी मनुष्य शाकाहार को

नहीं छोडेगा। ईसाइयों के घर पर भी अपना आग्रह क़ायम रखेगा। लेकिन एक-दूसरे के घर में भोजन करने में कोई कठिनाई नही होनी चाहिए। आज वैसा चलता भी ह। लेकिन वह पूरा समाजमान्य नहीं हुआ।

इसी तरह हिन्दू ईसाई शादियाँ हुइ तो तनिक भी हानि नहीं होनी चाहिए। मेरे एक मित्र थे। वे कहते थे कि हमारा विरोध किसी जाति से नहीं ह। कोई जमन महिला बौद्ध धम को स्वीकार करे तो मैं उसे अपने मन्दिरों में ले जाऊँगा। और अगर कोई जमन बौद्ध लडकी मेरे लडके के साथ शादी करे तो मुझे एतराज नहीं है। मुभे एतराज ह ईसाई धम से क्योंकि वह हिन्दू नहीं ह।

अब सवाल उठता है कि वेद में, परमात्मा में और आत्मा में भी न मानने वाला बौद्धधर्म हिन्दू है और ईश्वर को परमपिता मानने वाले, बाल्ब्रह्मचारी पतितोद्धारक ईसा का धम पराया क्या? मास तो बौद्ध लोग भी खाते हैं और हिन्दू लोगों में ब्राह्मणों से ले कर हरिजनों तक कई जातियाँ मास खाती हैं। शराब के बारे में भी वैसा ही है। ईसाई धम में याने ईसाई समाज में अच्छे अच्छे भक्त और सन्त पैदा हुए हैं, जिन की ईश्वर भक्ति, परोपकार और सदाचार देख कर हम भक्ति-नम्र बनते हैं। और उन की जीवनकथा पढ कर चकित होते हैं। तो ईसाइयों को अपनाने में और ईसा को ईश्वर का अवतार मानने में हर्ज क्या ह? भगवान ने कभी यह नही कहा कि मैं हिन्दूधर्म में और हिन्दुस्तान में ही अवतार लूगा। सब धम भगवान् के ही हैं। सभी को भगवान् की ओर से ही प्रेरणा मिली ह।

हम गाय को पवित्र मानते हैं। मासाहारी हिन्दू भी गोमास नही खायेंगे। ईसाई लोग गोमास खाते है इस वास्ते वे हिन्दू नहीं हैं, हम उन्हें अपना नही सकते ऐसी दलीलें सुनी जाती हैं। वे लोग नहीं जानते कि हिन्दुओं के पूर्वज किसी समय गोमास भी खाते थे। और श्राद्ध में भी गोमास का व्यवहार होता था। हम लोगों ने कभी भी उन को पापी या भ्रष्ट नहीं कहा है। किसी समय हिन्दुओं में गो भक्ति बढी और उन्होंने गोमास छोड दिया यह अच्छा किया। हिन्दूधम की अनेक सिद्धियों में यह भी एक महत्त्व की सिद्धि ह। तो क्या हम योग्य ढग से प्रचार करें तो ईसाइयों को भी हम गो भक्त नहीं बना सकते? हम अपनी शक्ति के बारे में नास्तिक क्यों बनें? भारत में अगर 'गो भक्षक' गो भक्त बन गये तो बाहर भी, क़ानून के द्वारा नहीं राजसत्ता से नही, लोगों के सख्याबल के ज़ोरों धमकाने से नही, किन्तु उन को कृतज्ञता और धमबुद्धि जाग्रत् कर गो-रक्षा का काम हम क्यों न करें? सवाल यह है कि क्या ईसाइयों को दूर रखने से यह काम होगा? या नजदीक लाने से या अपनाने से होगा? हरिजनों को दूर

रहाने से जो काम नहीं हो सका वह उन्हें अपनाने से हो स
भूल नहीं सकते ।

अब एक महत्त्वपूर्ण सवाल पूछा जाता है—"हम लोग इ
को तयार हुए तो क्या वे नजदीक आनेवाले हैं ? वे अपने
हमारी ओर तुच्छता की नजर से देखते हैं । ऐसी स्थिति में
प्रयत्न किस काम का ?"

सवाल महत्त्व का है । जवाब में हम कहेंगे कि जब
अथवा पोर्चुगीज राज्यकर्ता थे तब तक भारत के ईसाई अ
थे । वह बात अब नहीं रही । अब तो स्वदेशी प्रजाराज्य
पराजित लोगों का, दासों का धर्म नहीं रहा । हिंदूधर्म में जं
वह सब हम दूर कर रहे हैं । ईसाइयों ने किसी समय पर जो
किया उस का शल्य अब दूर हुआ है । हर एक धर्म में
अच्छाई होती ही है । वैसी अनेक अच्छाइयाँ ईसाई धर्म में
कदर हम क्यों न करें ? ईसामसीह तो परमभागवत थे
पतितोद्धारक थे । उन्हें हम परमवैष्णव क्यों न कहें ? और
भागवतोत्तम के रूप में क्यों न करें ? इतना करने के बाद
चाहिए कि ईसाइयों को अपनाने का हमारा प्रयत्न निष्फल नहीं
कई लोग संस्कृत का अध्ययन करते हैं । चंद ईसाइयों ने अप
दिया है । और ऐसे भी ईसाई हैं जो अपना कट्टरपन छोड़े
कई चीजें समझ रहे हैं और आदर के साथ उन की इज्जत भी
है कि "जिस तरह पश्चिम के ईसाई यहूदी धर्म ग्रंथों को पवित्र
तरह हम भारत के ईसाई हिंदु धर्म ग्रंथों को पवित्र मान कर
ईसामसीह के उपदेश का बीज क्यों न बोयें ?" ईसाई लोग हमा
तब वे अपने ही ढंग से आयेंगे, यही योग्य है । हम दोनों एक
अच्छाइयों की कदर करें और उन का कीर्तन करें तो किसी को
है, दोनों को ही लाभ है ।

भारत के ईसाई और उन के पूर्वज भारतीय थे और हैं ।
विविधता आयी तो हिंदुओं को बुरा लगने का कोई कारण न
ने शुरू से ही विविधता का अभिनंदन किया है । राजनीति की
हम संख्या पर ध्यान केंद्रित न करें । हम इस का हिसाब नहीं
में वैष्णव कितने हैं शाक्त कितने हैं और शैव कितने हैं । द्वैतवा

वादी का तो हम संख्या की लाभ-हानि की ओर नहीं देखते। जिस दिन हम परायापन छोड देंगे उसी दिन संख्या का महत्त्व अपने ही आप टूट जायेगा। राष्ट्रीयता कमजोर रहती है एक-दूसरे के परायापन से। धर्मभेद भले रहे लेकिन परायापन दूर हो, यही है राष्ट्रीयता मजबूत करने का तरीका। धर्मभेद की हम जितनी शिकायत करते हैं और धर्मान्तर का आग्रह या विरोध करते है उतने धर्म-भेद मजबूत होते है। परायापन दूर कर के जब हम आत्मीयता बढायेंगे तभी जा कर राष्ट्रीयता मजबूत होगी। परायापन बढा कर एक दूसरे के प्रति अविश्वास रख कर कौन-सा लाभ है और कौन-सी सुरक्षितता है इस का अनुभव लोगों ने किया ही है। उसी रास्ते अगर हम चलते रहे तो राष्ट्रीय आरोग्य बिगडता जायेगा। 'जैस को तैसा' की नीति चलाने में हम दूसरे के अनुयायी बनते हैं और राष्ट्र की कमजोरी बढाते हैं और अन्त में बँटवारे की नौबत आ जाती है। इस लिए उस नीति को छोडना ही अच्छा है। न हम किसी को राजनीतिक घूस देंगे न घूस लेंगे। आत्मीयता बढाते जायेंगे और विश्वास रखेंगे कि आत्मीयता का प्रयत्न बहुत कम किया जाता है लेकिन सच्चा प्रयत्न कभी विफल नहीं होता।

मैं ने ईसाइयों का उदाहरण केवल मिसाल के तौर पर लिया है। लेकिन सब धर्मों के प्रति सच्चा हिन्दूधर्म तो आदरभाव ही रखता है। हिन्दूधर्म ने किसी भी धर्म की निन्दा नहीं की, विरोध भी नहीं किया। 'स्वधर्मपालन के द्वारा सब लोग सब धर्मी बनें यही है हिन्दूधर्म की व्यापक उदार नीति। औरों की देखा-देखी हम संकुचित क्या बनें' और अपनी उदार नीति क्यों छोडें? हम विश्वास रखें कि संकुचित लोगों को किसी न किसी दिन उदार बनना ही है। हम सभी को स्वीकार करते हैं और आत्मविश्वास से आगे बढते है।

(१ फरवरी १९६८)

क्रमशः आगे बढें

हिन्दू-सभा के नहीं किन्तु हिन्दू-समाज के कई हितैषी लोग देश की स्थिति सुधार के इलाज पर विचार करने के लिए इकट्ठा हुए थे। विषय था कि धर्मभेद के कारण सामाजिक अलगाव देश में है ही, जातिभेद के कारण विशाल हिन्दू-समाज सब से अधिक कमजोर हुआ ही है उस पर अब अनेक राजनैतिक पक्षों के कारण राष्ट्र

का समाज तितर बितर हो रहा है। माना यह सब कम है, भाषा भेद को ले कर भी परस्पर मन-मुटाव पैदा होने लगा है। 'देश की दुर्व्यवस्था बढ़ाने का कार्यक्रम कैसे मजबूत हो सकेगा', यही देखने पर मानो सब तुले हुए हैं ।।।

चर्चा सुनते ही हम ने कहा कि नये झगड़े खड़े होने से पुराने झगड़ों की तरफ़ ध्यान कम जाता है यह सही है लेकिन पुराने झगड़े मिट तो नहीं रहे हैं। ये सब खड़े के खड़े हैं। इन का भी निपटारा किए बिना भारत की एकता टिक नहीं सकती।

लाला लाजपतराय ने एक बार बम्बई में कहा था कि 'हिन्दू सभा के आप नेतागण मुसलमानों की नीति पर नाराज और दुःखी हैं यह तो मैं समझ सकता हूँ। यह कठिनाई हम पंजाबी लोग जितनी जानते हैं और महसूस करते हैं उतनी शायद आप नहीं कर सकते। लेकिन मुसलमानों को छोड़ कर भारत में जो दूसरे अन्य लोग हैं—हिन्दू हैं, ईसाई हैं, यहूदी हैं आप के पारसी हैं इन के साथ आप मेल-जोल क्या नहीं बढ़ाते ? इन को अलग क्यों रहने देते हैं ? एक ओर हिन्दू और दूसरी ओर बाकी की सारी दुनिया—ऐसी रचना करने से आप अपने को कमज़ोर नहीं करते ?''

हिन्दुओं में जाति भेद के कारण अलगाव बढ़ता है। छोटे छोटे समाज, अन्दर के छोटे-छोटे स्वार्थ और मतभेद ले कर भीतर ही भीतर झगड़ा करते ही हैं। बाहर की दुनिया को समझे बिना आन्तरिक एकता की ज़रूरत ही महसूस नहीं होती।

राष्ट्रहित की बातें करने के लिए मुसलमानों के पास केवल हिन्दू ही क्यों जायें ? हम हिन्दू (जिन में सिख, जैन, बौद्ध आदि सब को लेना ही चाहिए,) ईसाई, यहूदी, पारसी सब मिल कर के राष्ट्रीयता के नाम मुसलमानों के पास जायें तो सारी भूमिका ही बदल जायेगी।

हिन्दूलोग जब अपने ही विचारों में और घर के सवालों में डूबे रहते हैं तब उन को खयाल तक नहीं आता कि उन की संकुचितता कितनी खतरनाक है। भगवान् ने शायद यही सोचा कि ये हिन्दू अपने छोटे छोटे दायरे के बाहर निकलते ही नहीं। इन को बताना चाहिए कि उदारता के बिना व्यापकता के बिना और आदमीयत [illegible] विकास के बिना दुनिया में जीना उन के लिए असम्भव है। छोटे छोटे विदेशी समाज के सामने भी जब ये हिन्दू हार जायेंगे तभी वे शुद्ध और व्यापक सामाजिक नीति अपना सकेंगे। ऐसा सोच कर भगवान ने दुनिया के सब धर्मों के थोड़े थोड़े लोगों को भारत में ला छोड़ा और कहा, कि अब इस विविधता से बच नहीं सकोगे। अब 'या तो जानवरों की तरह आपस में आमरणान्त झगड़ा

चालू रखो' अथवा 'आदमी बन कर परस्पर सहयोग करना सीखो'। यहाँ केवल संख्या बल का सवाल नहीं है। धर्म मनुष्य के लिए है, मानवता के विकास के लिए है। प्रधानता होनी चाहिए मानवता की, सभी को ले कर चलने के लिए शुद्ध बुनियाद के सहयोग की।

भगवान् ने ईरान के जरथुस्त्री पारसियों को पश्चिम भारत में ला छोड़ा। ये लोग बड़े मिलनसार हैं। मुसलमान, ईसाई और हिन्दू सब के साथ इन की बनती है। इन्हीं से हम प्रारम्भ क्यों न करें? इन की धर्म भाषा है गाथिक। वह हमारी वैदिक भाषा के बहुत नजदीक है। इन को अपनाते हमें पता चलेगा कि हमें अपने जीवन में क्या-क्या इष्ट परिवर्तन करना जरूरी है।

इतिहास का क्रम देखा जाय तो वैदिक साहित्य के समकालीन गाथिक साहित्य में प्रकट होने वाला पारसियों का धर्म बहुत पुराना है। उस का प्रभाव यहूदियों पर पड़ा। यहूदी धर्म भी एकेश्वरवादी बना।

इस यहूदी धर्म-समाज में एक लोकोत्तर धर्म-सुधारक यहूदी निकला जीसस अथवा ईसु। उस के नाम से जो धर्म चला उसे हम ईसाई धर्म कहते हैं।

इन धर्मों के बाद इस्लाम आया जो उम्र में सब से छोटा गिना जाता है। इस इस्लाम पर अरबस्तान, ईरान, तुर्किस्तान और इजिप्त मिस्र के समाज का असर हुआ और इस्लाम का असर इन पर।

इब्राहीम के (यहूदी?) धर्म का ही शुद्ध और विकसित रूप है कुरान शरीफ़ का इस्लाम।

यह सारा इतिहास बताता है कि सब धर्म मिल कर एक विशाल धर्म परिवार बनता है।

भारतीय धर्म ने और भारतीय संस्कृति ने कभी नहीं कहा कि केवल हमारा ही एक धर्म सच्चा है और बाकी के झूठे हैं। हम तो मानते हैं कि सब धर्म सच्चे हैं मनुष्य के कल्याण के लिए प्रकट हुए हैं सब मिल कर इन का एक विशाल परिवार बनता है इस पारिवारिकता को और आत्मीयता को जो चीजें खण्डित करती हैं उन को छोड़ देने के लिए सब को तैयार रहना ही चाहिए। हर एक धर्म-समाज अन्तर्मुख हो कर अपने दिल को टटोल कर देखें कि आत्मिक मानवीय एकता का द्रोह हम से कहाँ तक हो रहा है।

जब हम पारसियों को अपनाने की पूरी कोशिश करेंगे तब हम आत्मशुद्धि प्रारम्भ करेंगे। इस तरह जब हम अपने को एकता के योग्य बनायेंगे तब हमारा प्रभाव ईसाइयों पर पड़ेगा। ईसाइयों को अपनाना एक तरह से आसान है और एक तरह से टेढ़ी-खीर भी है। संगठित हैं, चतुर हैं उन के नेता लोग। अपने स्वार्थ

क्रमशः आगे पढ़ें

को अच्छी तरह जानते हैं। ऐसे लोगों को अपनाने के लिए हमारी धार्मिकता जीवित, व्यापक और सर्वकल्याणकारी होनी चाहिए। ईसाई समाज को अपनाते हमारी पूरी कसौटी होगी। वे भी अनुभव करेंगे कि भगवान् उन की भी कसौटी कर रहा है।

योरप-अमरिका के कई सुशिक्षित विद्वान् लोग विज्ञान के असर के नीचे आ कर ईसाई धर्म को छोड बैठे हैं। यह देख कर ईसाई धर्म-समाज के नेता चिंतित हो रहे हैं। और ईसाई धर्म की परम्परा विशुद्ध करने की कोशिश में हैं।

समस्त दुनिया की सेवा करना हम भारतीयों का और हमारी संस्कृति का सब से पहला कर्तव्य है।

गांधीजी की बात हमें मान्य है कि हिंदू मुस्लिम एकता के बिना भारत का उद्धार हो नहीं सकता। कई गांधीवादी लोग इस दिशा में जोरों से प्रयत्न करते थक कर पूछते हैं कि "यह इकतरफ़ा प्रयत्न कहाँ तक चलेगा? मुसल्मानों की तरफ़ से एकता की कोई इच्छा या आतुरता दीख नहीं पडती। जो मुसलमान हमारे पास आते हैं, अपने समाज से बहिष्कृत-से हो जाते हैं।"

हमें समझना चाहिए कि हिंदू और मुसलमान दोनों समाजों को अलग अलग रखने की नीति जो अँगरेजों ने चलायी थी वह दोनों समाजों की हड्डियों तक पहुँच आयी है। उस का असर धोते समय लगेगा। लेकिन दोनों समाज किसी न किसी दिन अपना सच्चा स्वार्थ अवश्य समझेंगे। मुसलमानों के और ईसाइयों के नेता आज तक मानते थे कि अलग रहने से, बिगड बैठने से ही लाभ है। उन को अपना स्वार्थ नयी परिस्थिति में नये ढंग से समझते देर लगेगी। तब तक हमें राह देखनी पडेगी। और अपनी कमियाँ दूर करनी पडेंगी।

स्वराज्य पाने के बाद राजनीतिक लोगों की नैतिक बुनियाद ही नीचे उतर गयी है। सत्ता और सम्पत्ति का खयाल कर के अधिकार पाने की होड ही उन के लिए प्रधान हो गयी है। सारा वायुमण्डल बाजारू बन गया है। 'अपने अपने लोगों को संगठित कर के दूसरों से अधिकाधिक माँगना और वह सब पाने के लिए खींचातानी करते रहना' यही है इन दिनों की राजनीति।

ऐसी हालत में राजनीति को एक ओर रख कर हमें सांस्कृतिक प्रगति पर भार देना चाहिए।

हिंदू आज के जैसे हिंदू रहे मुसल्मान जैसे आज हैं वैसे ही मुसलमान रहे तो दिली एकता कभी हो नहीं सकती। 'केवल समझौता' तीन दिन भी टिक नहीं सकता। हमें आज की संकुचितता क्षुद्रता से छुट्टी करने का रास्ता मिलना ही चाहिए। सांस्कृतिक मेलजोल बढाने का यही एक तरीका है।

इस में हम आसान काम प्रथम हाथ में ले कर उस में सफलता पा कर अपनी शक्ति बढ़ायेंगे। शक्ति बढ़ने पर हमारे हृदय में व्यापकता, उदारता और आत्मीयता का असर हम देखते जायेंगे। फिर बड़े काम लेने की हिम्मत और शक्ति मिलेगी। दूसरा रास्ता है नहीं।

(१२ मई १९६०)



क्रमश आगे पढ़ें

यह तरीका है तो अच्छा लेकिन दो में से एक भी दिल से समझौते के लिए तैयार न हो तो समझौते की बातें आगे कैसे बढ़ेंगी ? फिर आती है पंचायत की बातें। इस में भी कठिनाई वही होती है। पंचायत का न्याय मंजूर न होने पर तटस्थ न्यायाधीशों का फैसला मंजूर करना यही एक मार्ग रहता है, जिस में न्यायाधीश के चुनाव का सवाल आता है। अब सारा मामला नसीब के हवाले किया जाता है। जब कोई निर्णय नहीं हो सकता तब रुपया अथवा पैसा उछाल कर निर्णय किया जाता है। इसे अंगरेजी में 'टॉस' कहते हैं।

जहाँ सर्वस्व की होड चलती है। वहाँ बडे-बडे राष्ट्र और बडे-बडे धनी लोग टॉस का न्याय अथवा निर्णय कैसे मान सकते हैं? झगडा किसी न किसी रूप में चलता ही है और बढता भी है।

इस लिए जहाँ कहीं मतभेद आया, वहाँ समन्वय को काम में लाने की वृत्ति जगानी चाहिए। यह काम एक दिन का नहीं, न्यायालय का नहीं किन्तु नित्य के जीवन की मनोवृत्ति और प्रवृत्ति का है।

किसी समय मनुष्य स्वभाव को उन्नत करने का काम धर्म का था। धर्म के द्वारा मनुष्य की स्वार्थ, अहिंसा, असूया अभिमान आदि मनोवृत्ति का संयम होता था और आत्मीयता सेवा, त्याग आदि सात्त्विक शुभ-सद्गुणों का विकास होता था। लेकिन धर्म में बौद्धिक जडता अंधविश्वास, साम्प्रदायिकता संकुचितता और अभिमान घुस गये। धार्मिकता ही भ्रष्ट होने लगी। धर्म भी आपस में प्रथम चर्चा और झगडा करने लगे और अन्त में कुत्ते की तरह लडने भी लगे। आखिरकार लोग धर्माभिमान से ऊब आये और धर्म की प्रतिष्ठा भी डूबने लगी। कई धर्माभिमानी लोग व्यक्तिशः सदाचारी थे किन्तु जहाँ धर्माभिमान का सवाल आया तो अभिमानी, स्वार्थी और अंधे बनने लगे। आगे जा कर व्यक्तिगत जीवन में भी शुद्धता की जगह दंभ ने ले ली। बाहर सफेद और अन्दर गलित ऐसा वर्णन धर्मों का और धर्मगुरुओं का सुनना पडने लगा। और अंत में धर्म ही मानव जीवन में अप्रतिष्ठित होने लगा। किसी समय धर्म का प्रभाव राजनीति पर पडता था। अब धर्म हो गये राजनीति के आश्रित।

ऐसी हालत में शुद्ध समन्वयवृत्ति को जागृत करना यही एकमात्र उपाय रहा। अगर हम सारे समाज में घुल मिल गये और जगत की खतरनाक परिस्थिति समझा कर लोगों में परस्पर सहयोग की वृत्ति जगा सके, आत्मीयता का दिन प्रति दिन अनुभव करने लगे तो समन्वय का वायुमण्डल स्थापित होगा। लोगों को वही प्रिय लगेगा। समन्वय के लाभ लोगों के ध्यान में आयेंगे। जीवन की सुन्दरता का अनुभव होने पर उसी को लोग पसन्द करने लगेंगे।

यह परिवर्तन आसान नहीं है। लेकिन दुनिया ने संघर्ष का खतरा कितना बडा है इस का अनुभव किया है। इस लिए समन्वय का प्रयोग कर देखने के लिए दुनिया तैयार हो रही है।

संघर्ष भी आज पहले की तरह आसान नहीं रहा है? युद्ध छिडते ही लोग सहायकों को मदद के लिए बुलाते हैं। सहायकों को मदद में दौडना ही पडता है और फिर तो हर एक बडा युद्ध विश्वयुद्ध बन जाता है, जिस का अन्त सर्वनाश ही हो सकता है।

आज सारे संसार को यह अजीब विश्वस्पर्शन हो रहा है। इस लिए हम आशा करते हैं कि मानव-समाज समन्वय के लिए तैयार हो जायगा। विनाश शक्ति की अपेक्षा जीवन-शक्ति अधिक प्रभावशाली साबित होगी।

(१ सितम्बर १९५५)

सर्व धर्म-परिवार

दुनिया के अलग अलग देशों की यात्रा करते मैं ने देखा कि युरोप के सब लोगों की चमडी का रंग करीब-करीब एक-सा है—सफेद। उत्तर के लोग कुछ ज्यादा गोरे हैं। दक्षिण युरोप के लोग ज्यादा धूप मिलने से इतने गोरे नहीं हैं। अफ्रिका खण्ड के सब आदिवासियों का रंग भी करीब एक-सा है—काला। जापान के और चीन के भी लोगों को आप पीला कह सकते हैं। जो हो, प्रत्येक देश के लोगों का रंग एक-सा होता है। हमारा भारत ही एक ऐसा देश है जिस में एक जाति में भी सब रंगों के लोग पाये जाते हैं। दक्षिण में काले भी हैं और गोरे भी हैं। एक ही जाति में शालिग्राम के जैसे काले और केतकी के फूल के जैसे गोरे लोग भी मिलते हैं।

अगर लाखों बरसों का मानव जाति का इतिहास ढूँढा जाये तो पता चलेगा कि भारत में सब वर्णों के और सब खण्डों के लोग आ बसे हैं। मानो भारत को भगवान् ने अपना एक संग्रहालय बनाया है।

धर्मों के बारे में भी यही स्थिति पायी जाती है। हमारे सनातन धर्म में—जिसे आजकल हिन्दू धर्म कहते हैं—अनेक पन्थ, अनेक सम्प्रदाय और अनेक साधनाएँ हैं ही। इस के अलावा इतिहास विधाता की योजना के अनुसार दूसरे तीन चार धर्म भी भारत में आये हैं। मुट्ठी भर यहूदी लोग कब और कैसे आये

अध्ययन किसी ने किया है ? ये लोग अपने परम्परागत रूढ़ि प्राप्त अधिकारों के लिए आपस में जब लड़ते हैं तब सरकारी अमलों को और न्यायाधीशों को उस का फैसला करना पड़ता है। उन को तो इन के जीवन की हीनता का काफ़ी पता रहता है। लेकिन उन में से किसी ने भी इन के जीवन को सुधारने [redacted] कभी प्रयत्न किया है ? अथवा समाज के सामने सारा सवाल खड़ा कर दिया है ? हिन्दू समाज मृतबुद्धि की जड़ता से ग्रस्त और नेतृत्वहीन समाज बन गया है। इस समाज के आन्तरिक जीवन में सुधार तथा शुद्धि लाये बिना उस का संगठन करना एक राजनैतिक खेल और चालबाजी ही है।

असंस्कारी पुजारी पण्डे दक्षिणा के स्वार्थ के लिए लोगों की अन्धी धर्मभावना को बनाये रखते हैं। और "हिन्दू राजनतिक नेता" पन्थ संगठन और वोट—मत प्राप्ति के लिए लोगों में धार्मिकता की जागृति करने की जगह अन्ध धर्माभिमान जहरी पक्षाभिमान को जाग्रत करते हैं। उस का आसान रास्ता यह है कि विधर्मी लोगों की चालबाजी का जिक्र करते रहना और सरकार की उदासीनता के प्रति चिढ़ पैदा करना।

जब मैं ईसाइयों के धर्म-संगठन पर विचार करता हूं और हिन्दू-समाज की गफलत, अजागृति और अबुद्धि का खयाल करता हूं तब निराश होना पड़ता है।

हमारे संत सत्पुरुष अच्छा काम करते हैं। लोगों में धार्मिकता, ईश्वरनिष्ठा और सदाचार का प्रचार करते हैं। लेकिन वे समाज के दोषों को दूर करने का कोई संगठित प्रयत्न नहीं करते। फलतः समाज का पुरुषार्थ नहीं बढ़ता। समाज की प्रगति नहीं होती।

तीसरा वर्ग है संन्यासी और वैरागियों का। इन में कई लोग बहुत ऊँचे दर्जे के सत्पुरुष होते हैं। इन में सच्ची धार्मिकता का अच्छा खयाल होता है। लेकिन ये अपनी जमात की रूढ़ियों से ऐसे बँधे रहते हैं कि अपनी उस जमात का सुधार करने का काम उन्होंने अपने हाथ में बहुत कम लिया है। स्वामी विवेकानन्द और उन के रामकृष्ण मिशन ने एक अच्छा नमूना अवश्य पेश किया [redacted]।

यद संन्यासी और वैरागी अच्छे चारित्र्यवान और धर्मभक्त होते हैं लेकिन बिलकुल विरक्त और मुक्तिवादी अपनी उन्नति और अपने मोक्ष में मस्त रहते हैं। उन के आचरण का समाज पर अच्छा असर होता है सही। लेकिन स्वार्थ निवृत्ति एक चीज़ है (जो अत्यन्त जरूरी है) और जीवन विमुखता अलग चीज है। दोनों को वैराग्य कहना योग्य नहीं होगा। लेकिन निवृत्तिवादी लोग दोनों को एक साथ रखते हैं। इस लिए जीवन सुधार का काम उनसे नहीं होता।

जब मैं ने हिमालय की और अन्य तीर्थों की यात्रा की तब ऐसे संन्यासी,

वरागी और साधुओं के साथ काफ़ी रहा था। उन के प्रति मेरे मन में आदर और सहानुभूति है। इनमें से चन्द लोग ऊपर-ऊपर से केवल भिखमगे के जैसे दिखते हैं, लेकिन नजदीक से देखने से उन का चारित्र्य, उन की धर्मबुद्धि और सामाजिक परिस्थिति का उन का परिचय अद्भुत होता है। वे व्यवहार चतुर भी होते हैं, लेकिन इन सद्गुणों का संगठन करने का काम वे नहीं करते। प्रवृत्ति का केवल संगठन करने से सिर्फ़ एक गद्दी तैयार होती है और असत्कारिता ही संगठित होती है। इस के उदाहरण जगह जगह मिलते हैं। श्रद्धा के कारण ऐसे संगठनों को समाज चलाता भी है। मूल संस्थापक के पुण्य के बल पर ये संगठन काफ़ी दिन तक चलते हैं लेकिन इन के द्वारा समाज की सेवा नहीं किन्तु असेवा ही होती है।

संन्यासी वैरागी और भटकते साधुओं के अन्दर थोड़े लोग तो बिल्कुल धर्मविहीन रूढ़िग्रस्त भिखमगे ही होते हैं। ऐसों को संख्या समाज मानता है—उस से बहुत कम होती है। अन्धविश्वासी, ज्ञानविहीन किन्तु धर्म में मानने वाले और अपने पन्थ के भले-बुरे नियमों को माननेवाले साधुओं की संख्या ही अधिक होती है। इन के अन्दर काम करना आसान नहीं है। उन्हीं में से कोई सुधारक पैदा हो जाय तो ज़रूर सुधार हो सकेगा।

हिन्दू-समाज में इतने अनेकानेक असंख्य पन्थ और फ़िरक़े हैं कि सारे समाज का एक साथ विचार करना और उस में सुधार करना प्राय अशक्य है।

सारा समाज रूढ़िग्रस्त होते हुए भी असंगठित है। इस में अन्धरूढ़िप्रिय लोग नेता बन सकते हैं। सुधारकों को अनुयायी मिलना मुश्किल होता है और भिन्न भिन्न विचार वाले सुधारक समाज को सुधारने की कोशिश शुरू करें उस के पहले ही अन्दर अन्दर परस्पर विरोध करके एक दूसरे को क्षीण करते हैं। और समाज में अन्धश्रद्धा और अन्धविश्वास दोनों का विचित्र मिश्रण अपना काम कर के समाज को श्रद्धाविहीन और निष्प्राण बनाता है।

पिछले सौ डेढ़ सौ वर्ष इस देश में समाज-सुधार के अनेक प्रयत्न हुए। हरएक प्रयत्न में शुरू में बड़ा जोश दीखता था। बाद में जोश के अभाव में सारी प्रवृत्ति निष्प्राण हो कर एक नयी रूढ़ि-सी हो गयी।

इतनी सारी दुर्दशा के अन्दर भी समाज में एक प्रकार की सज्जनता, सदाचारिता और धार्मिकता रही है। ऐसे लोग पुरानी रूढ़ियों का खास विरोध नहीं करते किन्तु उन पर विश्वास भी नहीं करते। धर्मों के प्रति उन के मन में आदर है लेकिन धर्माभिमान से अन्धे हो कर अन्य धर्मियों के साथ झगड़ा करने को भी वे तैयार नहीं हैं। धर्मग्रन्थों के प्रति सामान्य आदर-भक्ति होते हुए भी किसी

यही है भारत का मिशन

भगवान् की लीला का पूरा रहस्य कौन समझ सका है ? फिर भी जितना हम समझ सकते हैं, भगवान् की युग प्रेरणा को उपयोग में लाना हमारा कर्तव्य है।

भारत के आर्य लोग, चीन देश के चीनी लोग इजराइल के यहूदी लोग, इजिप्त के प्राचीन लोग अपने-अपने देश में स्थिर रह कर खेती आदि संस्कृति का विकास कर सके और उन्होंने अपनी संस्कृति को जीवन व्यापी धर्म का स्वरूप दिया। न जाने ये सब लोग इन देशों में कहाँ से आये ? लेकिन आ कर स्थिर होने के बाद उन्होंने अन्यत्र जाना पसन्द नहीं किया। अच्छा उपजाऊ देश, सुसंगठित संस्कृति और खेती का साधन ऐसी सहूलियत से उन की समृद्धि बढ़ी और उन्होंने प्रगतिशील समाजों की स्थापना की और अपने अपने देश में सन्तोष से रहने लगे। लेकिन मनुष्य पूरा स्थावर नहीं हो सकता। मनुष्य थोड़े ही कोई वनस्पति है कि जमीन में जड़ें डाल कर वहीं पर अपना भाग्य बो दे ? मनुष्य स्थावर भी है और जंगम भी। उस के आँखें, हाथ और पाँव उसे प्रेरणा देते हैं बैठे मत रहो खड़े हो जाओ और खड़े खड़े क्या देखोगे ? चलते चलो। जो चलता है उसी का भाग्य चलता है। 'चरति चरतो भगः' (भग यानी भाग्य)।

योरप के दक्षिण में ग्रीस और इटली में लोगों को पुरुषार्थ की सूझी। ग्रीक लोगों ने दर्शन का विकास किया मूर्तिकला बढ़ाई और नगर राष्ट्र के द्वारा स्वराज्य शासन के प्रयोग किये। रोमन लोगों ने दूसरे ढंग से राजशासन के प्रयोग किये और सफलता मिलने पर साम्राज्यवाद आजमाया—राजनैतिक और सांस्कृतिक भी। रोमन लोगों ने युद्धकला का भी विकास किया और अपना साम्राज्य फैलाया। चीन के लोगों ने भी ऐसा ही किया।

इधर ईरान के लोगों ने भी अपना साम्राज्य स्थापित किया और आर्यों ने भारतवर्ष में। ये सब लोग एक दूसरे को कमोबेश पहचानते थे। भारतीयों ने जैसे खेती का विकास किया वैसे ही जहाज बना कर नौका-नयन भी विकसित किया और समुद्र लाँघ कर दूर-दूर के देशों तक जा कर अपनी संस्कृति का विस्तार किया। ये सब पुरानी बातें हुई।

इधर अरबस्तान में आबोहवा और जमीन की कठिनाई के कारण लोगों का जीवन क्रम कठिन था। ऊँट का वाहन और खजूर की खुराक और जैतून का तेल

इन के सहारे वे दूर-दूर सफर करने लगे । उन्होंने अपना घर सँभाला और धीरे धीरे अपना साम्राज्य भी बनाया ।

इन सब जातियों ने अपनी-अपनी जीवन-व्यवस्था स्थिर बनाने के लिए अपने-अपने धर्म चलाये । हो सकता है कि भगवान् ने ही इन के नेताओं को धर्म की प्रेरणा दी और ईश्वर की आज्ञा पालते हुए इन के धर्मों का और इन के सामुदायिक जीवन का विकास हुआ ।

जब से हम भारतीय लोग भारतवर्ष में आये, यहाँ की भूमि, यहाँ की नदियाँ और यहाँ के पहाड़ हमें भा गये । यहाँ हम ऐसे स्थिर हो गये कि फिर यहाँ से बाहर जाने का मन ही न हुआ । उत्तर, पूर्व और पश्चिम में जो पहाड़ थे उन्हीं को हम ने अपने विस्तार की सीमा मानी ।

पश्चिम, पूर्व और दक्षिण में तो समुद्र ने हमारी मर्यादा बाँध दी । जीवन विकास के लिए यह भूमि हमारे लिए पर्याप्त थी । समुद्र और हिमालय हमारे प्रेरणा के स्रोत थे । समुद्र से हम सीखे गाम्भीर्य और हिमालय से हम सीखे धैर्य । 'समुद्र इव गाम्भीर्ये धैर्येण हिमवान् इव ।' शुरू शुरू में हम समुद्र भी लाँघ सकते थे और हिमालय के उस पार भी जाते थे । लेकिन भारत की समृद्धि के हम ऐसे लट्टू बन गये कि समुद्र-यात्रा का हम ने निषेध किया और अटक के उस पार जाना बिना जरूरी माना । आर्यों के नेता इन्द्र का वचन हम भूल गये—जो बैठता है उस का भाग्य बैठ जाता है, जो खड़ा होता है उसका भाग्य भी उठ कर खड़ा होता है, सोने वाले का भाग्य सोता है और चलने वाले का भाग्य चलता है और प्रगति करता है । प्रगति के मानी ही है आगे बढ़ते जाना ।[1]

जब भगवान् को अगर इन सब धर्मों का और संस्कृतियों का सम्मेलन बनाना हो और हम समन्वय के लिए तैयार न रहें, और कहने लगें कि दुनिया के सब लोग इस देश में आ जायें और 'इस देश में पैदा हुए ब्राह्मण इत्यादि बड़े लोगों से अपने अपने चारित्र्य का रास्ता सीख लें,'[2] तो भगवान् क्या करे ?

हो सकता है कि चीन के, ब्रह्मदेश के, काम्बोज (काम्बोडिया) के लोग यहाँ आ कर धर्म और संस्कृति की दीक्षा लेते होंगे । लेकिन हम लोगों ने बाहर जाना ही छोड़ दिया । फलतः हमारा धर्म और हमारी संस्कृति ताजी न रही,

---

१ आस्ते भग आसीनस्य ऊर्ध्वम् तिष्ठति तिष्ठतः ।
शेते निपद्यमानस्य चराति चरतो भग ॥

२ एतद्देशप्रसूतस्य सकाशात् अग्रजन्मनः ।
स्वम् स्वम् चरित्रम् शिक्षेरन् पृथिव्याम् सर्वमानवाः ॥

भौतिक विज्ञान का सत्य और अध्यात्म का सत्य अलग अलग हो नहीं सकता 'एकम सत' यह भी सही है और 'सत्यम अनन्तम' यह भी सत्य है।

यहाँ तक आने के बाद क्या भारतवर्ष भूतकाल की उपासना करते हुए विज्ञान को छोड़ देगा? वह तो दकियानूसी वृत्ति होगी। तो क्या भारत विज्ञान को स्वीकार कर अध्यात्म को छोड़ देगा, तिलांजली देगा? वह होगी आत्महत्या। विज्ञान का रहस्य है प्रकृति में और अध्यात्म का रहस्य है पुरुष में। दोनों अनादि हैं, अनन्त हैं। अलग अलग रह नहीं सकते। दोनों की शादी ही अभीष्ट है।

इसलिए तो भारत में पूर्व और पश्चिम का सहयोग हुआ है। पश्चिम के अन्धे शिष्य और अनुयायी बन कर और केंचुली से ऊब कर हम अध्यात्म को छोड़ देंगे तो हमारे हाथ में कुछ नहीं रहेगा।

हम अन्धे हो कर अभिमान से यह न कहें कि अध्यात्म में हम शिखर तक पहुँच गये हैं नया पाने को, सावधान करने को और खोजने को कुछ शेष नहीं रहा। वह तो अभिमान ही होगा, गलत अध्यात्म को सार्वभौम बनाना होगा। जब हम भौतिक विज्ञान और अध्यात्म को ओतप्रोत बनाएँगे तभी भारत राष्ट्र प्राणवान होगा। भारत के सामने अब दो ही बातें खड़ी हैं। या तो सब धर्मों में से धार्मिकता को बाहर निकालना और उस धार्मिकता को दीक्षा दे कर भौतिक विज्ञान को परिपूर्ण करना या अध्यात्म को अस्वीकार कर के भौतिक विज्ञान को पीछे पीछे चलना और काफी समय तक पश्चिम की स्याहीसोख का अनुयायी बनना और सब के साथ विनाश की यात्रा में अग्रसर होना।

हमारी श्रद्धा है—भारत का जन्म इस तरह से मरने के लिए नहीं है।

भारत भाग्य विधाता का हेतु हमें तो स्पष्ट दीखता है कि भारत स्वयं विज्ञान और अध्यात्म का समन्वय कर बतावे और दुनिया को सर्वनाश से बचावे।

(१ अगस्त १९६५)

नवसमन्वय की नयी नीति

मुग़ल साम्राज्य के दिनों में भारत का सम्बन्ध ईरान के साथ खूब बढ़ा। ईरान यानी इस्लाम की संस्कारिता। इस्लाम का जन्म हुआ अरबस्तान में। वह पनपा भी उसी देश में। लेकिन इस्लाम की संस्कारिता पूरी-पूरी प्रकट हुई ईरान की

मदद से। जब मुगलों का राज इस देश में हुआ और अरबी-फारसी भाषा का अध्ययन यहाँ बढ़ा तब कई अच्छे-अच्छे ईरानी विद्वान् और गुणीजन भारत में आ कर बसे। और यहाँ के लोग भी उस देश में गये। संस्कृति का आदान-प्रदान सतत चला और कई बातों में घनिष्ठ हुआ।

दो देशों का आपस में सम्पर्क बढ़ने से गुण तथा दोष दोनों का आदान प्रदान होता है। दोषों की बात इस वक्त मैं नहीं सोच रहा हूँ। सद्गुण और संस्कारिता की ही बात यहाँ सोचनी है।

ईरान की इस्लामी संस्कृति का असर हमारे शिष्टाचार पर हुआ, पोशाक पर हुआ, खानपान के प्रकारों पर भी हुआ, साहित्य पर तो बहुत हुआ। धार्मिक रस्म रिवाजों पर भिन्न धर्मी संस्कारों का असर जल्दी नहीं होता और जो होता भी है उसे धार्मिक मान्यता आसानी से नहीं मिलती।

वेदकाल से लेकर मुस्लिमों के आगमन तक भारतीय धार्मिक जीवन में जो परिवर्तन होते गये उन का प्रतिबिम्ब हमारे स्मृतिग्रन्थों में और पुराणों में स्पष्ट या अस्पष्ट पाया जाता है। लेकिन इस्लामी संस्कृति का असर उन में नहीं दीख पड़ता। शायद नये-नये स्मृतिग्रन्थ न बन सके, न पुराणों में भी नयी बाढ़ आयी। समाज में (खासकर विशिष्ट जातियों में और राज-परिवारों में) बहुत परिवर्तन तो हुआ, लेकिन उस का प्रतिबिम्ब स्मृतियों में और पुराणों में कम पाया जाता है। सन्तवाणी का क्षेत्र ही मर्यादित था। लेकिन उस में कुछ न-कुछ असर अवश्य दीख पड़ता है।

(मैं ने भविष्यपुराण नहीं पढ़ा और इस्लाम के आने के बाद जो अल्लोपनिषद् लिखा गया वह भी ध्यान से नहीं पढ़ा है। इसलिए उस के बारे में कुछ नहीं कह सकता। भारतीय संस्कृति का ईरान की इस्लामी संस्कृति पर जरूर असर हुआ होगा। लेकिन उस का अध्ययन संशोधन अगर कहीं हुआ हो तो हम नहीं जानते और यहाँ पर उस का चिन्तन भी अप्रस्तुत है।)

पठान और मुगलों के राज्य के बाद यूरोपियन लोग आये। इन में पोर्चुगीज, फ्रेंच और अंगरेज—तीनों का ही असर हम पर हुआ। पोर्चुगीज लोगों का असर भारतव्यापी नहीं हुआ, लेकिन गोवा और पश्चिम भारत में दीर्घ काल तक हुआ। गोवा के समाज पर पोर्चुगीज ईसाई संस्कृति का असर चार सौ पचास वर्ष तक लगातार हुआ है। इस देश में रोमन कैथोलिक ईसाइयों की संख्या दूसरे ईसाइयों से अधिक है। लेकिन जिन लोगों ने धर्मान्तर नहीं किया उन पर पश्चिमी ईसाई साहित्य, संस्कृति और अभिरुचि का असर तो हुआ ही है।

मंच लोगों का प्रभाव ज्यादा नहीं हुआ होगा। सब से ज्यादा असर हुआ अगरेजों का। यह असर उन के राज्य के कारण, उन की शिक्षा के कारण और उन के व्यापार तिजारत के कारण बहुत गहरा हुआ।

और एक विशेष असर हमें भूलना नही चाहिए। युरोप के (और कुछ हद तक अमेरिका के) लोगों ने संस्कृत भाषा उस का व्याकरण, उस का साहित्य और उस में प्रगट होने वाले धर्म और तत्त्वज्ञान का अध्ययन किया। उस अध्ययन के साथ उन लोगों ने हमारी काफी निन्दा स्तुति भी की। हमारा इतिहास (राजनीतिक तथा सांस्कृतिक) ढूँढ निकालने में गोरों की असाधारण मदद हुई है। पहले पहल उन का यह सारा अध्ययन प्राथमिक स्वरूप का और छिछला था। इसलिए उन्होंने हमारा बहुत कुछ निन्दा भी की। ईसाई धर्म के प्रचारकों ने तो हमारी भली बुरी असह्य चीजों की बुराई की बाद में गहराई में उतर कर गोरे लोगों ने हमारी संस्कृति की अच्छाइयों की क़दर करना शुरू किया। अब वह जमाना खत्म हो गया है। अब ईसाई धर्म की दृष्टि से नही किन्तु पाश्चात्य विज्ञान प्रधान संस्कृति की दृष्टि से और जीवन समृद्धि की दृष्टि से वे हमारी संस्कृति के गुण दोषों का तटस्थ भाव से अध्ययन और विवेचन कर रहे हैं। ऐसे साहित्य का आदर के साथ अध्ययन करना ही पड़ता है। पाश्चात्यों के इस नये प्रयत्न का हम पर अधिक से अधिक असर हो रहा है।

हमारी संस्कृति का इस नयी जागतिक दृष्टि से अध्ययन, विवेचन और संस्करण करने का प्रारम्भ थियासॉफी के दिनों से हुआ। स्वामी विवेकानन्द और रवीन्द्रनाथ ठाकुर जैसे प्रतिभावान व्यक्तियों ने सारे राष्ट्र को उत्तम प्रेरणा दी। और अब तो हमें हमारी संस्कृति को न तो भूतकाल के तरफ ले जाना है न वर्तमान काल में स्थिर करना है। हमारी संस्कृति इतनी प्राणवान और क्रान्तदर्शी है कि हमें अपनी संस्कृति का एक उज्ज्वल नवसंस्करण बनाकर उस के द्वारा जगत की सेवा करनी है।

लेकिन यह सब तब बन सकता है जब हम अपने पर संसार के होनेवाले असर को पहचाने और उस का विशाल दृष्टि से यथार्थ परीक्षण करे।

हिन्दूसमाज के अन्तर्गत संस्कृति के भिन्न भिन्न स्तर चलते आये हैं, जिन के अन्दर पूरा समन्वय और आत्मीयता सिद्ध होना बाकी है। यह बडा काम हमारी सामाजिक गफलत से रह गया है। लेकिन भारतीय संस्कृति अब केवल हिन्दू संस्कृति नही रही। भारत में मुसल्मान हैं ईसाई हैं और हैं सब धर्मों से ऊब आये हुए धर्म विमुख लेकिन समाज हितैषी संस्कारी सज्जनों का एक बडा समाज है। ये सारे समाज अगर केवल क्षीण सत्त्व सह अस्तित्व से

सन्तुष्ट रहे तो हमारी संस्कृति की खरियत नहीं है। इन सबों का अगर समन्वय हम नहीं कर सके तो जीने का और विजयी होने का सब तरह का माद्दा होते हुए भी हम हार जायेंगे और हमारी संस्कृति का दुखद अन्त हो जायेगा।

इस वक्त हमारे जीवन पर अधिक से अधिक असर पश्चिम का हो रहा है यानी युरोप-अमेरिका के असर में हम नाक तक डूब गये हैं। (सांस्कृतिक खुराक हमें खानी पड़ती है पश्चिम की ही। केवल साँस ही अपनी ले रहे हैं) पश्चिम का यह असर स्वराज्य मिलने से पहले कुछ कम था, मर्यादित था। स्वराज्य होने ही पश्चिम का डर कम हो गया। साथ-साथ उस का प्रभाव बढ़ गया। अब हम को शिकायत भी नहीं हो सकती। हम अपने मालिक हैं। कैसा आहार करें, कैसा नहीं करेंगे, हम ही तय कर सकते हैं।

अँगरेजी शिक्षा का, अँगरेजी व्यापार का और अँगरेजों के सम्पर्क का हम पर कितना असर हुआ है यह तो स्वराज्य पाने के बाद ही हम कमोवेश समझ रहे हैं। लेकिन उस का आकलन अभी तक ठीक ढंग से नहीं हो रहा है।

स्थूल रूप में हम कह सकते हैं कि हमारे स्वराज्य के राज्यकर्ता देशप्रेमी हैं, देशाभिमानी हैं, भारतीय संस्कृति का परिचय भी उन्हें है, लेकिन इस वक्त पश्चिम से जो कुछ मिल सकता है उसी को आत्मसात् करते जाने की उन की नीयत है।

पश्चिम की संस्कृति से अपने देश की संस्कृति को बचा कर पुराने आदर्शों को फिर से चलाने का आग्रह रखने वाला एक जबरदस्त पक्ष इस देश में था आज भी है। लेकिन उस में न राजनीतिक सामर्थ्य है न भविष्य की दिव्यदृष्टि है। अब न अँगरेजों का विरोध करने की गुंजाइश है न भूतकाल के सुंदर चित्र खींचने के दिन बचे हैं। पाश्चात्य संस्कृति का विरोध कर भारतीय संस्कृति का केवल रक्षण करने का कार्यक्रम जिन का था स्वराज्य होने पर शिक्षा का तन्त्र उन के हाथ में न जा सका। शिक्षा का तन्त्र तो पश्चिम की संस्कृति की बाढ़ को आमन्त्रण देने वाले लोगों के हाथ में ही पहुँच गया। इस में न कोई आश्चर्य है, न रोने की बात है। ऐतिहासिक शक्ति का असर हो कर ही रहेगा। पश्चिम की इस बाढ़ से नुकसान बहुत होगा लेकिन हमारी एक बहुत बड़ी बीमारी उस में बह जाने की सम्भावना है। हमारी भूतकाल की भक्ति करने की वृत्ति अभिमान के लिए चाहे जितनी पोषक हो, और भूतकाल के उज्ज्वल आदर्श को समझने के लिए चाहे जितनी उपयोगी हो, नवनिर्मिति का प्राण उस में पनप नहीं सकता।

और सब से बड़ी बात यह है कि भूतकाल की भक्ति के कारण हम अपने ों को दोषरूप नहीं देख सकते, और राष्ट्र का बुढ़ापा भी नहीं जा सकता। ाल में सब उपासक हमेशा बुढ़ापे को ही न्योता देते रहते हैं। इस बीमारी छोड़ कर जब हम भविष्यकाल की तरफ देखते चलेंगे और ऊर्ध्वगामी जीवन उपासना करने लगेंगे तभी हम नव निर्माण के योग्य बनेंगे।

इस के लिये पश्चिम की संस्कृति को शक्ति हमें जीवन की कसौटी पर कि हमारी पुरानी कसौटी पर) कस कर देखनी चाहिए। हमारे पुराने ा तात्त्विक, आध्यात्मिक दृष्टि से चाहे जितने शुद्ध और उत्तम हों, उन को न के अध्यात्म' की कसौटी पर कसना चाहिए। और एक बार जब हमें न का सच्चा अध्यात्म' प्राप्त होगा तब हमें पता चलेगा कि कहाँ से क्या चाहिए, क्या टालना चाहिए और भविष्य के लिए कौन सी आगतिक ति काम में आयेगी? फिलहाल पश्चिम की बाढ़ में बहने से जो लाभ हानि उस के लिए हमें तैयार रहना ही है उस का विरोध करने की हम में त है ही नहीं। और किस चीज का विरोध करें और किस चीज को प्रसन्नता स्वीकार करें इस का निर्णय करने की हमारे पास न है शुद्ध दृष्टि, न है सिद्धि।

इस जीवन दृष्टि और हृदय सिद्धि के लिए कोशिश करने से ही नव-समन्वय होगा।

(१५ अगस्त १९६६)

ों को हम विशुद्ध और प्राणवान् बनावें

अपना भूतकाल भूल जाने से मनुष्य अपनी बुनियाद खो बैठता है। लेकिन याद खोने के डर से मनुष्य जब भूतकाल का उपासक बनता है तब सिर्फ याद ही नहीं अपना सारा जीवन ही खो बैठता है। किसी समय भूतकाल में रा प्राण अवश्य था लेकिन प्राण भूतकाल की उपासना कभी नहीं करता। जीता है वर्तमान काल में जीता है भविष्यकाल के लिए, और जी सकता तकाल को छोड़ देने से ही। यही है प्राण की प्राणशक्ति का रहस्य।

संसार में आज जितने भी धर्म हैं सब के सब भूतकाल के उपासक हैं। लिए ये सब धर्म अपने पुराने कलेवर को ले बैठते हैं और प्राण को खोते हैं।

और फिर भूत बन कर अपने-अपने धर्मनिष्ठो के सिर पर सवार होते हैं और आपस में लडते हैं।

अगर हमारी धर्मनिष्ठा जीवन निष्ठा की तरह प्राणपूर्ण होती तो हम लोगो ने अपने-अपने धर्म को नयी-नयी दृष्टि दी होती, उस के कलेवर को बढने दिया होता और भविष्य के लिए नये-नये पुरुषार्थ करने की उम्मीदें रखी होती। अगर सब के सब धर्म इस तरह से बढते रहते और भविष्यकाल की ओर देखते रहते तो वे एक-दूसरे की दुश्मनी करने की भूल नही करते।

जब धर्मनिष्ठ लोग अपने अपने धर्म का अभिमान ले कर आपस में लडते हैं और एक-दूसरे का खून करते हैं तब वे जानते नही कि वे अन्य धर्मों का नाश नहीं कर रहे है, अपने ही धर्म की कब्र बना रहे हैं।

आजकल इन धर्मों के प्रति जिंदा-जीवित निष्ठा कही भी नहीं दीख पडती। जीवित निष्ठा होती तो धर्म को जीवित रखने के लिए उस का नव संस्करण किया जाता। लोगो में पाया जाता है केवल धर्माभिमान। लोग नाम लेते हैं भगवान का लेकिन अभिमान रखते हैं तीन चीजों का पुराने धर्म संस्थापक का भूतकाल के लिए लिखे गये धर्म ग्रंथो का और भूतकाल के लिए बनायी गयी धर्म साधना का और उस के रस्म रिवाज का। ईसाइयो में ईश्वर भक्ति गौण है ईसा की भक्ति प्रधान है। मुसलमान कहेंगे, हमारे नबी साहब, हजरत मोहम्मद पैगम्बर साहब दुनिया के लिए आखिरी पैगम्बर हैं, उन्हीं की बात हमेशा के लिए माननी चाहिए। हमारे वैष्णव कहेंगे 'कृष्णस्तु भगवान स्वयम्'। चन्द वैष्णव यहाँ तक बढते हैं कि वे कृष्ण को भगवान् का अवतार मानने को तैयार नही हैं। अवतारी पुरुष तो बलराम था। कृष्ण स्वयं भगवान थे। दस अवतारो की जब वे गणना करते हैं तब बोलते हैं 'रामो रामश्च रामश्च' याने एक परशुराम, उन के बाद दाशरथी राम और आखिरकार बलराम ऐसे तीन रामावतार हुए।

वेदांत विद्या के लिए हम पुराने ग्रंथ को ही ले कर क्यो बैठें? वेदांत का प्रारम्भ हुआ वेदो से इस में तो कोई शक नही है। उस विचार का विकास हुआ उपनिषदो में। उपनिषदो के मौलिक विचारों को अपने ढंग से व्यवस्थित रूप दिया ब्रह्मसूत्रो ने।

उस के आगे प्रगति की भगवतगीता ने, गीता में ब्रह्मविद्या भी है, योगशास्त्र भी है और जीवनकला भी।

अब यह वेदांत विद्या गीता तक आ कर ठहर नही गयी। आचार्यो ने वेदांत विद्या को बढ़ावा दिया। वेदांत विद्या की बुनियाद भले ही उपनिषदो

के वचनों में पायी जाती हो लेकिन वेदान्त विद्या उपनिषदों के वचनों का अर्थ करने पर निर्भर क्यों रहे ? वेदान्त विद्या का सच्चा आधार पौरुषेय वचनों पर नहीं है किन्तु वेदान्त विद्या की उपासना करने वाले पुरुषों की अनुभव-परम्परा पर है।

लेकिन हमारी भूतकाल की उपासना हमें अंधा बना देती है। यह कहती है कि याज्ञवल्क्य तो त्रिकालज्ञ थे। शंकराचार्य चाहे हों त्रिकालज्ञ थे ? शंकराचार्य का अधिकार याज्ञवल्क्य के वचनों का अर्थ करने तक सीमित है।

शंकराचार्य का कोई अन्धा भक्त इस पर चिढ़ कर कहेगा कि 'आप भी क्या कह रहे हैं ? हमारे शंकराचार्य तो स्वयं भगवान् शंकर ही थे।' अगर ऐसे शंकर भक्त को मैं कहूँ कि श्री अरविंद भी तो भगवान् ही थे तो वह मानने को तैयार होगा ? ।

(१ सितम्बर १९६६)

चाहिए नव समन्वय

भारत में धर्मों की बात अब पुरानी हो गयी है। लोग धर्मों को मानते तो हैं। धर्मों के नाम से सारे समाज के तीन चार बड़े टुकड़े हुए हैं। धर्मों की बाधा बिलकुल दूर नहीं हुई है, तो भी धर्मों की प्रधानता अब पहले की जैसी नहीं रही। अब तो दुनिया के दो दल हो गये हैं, पूरे तो नहीं हुए हैं लेकिन किये जा रहे हैं, जोरों से किये जा रहे हैं। एक दल अमेरिका का शिष्य अथवा अनुयायी या आश्रित बन रहा है। और दूसरा रशिया का।

भारत सरकार दोनों के बीच तटस्थता के नाम छोटे छोटे झोंके ले रही है। स्वयं सरकार को ही पता नहीं कि किस वक्त उस पर किस दल का प्रभाव पड़ रहा है या बढ़ रहा है।

यह हो गयी राजनीतिक निष्ठा की बात, आयडियालाजी की बात। लेकिन हमारे जीवन की हालत क्या है ? उस में तो सारा परावलम्बन, परप्रत्यय, असंगठन और असंतोष ही है।

एक ही उदाहरण ले लें। हमारी अन्नोत्पत्ति जितनी चाहिए उतनी बढ़ नहीं रही है और दूसरी बात है कि काफी चाहने पर भी हमारी प्रजोत्पत्ति तनिक

भी एक नहीं रही है। न भारत का रकबा बढ रहा है, न भारत की जनता को किसी उपनिवेश में आ कर बसने की सहूलियत है। इस का कोई विचार ही नहीं करता।

जब लोकसख्या जोरो से बढती है तब आजकल की भाषा कहती है, लोकसख्या का विस्फोट हुआ है। (या देखा जाय तो सारी दुनिया में लोकसख्या का विस्फोट जोरो से हो रहा है और प्रजोत्पत्ति और अन्नोत्पत्ति का प्रमाण सँभालना सवत्र कठिन हो गया है। दुनिया की सरकारों के लिए और मनीषियो के लिए यह बडा चिता का विषय हो रहा है।) भारत की बात सोचते हुए कहना पडता है कि जब से स्वराज्य हुआ है हमारे सवाल—चिंताजनक सवाल बढते ही जाते हैं। कहना पडता है कि सवालों का भी विस्फोट हो रहा है। मैं हिसाब कर रहा था कि "इन दिनो हम लोगो ने कितने सवालो का हल ढूँढ निकाला है।' बहुत सोचने के बाद भी एक भी सवाल ध्यान में नही आता है जिस का हमने सन्तोषजनक हल निकाला हो। सतोष इतना ही है कि सारी दुनिया की हालत हम से अच्छी नही है।

खाने के अन्न के लिए विदेश पर आधार रखना पडे, यह तो परावलम्बन की अवधि हो गयी।

जहाँ देखें अगरेजी का बोलबाला है। फलत हमारे नवयुवक और युवतियाँ अमेरिकी उपन्यास दिन रात पढते है। और अब उसी ढग के देशी उपन्यास भी लिखने लगे है जिस में नीति, सदाचार, अभिरुचि सब कुछ विदेशी ढग के हो रहे हैं। छोटे-छोटे बच्चे देशी भाषा की किताबें हाथ में कम लेते हैं। अँगरेजी किताबो की ही भरमार है।

राज्य चलाने के लिए धन चाहिए, सो भी अगर हम विदेश से मगवा लें तो हम मितव्ययिता—किफायतशारी कब सीखेंगे? जब पैसा, चाहे जितना, आसानी से मिलता है तब मनुष्य अधा होकर खर्च करता जाता है। विदेशी लोग पहले पहल, बिना किसी शर्त के कर्जा देते आयेंगे। कर्जे लेने की हमारी आदत बढने पर जब वह देखते हैं कि हम पूरे लाचार हो गये हैं तब ऐन मौके पर कर्जा देना बन्द कर देते है और तब शरण गये बिना चारा ही नही रहता। जब चाहे जितना पैसा मिलता है, तब पैसा बनता है सस्ता और सब चीजें बनती है महगी। ऐसी हालत में अगर किसी की सलाह लेनी पडे तो विदेश के विज्ञ सलाह देने के लिए बुलाये जाते है।

हमारे देश में हमारी शिक्षा कैसी होनी चाहिए, जिस का निर्णय करने के लिए एक आयोग नियुक्त हुआ, इस में भी विदेश के विज्ञ लोगो को बुलाया

गया। जिस देश के पास 'स्वय प्रज्ञा' नही उस का दूसरा क्या होगा ?

हम नही कहते कि विदेशी लोगों के पास अच्छा ज्ञान और उच्च सस्कृति नही है। लेकिन उन की बुनियाद में उन का अनुभव, उन का स्वभाव, उन का आदर्श और उन की कार्यपद्धति होती है जो, हमारे देश के लोगो के लिए अनुकूल है या नही यह देखे बिना, अगर हम लादते गये तो भारत के लोग सहन तो करेंगे लेकिन उन का उत्कर्ष नही हो सकेगा। दुनिया से हम सब कुछ ले सकते हैं लेकिन अपनी क्षमता और उन की मर्यादा देखनी पडेगी। अच्छी से अच्छी खुराक भी अगर हमारे हाजमे के लायक नही है तो ऐसी खुराक से लाभ होने की जगह हानि ही अधिक होगी।

हमारी पुरानी सस्कृति उस काल के लिए शायद काफी हद तक मुफीद थी। लेकिन आज की बदली हुई और बढी हुई परिस्थिति के लिए वह बिलकुल अनुकूल नही है।

पुरानी सस्कृति को व्यापक बनाने के लिए उस का पुराना कलेवर छोडना ही पडेगा, जरूरत पडने पर तोडना भी पडेगा और नयी और भविष्य काल के लिए लाभदायी समन्वित सस्कृति के अनुरूप नया कलेवर उसे देना पडेगा।

अगर हमारे पास ऐसे समाज शास्त्री होते जो हमारी प्राचीन सस्कृति के प्राण को पहचानते हो, उस के प्रति आदर भक्ति भी रखते हो, लेकिन भूतकाल के उपासक बन कर पुराने कलेवर में हमारी वर्धमान सस्कृति को मार डालना नही चाहते हो, तो ऐसे अध्यात्म परायण समाज शास्त्री हमारी सस्कृति को उस के नवसमन्वय के अनुकूल एक तारुण्ययुक्त कलेवर दे देते।

लेकिन जो लोग भूतकाल के उपासक है व्यापक समन्वय को समझ नही सकते, वे इस नवनिर्मिति का जिद के साथ, विरोध करेंगे और इसी में अपने जीवन की कृतार्थता समझेंगे।

ऐसे लोगो को विवाद में सफलता मिले या निष्फलता, समाज उन के रास्ते जाने वाला नही है। समाज तो अपने प्राण के प्रति निष्ठा रख कर जाने अनजाने नव समन्वय की ओर ही जायेगा। और यह नव-समन्वय भारतीय सस्कृति के लिए यौवनपूर्ण नया शरीर बना ही लेगा।

हजारो वर्षों की भारतीय सस्कृति का इतिहासक्रम भविष्य की ओर इगित कर रहा है। भविष्य की ओर देखने की दृष्टि को ही दिव्यदृष्टि कहते है। ऐसी दिव्यदृष्टि जिन के पास है वे ही इस नव समन्वय को समझ सकते हैं और उस की तैयारी कर सकते है। पिछले डेढ सौ वर्ष के अन्दर भारत में ऐसी दिव्य दृष्टि वाले लोग पैदा हुए है। भविष्यकाल उन्ही का है। (१२ अक्तूबर १९६६)

हम समन्वयवादी किसी से कायमी असहयोग कर ही नही सकते। सहयोग है जीवन धर्म, असहयोग है आपद धर्म। सीधे संघर्ष से बचने के लिए ही, और विरोधी पक्ष में धर्मबुद्धि जाग्रत करने की आशा है तब तक ही, असहयोग का आश्रय हम ले सकते है।

हम ने कहा कि चीन और रशिया में साम्यवाद प्रचलित है। वहा पर आत्मीयता लाने के लिए, समन्वय सफल बनाने के लिए हम कुछ नही कर सकते। यह कोई सिद्धात की बात नही है। हमें इतना ही कहना था कि जहा साम्यवाद प्रचलित है वहा की सरकारें अपने-अपने देश के प्रजा-जीवन पर पूरा पूरा नियन्त्रण रखती है। वहा सास्कृतिक समन्वय का प्रचार या प्रयोग करने के लिए हमें मौक़ा मिलना भी मुश्किल है।

मैं ने एक साम्यवादी देश में किसी आदमी से कहा कि मुझे अपने घर ले चलिए। हम आप का गृहस्थी जीवन देखना चाहते है। (हम सरकार के मेहमान थे। उन्होंने हमें एक आलीशान होटल में रखा था। मैं ने विनोद में उन लोगो से कहा था कि आप लोगों ने अपने बादशाह को खतम किया अब मेहमानो को बादशाह की तरह रखने लगे है।) जब मैं ने उस आदमी के घर जाने की बात की तो पहले चकित हुआ। बाद में उस के चेहरे पर असमंजसता दीख पडी। तुरन्त वह सम्हला। उस ने कहा—जरूर आप को अपने घर ले जाऊँगा। अभी पाच दस मिनट में आप को लेने आ जाऊँगा। फिर वह आदमी कभी मिला ही नही।

जो हो हम लोगो ने देखा कि साम्यवादी देश में खानगी तौर पर लोगों से मेल-जोल साधना आसान नही है। सरकार ही समस्त प्रजा की समग्र रूपेण प्रतिनिधि है। कभी कभी कही कही साम्यवादी सरकारें अतिथियों को अपने प्रजाजनों के घर पर जाने देती होगी अथवा स्वय ले जाती होंगी। लेकिन वह सब सरकारी ढग से सरकारी मान्यता के अनुसार ही हो सकता होगा।

(अमरिका के एक लेखक ने जिसने Mice and Man लिखा है, रशिया जा कर वहाँ जनता का पारिवारिक जीवन देखने का प्रयत्न किया। उस ने साम्यवादी सरकार को निश्चिन्त करने के लिए कहा 'न मुझे राजनीतिक दृष्टि से

देखता हूँ न कुछ लिखता हूँ। मैं केवल कौटुम्बिक जीवन ही देखना चाहता हूँ और उसी का वर्णन करना चाहता हूँ। जो भी फोटो मैं लूँगा और जो भी लिखूँगा आप को सौंप दूँगा। आप जितना मंजूर करेंगे उतना ही आप के देश के बाहर जायेगा। उस को सफलता मिली और उस की यह किताब सारी दुनियाने चाव से पढ़ी। यह सब मैं जानता हूँ। मैं ने भी वह किताब पढ़ी है। फिर भी मैं कहूँगा कि साम्यवादी देशों में जाता मैं समन्वयवृत्ति का प्रचार करने के लिए जाना आसान नहीं है। हम जो कुछ भी समझाना चाहें वहाँ के राज्य कर्ताओं को ही) और उन के आदमियों को ही समझा सकते हैं। अगर हम समन्वय के सच्चे मिशनरी हैं तो साम्यवादी देशों में भी पहुँचने का रास्ता हमें ढूँढना होगा। (मैं रशिया और चीन में सौमनस्य मण्डल का सदस्य बन कर सरकारी मेहमान के तौर पर थोड़ा घूमा हूँ। मैं जानता हूँ कि वहाँ भी समन्वय वृत्ति का प्रचार पूर्णरूप से असंभव नहीं है। लेकिन ऐसा काम आसान भी नहीं।)

तब तक गैर-साम्यवादी देशों में गैर राजनैतिक ढंग से समन्वय का सांस्कृतिक कार्यक्रम करते जायें। वहाँ हमें जितनी सफलता मिलेगी उस का असर साम्यवादी देशों पर भी होगा। हम निराश नहीं हैं। हमारे लिए निराशा नास्तिकता का ही रूप है।

समन्वयवादी और एक काम कर सकता है जो हमारे कुमारप्पा ने किया था, और जिस की मैं ने भूरि भूरि सराहना की थी। कुमारप्पा ने रशिया में और चीन में जा कर वहाँ जो भी चीज अच्छी देखी, प्रजाहित के सामाजिक कल्याण के काम देखे उन की उन्होंने हार्दिक प्रशंसा की और कहा कि ये सब बातें हमारे यहाँ और सर्वत्र होनी चाहिए। जब साम्यवादी नेता देख सकेंगे कि हम दबी हुई जनता के पक्षपाती हैं, सारी दुनिया में आदर से समता लाने की हमारी नीति है, तब वे भी हम पर विश्वास करेंगे और हमें समन्वयवृत्ति का प्रचार करने का मौका किसी-न किसी दिन अवश्य देंगे।

लेकिन सार्वभौम समन्वय-वृत्ति का प्रचार करने का सर्वश्रेष्ठ काम करने वाले लोग हमारे पास हैं हो कितने ?

(११ अप्रैल १९६८)

धर्म समन्वय

फिलहाल मेरे मन में एक ही चिंतन जोरों से चल रहा है। हिंदुओं को अपना पुराना और कालग्रस्त हिंदुत्व छोड़ कर जात-पात का अलगाव छोड़ कर पारसी, यहूदी आदि स्वदेश के अन्य धर्मी लोगों के साथ ओतप्रोत हो जाने की तैयारी करनी चाहिए।

श्री विनोबा को आशा है कि ग्रामदान क्रांति के जरिये ऐसी क्रान्ति अपने आप होगी। यह भी आशा रखी जाती है कि ग्रामदान के द्वारा सब धर्म के लोग मिल कर एक कुटुम्ब बनेगा। कभी न कभी यह परिवर्तन होगा जरूर, लेकिन वह समय पर होगा या नहीं यही सवाल है। राष्ट्र की भावात्मक एकता आज सब तरह से जोखिम में है। डर है कि चाहे जैसी परिस्थिति में जात पाँत का भेद एक या दूसरी तरह से जिन्दा रखने की हिंदुओं की मनोवृत्ति तथा कुशलता ग्रामदान को भी मात कर देगी। यह हम अभी तक ठीक समझ नहीं पाये हैं कि जात-पाँत का दुरावा एक सामाजिक और राष्ट्रीय रोग है। 'सामाजिक जीवन तो ऐसा ही हो सकता है' ऐसा सोच कर इस सामाजिक कमजोरी के प्रति कोई ध्यान नहीं देता। और इस बारे में नेतागण समाज को छेड़ते ही नहीं। इस परायेपन का यदि हम यथाशीघ्र दूर नहीं करेंगे तो अब हम टिक नहीं सकेंगे। समाज के और खासकर के अपने कार्यकर्ताओं के गले इस बात को उतारे बिना कोई चारा नहीं है।

(१४ अप्रैल १९६८)

भावनात्मक एकता की जड़ पकड़ें

'मंगलप्रभात' हमारी संस्था का मुखपत्र है। राष्ट्रभाषा हिंदी का उद्देश विविध भाषी, विविध धर्मी समूचे भारत का एकहृदय और एकप्राण बनाने का ही है। जब गांधीजी ने देखा कि प्रचलित हिंदी द्वारा, ऐतिहासिक कारणों से और चन्द लोगों के संकुचित आदर्शों के कारण, वह भावनात्मक एकता व्यक्त नहीं हो रही

है, तब उन्होंने हिन्दी को और उर्दू को (और दोनों भाषाओं के अभिमानी लोगों को) एकत्र लाने के लिए हिन्दुस्तानी शब्द का प्रयोग किया। लेकिन जहाँ हृदय की इतनी सर्वसमन्वयकारी विशालता नहीं है वहाँ केवल शब्द बदलने से मामले में कहाँ सुधार हो सकता है? दो समाजों के बीच जो अलगाव है उसे दूर करने का संकल्प अगर दोनों ने किया तो फिर उस में दोनों के लिए एक-सी आसान भाषा मदद कर सकती है और जीवन घुलमिल सकता है। इस के अभाव में एक नये नाम से दोनों बाजू तकातोलना बड़ी और किसी भी पक्ष को हम राजी न कर सके।

अलगाव राष्ट्रीय एकता के लिए बाधक है, परस्पर अविश्वास को पोषण देता है। अलगाव बढ़ने से और तीव्र होने से समय-समय पर परस्पर हत्या भी होती है लेकिन जब तक लोग अलगाव को एक राष्ट्रीय बीमारी नहीं मानते, और उसे स्वाभाविक समझ कर उस का समर्थन करते हैं और जब तक ऐसे अलगाव से जो राष्ट्रीय कमजोरी बढ़ती है उसे बरदाश्त करने के लिए सब तयार हैं, तब तक इस बीमारी की जड़ ढूंढ लेना ही हमारा प्रथम कर्तव्य बनता है।

लोग लड़ते हैं, अपने-अपने स्वार्थ के लिए। स्वार्थ हमेशा अन्धा होता है, न्याय-अन्याय को देखता नहीं। ऐसे स्वार्थ को काबू में कैसे लाया जाय, यह एक बड़ा सवाल है। मामूली ढंग से न्याय पाने के लिए लोग या तो पंचायत के पास जाते हैं अथवा अदालत के पास।

यह बात नहीं कि हिन्दू हिन्दुओं के बीच कोई किसी के प्रति अन्याय नहीं करता अथवा मुसलमान मुसलमान के बीच स्वार्थ का झगड़ा नहीं होता। हिन्दू, मुसलमान, ईसाई सब एक ही मिट्टी के बने हुए हैं। जब स्वार्थ बढ़ता है तब लोग पहले उस की चर्चा करते हैं लोकमत का सहारा माँगते हैं अदालत के या पंचायत के पास फैसला माँगते हैं। इतने से न्याय नहीं मिला अथवा सन्तोष हुआ तो लोग निराश होकर बैठ जाते हैं। कहते हैं कि 'हमारी तकदीर ही ऐसी। जिस का इलाज नहीं हो सका उसे बरदाश्त किये बिना चारा ही क्या?'

भले लोग कभी-कभी इस से भी उच्च भूमिका का सहारा लेते हैं। वे कहते हैं, 'भले ही मेरे हक का मुझे न मिला। जिसने मेरे प्रति अन्याय किया, वह आखिरकार है तो मेरा भाई ही। मुझे जो न मिला, मेरे भाई को मिला। मुझे भूखा रख कर वह खायेगा, उस के बाल-बच्चे खायेंगे। वे सलामत रहे तो किसी न किसी दिन मेरी मदद करेंगे। आखिरकार हम सब एक हैं। एक दूसरे के बिना हमारा काम नहीं चलेगा।" जहाँ आत्मीयता है प्रेम है, वहाँ

छोटे-मोटे अन्याय बरदाश्त हो ही जाते हैं। मुसलमान मुसलमान के साथ आराम से रहते हैं क्योंकि उन में सब लोग ऊपर बताये हुए ढंग से ही सोचते हैं। यही बात ईसाइयों की। और ज्यादातर यही बात है हिंदुओं की।

लेकिन अब अन्याय का मामला हिंदू और मुसलमान के बीच खडा होता है अथवा मुसलमान और ईसाई के बीच खडा होता है तब वह व्यक्तिगत मामला नहीं रहता। मुसलमान कहने लगते हैं "ये कमबख्त हिंदू (या ईसाई) होते ही ऐसे। उस की जगह पर मुसलमान होता तो ऐसा नहीं सहन करना पडता।" कोई देखता ही नहीं कि सचमुच हिंदू ने अन्याय किया है या नहीं शायद मुसलमान का दावा ही गलत है। बस, 'सवाल हिंदू मुसलमान के बीच है। और हम मुसलमान हैं। इसलिए मुसलमान की बात ही हमें सही माननी चाहिए। और सारी मुसलमान कौम को एक होकर हिन्दुओं को सबक सिखाना चाहिये।'

हिंदू लोग भी ऐसी ही बातें करते हैं। वे कहते हैं कि "जहाँ मुसलमानों का राज है अथवा उन के हाथ में अधिकार है, शुद्ध न्याय मिलने की आशा ही नहीं।'

यह स्वभाव केवल हमारे ही देश में है यह बात नहीं। अमेरिका में गोरे लोगों के और नीग्रो लोगों के बीच जब झगडा होता है तब न्याय अन्याय देखे बिना सब गोरे एक हो जाते हैं और नीग्रों को मार डालते हैं। इसे कहते हैं लिंच ला (Linch Law)। इस लिंच ला के कानून में न्याय किस के पक्ष में है, यह देखने के लिए कोई बंधा हुआ नहीं होता। झगडा खडा हुआ है। शिकायत गोरे ने की है इस लिए काले को (नीग्रों को) सजा देनी ही चाहिए। एक बदमाश गोरी औरत ने हो हल्ला मचाया कि एक नीग्रो ने मुझ पर अत्याचार करने की कोशिश की। नीग्रो ने लाख कहा कि मैं निर्दोष हूँ। एक भले गोरे ने भी गवाही दी कि नीग्रो का कोई क़सूर नहीं है। गोरी औरत ने अपना मतलब सिद्ध नहीं हो रहा है यह देख कर बेचारे नीग्रो के खिलाफ़ यह हो-हल्ला मचाया है। नीग्रो की बात सही है। वह गुनहगार नहीं है।'

इकट्ठा हुए गोरे चिल्ला कर कहेंगे, क्या काले निगर की बात हम सही मानें और गोरी औरत पर अविश्वास करें? यह कभी नहीं हो सकता। अगर काला गुनहगार हाथ नहीं आया तो उस के लोगों को सजा करेंगे। इस कमजात कौम को सिर ऊँचा करने दिया तो उस का दिमाग आसमान पर पहुँच जायेगा।

जहाँ आत्मीयता नहीं है वहाँ लिंच कानून (?) की मनोवृत्ति ही काम करेगी।

जब दो कौमो के लोग एक-दूसरे के पड़ोस में रहते ह, धीरे धीरे एक दूसरे को पहचानने लगते हं, एक दूसरे को मदद करने के मौके भी उन्हें मिलते ह। मदद की लेनदेन चलने से आदमियत खड़ी होती ह। अगर दोनों कौमों का एक दूसरे के प्रति आदर ह तो समानता अपना काम कर ही लेती ह। (जहाँ समानता नहीं ह, उच्च-नीच भाव दृढ़मूल ह वहाँ आत्मीयता और मानवता गायब हो जाती ह जसा सवर्ण और हरिजनों के बीच कई बार पाया जाता ह।)

हम ने विवेचन करने के लिए कड़े उदाहरण दिये ह। सामाजिक व्यवहार में अकसर भलाई और बुराई का मिश्रण ही पाया जाता ह। लोग मामूलीतौर पर आत्मीयता से चलते ह अथवा एक दूसरे की बुराई निभा लेते हैं और झगड़ा टालते ह। कदम कदम पर न्याय के लिए हरएक आदमी लड़ता रहेगा तो दुनिया चलेगी ही नहीं। लेकिन जहाँ पर एक पक्ष शक्तिशाली होता ह और दूसरा पक्ष अपनी लाचारी महसूस करता है तब जबरदस्त पक्ष न्याय की बात देखेगा ही नहीं। मानो, कहेगा कि सिरजोरी करने का हमारा अधिकार ह। जबरदस्त को याने कमजोर को सिरजोरी बरदास्त करनी ही चाहिए। यह तो कुदरत का कानून ह।

हमारे देश में लोगों ने ऐसी सब हालतें देखी ह। जब गाँव के सवर्ण लोग हरिजनों के बारे में बातें करते ह तब उन का मानस जसा ह वसा प्रगट होता ह। अमेरिका के कई गोरो के मुँह से मैं ने ऐसी ही बातें सुनी ह। गोरे अक्सर कहते ह कि काले लोगों को सिखाना चाहिए कि समाज में उन का स्थान कहाँ ह! ऐसा नहीं किया तो देखते देखते वे हमारे सिर पर चढ़ बठेंगे।'

लोगों को दूर-दूर रखने से हम उन के गुण कम देख सकते ह। और जो थोड़ दोष देख सकते ह उन्हें बड़ा कर दिखाते ह। जिस कौम को हमेशा अन्याय सहन करना पड़ता ह वह देखते देखते आत्मविश्वास और आत्मसम्मान खो बैठती ह। ऐसे की सस्कारिता ही नीचे उतर जाती ह। और फिर लोग कहने लगते ह, देखिए इन की सस्कारिता! इन्हें हम समानता से अपने पास कसे आने दें?

भेद के कारण अलगाव। अलगाव के कारण परिचय का अभाव, और परस्पर अविश्वास। इस क्रम स सबध बिगड़ते जाते ह।

इस सारी परिस्थिति के लिए ऐतिहासिक कारण होते ही ह। कोई ऐसा न माने कि दोष कवल हिन्दुओं में ही ह। सब लोग एक ही मिट्टी के बने हुए ह। जब मुसलमानों का राज था हिंदुओं को इतना सहन करना पड़ा ह कि वह आज तक भूल नहीं सकते। ईसाईयों ने धर्मांधता के कारण हिंदुओं पर जितना जुल्म किया उस के सबूत गोवा में हम ने देख ह। (भारत में सिर्फ एक जाति

वे लोगों को राज्य करने का मौक़ा नहीं मिला जो हैं ईरान से आये हुए पारसी। इन्हों ने राज्यकर्ता के रूप में कभी किसी पर अन्याय नहीं किया। क्योंकि इन्हें वैसा मौक़ा ही नहीं मिला।)

अब सवाल यह है कि क्या हम पुरानी सब बातें याद कर के बदला लेते जायें? या कहें कि जो हो गया, सो हो गया। पुरानी बातें कहाँ तक ढूंढने जायें? ज़ालिम का गुनाह तो है ही। किन्तु गुलाम ने गुलामी बरदाश्त की और इस तरह ज़ालिमों को गुनहगार होने दिया यह भी एक दोष ही है। अब हम पुरानी बातें दफ़ना कर नये सिरे से एक-समाज क्यों न बनें? उच्च-नीच भाव सब से पहले दफ़नाना होगा। उस के बाद आपस-पर भाव अथवा भेद छोड़ देना पड़ेगा। धर्मभेद, वंशभेद, रस्म रिवाज़ों की जुदाई इन सब बातों से ऊपर उठ कर हमें एकता की ओर बढ़ना चाहिए।

यह काम, यह सुधार, यह क्रांति इकतरफ़ा नहीं चल सकती। ज़ालिम कहेगा, 'हमारा ज़ुल्म बरदाश्त करो। फिर तो कोई झगड़ा ही नहीं रहेगा। बड़ी मिठास से हम साथ रहेंगे।' लेकिन ऐसी एकता, आत्मीयता हम बरदाश्त नहीं कर सकते। अन्याय भी बरदाश्त नहीं करना है। समानता की भूमिका पर, न्याय की भूमिका पर हम इकट्ठा होना चाहते हैं। दब्बू हो कर जीने की सलाह हम किसी को दे नहीं सकते। हम इतना ही कहेंगे—

भारत में अनेक धर्मों के, अनेक वंशों के, अनेक भाषाओं वाले लोग एकत्र रहते हैं, रहते आये हैं। अलग अलग रहें तो स्वभाव बिगड़ जाता है। उच्च नीच भाव चलाया तो अन्याय मज़बूत होता है। रुचि भेद बरदाश्त करना चाहिए। सब-समाज अपने-अपने रस्मरिवाज सुधारने की कोशिश करें। और सब एक-दूसरे के रस्म रिवाज सहन करने को सीखना ही चाहिए।

जो लोग धार्मिक हैं धर्म या मज़हब मानते हैं उन की पहली कसौटी यह है कि उन के मन में सब धर्मों के प्रति इज़्ज़त आदर हो। हर एक धर्म के लोग अपने धर्म की बात किस तरह से समझते हैं और किस कारण उन पर इतना विश्वास रखते हैं यह भी सहानुभूति के साथ समझना चाहिए। मेरा ही धर्म अच्छा, मेरा ही धर्म ईश्वरप्रणीत है ऐसी ज़िद केवल ज़िद ही है इतना तो उन को समझाना चाहिए। या तो सब धर्म और सब धर्मग्रन्थ ईश्वर प्रणीत हैं और इस लिए इज़्ज़त के योग्य हैं अथवा सब के सब धर्मग्रन्थ बुद्धि और अनुभव की कसौटी पर कसने लायक़ हैं इतना तो धर्मनिष्ठों को कबूल करना ही चाहिए। वे उतनी शुद्ध दृष्टि नहीं रखते हैं इस लिए आज की लिखी पढ़ी दुनिया सब धर्मों के प्रति एक सी उदासीन बन गयी है और किसी भी धर्म के

प्रति लोगो के मन में अब आदर नही रहा। अपने अपने धम का अभिमान तो हर एक में हो सकता ह। लेकिन अभिमान चीज ही अधार्मिक है। अभिमान, गुमान, गव और अहकार को किसी भी धम ने अच्छा नही माना। जो विचार तकशुद्ध नही ह, न्याय्य नही ह, सावभौम आदर के पात्र नही ह, उस का सम थन केवल अभिमान से करना अपनी स्थिति कमजोर ह, ऐसा कबूल करने क बराबर है।

सब धर्मों के प्रति एक-सा आदर रहे यह धार्मिकता का पहला लक्षण है। उस की बुनियाद पर अपने धम के प्रति विशेष भक्ति हो तो उस की कोई शिकायत नही करेगा।

इसी वत्ति को गाधीजी ने सव धम-समभाव का नाम दिया। इस की साधना करते हम लोगो ने देखा कि जब हम सब धर्मों के प्रति एक समान आदर रखते ह तब धीरे धीरे सब धर्मों के प्रति आत्मीयता बँध ही जाती ह। सब धम समभाव का फल ह सब धम ममभाव।

समभाव का यह अथ हरगिज नही कि 'धम धम में कोई भेद ह नही, ह तो केवल भाषाभेद ही ह।' हर एक धम में अपनी खूबी और विशेषता होती ही है जिस का लाभ दूसरे धम ले सकते है। हर एक धम 'अपने देश, अपने काल और अपने समाज' से प्रभावित होता ह। समय-समय पर उस का अथ और उस का भाव व्यापक करना पडता ह। धमग्रथ को उस के शब्दाथ से बाँध देना उस के प्रति अन्याय करना है। धम को अगर ताजा, जिंदा और प्राणवान बनाना ह तो पुराने ग्रन्थो के शब्दाथ को पकड कर चलना ठीक नही होगा। मनुष्य का विकास होता जाता ह उस के साथ धम समझने की शक्ति का भी विकास होता ह। हर एक धम-समाज को अपने-अपने धम का सस्करण 'अध्यात्मनेत्र के प्रवीण लोगो की मदद से करते रहना चाहिए। धम का साक्षा त्कार हमेशा भूतकाल की ओर देख कर पूरी तरह से नही होगा। धम का प्रारम्भ भले ही भूतकाल में हुआ हो। उस का विकास हमेशा होता रहेगा। और धम की कृतायता तो भविष्यकाल में ही पायी जायेगी। धम का आकलन, धम का पालन और धम की सिद्धि काल भगवान् की मदद से ही हो सकती ह।

जो बातें धम क सम्बन्ध में कही गयी वही सस्कृतियो के बारे में भी सही है। और अब तो सब सस्कृतियो को एक-दूसरे में घुलमिल जाने का समय आया है। दुनिया के अनेकानेक देशो में जा कर हमने देखा सवत्र सस्कृतियाँ ओतप्रोत होने लगी ह।

झगडे चलते है सत्ता सम्पत्ति, अधिकार और प्रतिष्ठा के कारण। इस लिए

समन्वय का काय राजनीतिक ढग से करना आसान नही है। इष्ट भी नही है। यह काम जनता की संस्कृति सेवकों के द्वारा ही कराना होगा।

हमारी सस्था ने प्रारम्भ किया, भाषा और साहित्य से। अनुभव हुआ कि यह काम गहरा है। संस्कृति-सम वय का ह। इस लिए हमारी सस्था के सदस्यों ने सर्वानुमति से तय किया कि सारी शक्ति संस्कृति-सम वय की स्थापना के लिए ही खच की जाय। इस लिए गाधी हि दुस्तानी साहित्य सभा का काम प्रधान तथा संस्कृति-समन्वय का ही बन गया ह। हमें विश्वास है कि इस सम वय काय में हम अग्रसर हुए तो समाज के बहुत से सवाल हल करने की शक्ति इसी में से प्रगट होगी।

'मगल प्रभात' के पाठका का वचारिक सहयोग तो हमें मिलता आया ही है। हमें विश्वास है कि उन की और हमारी यानें हम सब की यह सस्था विश्व सम वय के काम को बढ़ाती जायेगी। काम समष्टि का ह। सभी के सह योग से ही यह सिद्ध होगा। हमें विश्वास ह कि सम वय प्रेरक भगवान की सहायता इस में ह ही।

(१५ सितम्बर १९६७)

युगावतार सम वय भगवान

रहा न गया इसलिए विश्व-सम वय सघ की स्थापना की। स्वत त्र भारत के सामने असख्य सवाल ह। भारतीय संस्कृति अत्य त प्राचीन, विविध और समृद्ध ह। हरएक युग ने नया-नया पुरुषाथ करके इस संस्कृति को अनक तरह से सजाया ह और सब से बडी बात तो यह कि प्रतिकूल परिस्थिति में भी इस संस्कृति ने अपनी आत्मा को सँभाल कर रखा ह। दुनिया की दूसरा किसी भी संस्कृति ने ऐसा जीवट नहीं दिखलाया।

यह सब होते हुए भी हम भूल नहीं सकते कि हमारी संस्कृति में काफी कमजोरिया घर कर बठी ह। मनुष्य जाति के कई महत्त्व के सवाला का हल न ढूँढ सकने के कारण हमारी संस्कृति कदम कदम पर परास्त भी हुई है। इतने बडे विशाल देश के करोडो की जन सख्या के सस्कारी नागरिको का यह राष्ट होते हुए भी मुट्ठी भर पठान लोग यहाँ आकर राज्य कर सके क्योकि हमारे राजा और उन के सनिक शूरवीर और बहादुर होते हुए भी सगठित होकर

लड़ने की आवश्यकता अनुभव कर सकने जितने दूरदर्शी नहीं थे। हम लोगों ने स्वामी निष्ठा से पठानों का राज्य मजबूत किया और उसे कुशलता से चलाया भी।

उन के बाद मुगल लोग आये। उन्होंने पठानों को परास्त कर के भारत पर अपना राज्य स्थापित किया। उस समय भी मुट्ठी भर मुगलों को हम परास्त न कर सके।

यह हो गयी जमीन के रास्ते आक्रमण करनेवाले विदेशी लोगों की कहानी। यूरोप के लोग भारत से तिजारत करने को लालायित थे। उद्योग-हुनरों में और ललित कलाओं में उन दिनों भारत अग्रगण्य देश था। यूरोप के लोगों ने जमीन के रास्ते भारत पहुँचने की कोशिशें की। किन्तु मुसलमान राष्ट्रों ने भूमध्य समुद्र के इस पार उन्हें नहीं आने दिया। यूरोप के सारे लोग पुरुषार्थ में किसी से कम नहीं थे। उन्होंने भारत पहुँचने का समुद्री रास्ता ढूँढ निकाला। इस में उन्हें भारतीय खलासियों की अच्छी मदद मिली। अब मामूली जहाजों में बैठ कर भारत आनेवाले पोर्तुगीज या फ्रेंच लोगों की संख्या कितनी हो सकती है? मुट्ठीभर पोर्तुगीज लोगों ने भारत के पश्चिम के किनारे एक राज्य स्थापित किया। ४५० साल तक वह अव्याहत चला।

यही हालत अँगरेजों की थी। वे यहाँ आये तिजारत करने के लिए। हमारी राष्ट्रीय, राजनतिक और सांस्कृतिक कमजोरियाँ पहचान कर उन्होंने धीरे धीरे हम लोगों की मदद करना शुरू किया (इस शर्त पर कि भारत के राजा अँगरेजों को छोड़ कर यूरोप की और किसी भी प्रजा की मदद न लें।) सात समुद्र के उस पार से आये हुए मुट्ठी भर अँगरेजों ने हमारी कमजोरियाँ समझ लीं और इस देश में अपना राज्य सुदृढ़ किया। फ्रेंच लोगों ने भी हमारे बारे में बड़ा आविष्कार किया कि ये लोग कायर नहीं हैं, बड़े बहादुर हैं किन्तु देश निष्ठा नहीं जानते, असाधारण स्वामीनिष्ठ हैं। ये परलोक की बातें करते हैं किन्तु इहलोक की परिस्थिति समझते नहीं। ये लोग शान्तिप्रिय हैं उद्योग-हुनरों का विकास करने योग्य संस्कारी हैं किन्तु धर्म-जड़ होने से अपना व्यापक हित समझ नहीं सकते।

इस तरह हमारी राष्ट्रीय कमजोरियाँ समझ कर अँगरेजों ने हमारे देश पर, हमारी बुद्धि पर और हमारे मस्तिष्क पर भी अपना राज्य स्थापित किया।

जब तक हम जीवननिष्ठ थे तब तक हमारी सूझ अच्छी थी और हम कठिनाइयों पर विजय पाने का रास्ता निकाल सकते थे। लेकिन जब हम ग्रंथनिष्ठ और परम्परा निष्ठ बने तब सफलता का मार्ग देखने की और ढूँढ़ने की शक्ति खो बैठे।

हमारे यहाँ इतिहासक्रम से अनेक वंशों के लोग आ बसे। हम लोगों ने संस्कृति के बल पर सब को एक-जीव, एक प्राण बना दिया। हमारे यहाँ उपासना-भेद के कारण वैष्णव, शाक्त, शैव आदि अनेक पंथ भेद हुए लेकिन हमारी सामाजिक एकता कायम रही। क्योंकि हमने भेद में अभेद देखने की शक्ति कायम रखी था। हम ने कभी नहीं कहा कि एक ही रास्ता सच्चा है और शेष सब झूठे। हमारे यहाँ वंश भेद के कारण और प्रदेश भेद के कारण भाषाएँ अनेक चलीं। किंतु संस्कृति संवर्धन के लिए वैदिक और अनेक प्राकृत भाषाओं को सहेज कर सब को एकरूप बनाने वाली संस्कृत भाषा हमने चलायी, जिस का प्रचार काश्मीर से ले कर कन्याकुमारी तक और सिंधु नदी से ले कर लोहित—ब्रह्म-पुत्र तक एक समान फल गया। पंचायतन पूजा, अवतारों की कल्पना आदि समन्वयकारी सार्वभौम सिद्धान्तों के बल पर हम ने सांस्कृतिक एकता मजबूत की थी। राजनतिक एकता का इतना महत्त्व तब नहीं था, जितना आज है। छोटे-मोटे राजा अपना-अपना राज्य चलाते थे। ईर्षा के कारण, अगर महत्त्वाकांक्षा बढ़ी तो साम्राज्यों की स्थापना करते थे। साम्राज्यों का लाभ समझते हुए भी हमारे यहां किसी का भी साम्राज्य दीर्घजीवी न हो सका।

विदेशी आक्रमण के खिलाफ हम टिक न सके। पर राज्य का खतरा समझ ही नहीं सके। विदेशी राज्यों को मजबूत करने में हम ने सहयोग दिया। लेकिन विदेशवालों को स्वदेशी बनाने की हमारी अपेक्षा सिद्ध न हो सकी। सब को आत्मसात करने की हमारी शक्ति हम खो बैठे।

तब से हम ने एक ही नारा चलाया कि विदेशी धर्म, विदेशी ही रहने वाला है। विदेशी धर्म को स्वीकार करने वाले अपने लोग भी विदेशी बनने वाले हैं। तब से हमारी धार्मिक सामाजिक राजनतिक नीति 'जसे के साथ तैसा' वाली बन गयी। माने सब का आत्मसात करने का हमारा स्वधर्म हम ने छोड़ दिया।

विदेशी लोगों ने यहाँ पर अपने-अपने साम्राज्य बनाये और साम्राज्य के द्वारा राजनतिक एकता की स्थापना की। उस का प्रभाव देख कर हम चकित हो गये और हमने अपनी संस्कृति को 'आत्मरक्षा' का संकुचित रूप दे दिया। पराधीन समाज को ऐसा ही करना पड़ता है।

लेकिन अब तो हम स्वाधीन बन गये हैं। सन १८५७ के कड़वे अनुभव के बाद पच्चीस वर्ष के अंदर ही हम लोगों को एकता का रास्ता सूझा। देश के मनीषियों ने सन् १८८५ में कांग्रेस की स्थापना की। और धर्मभेद के बावजूद राजनीतिक और राष्ट्रीय एकता का प्रयोग शुरू किया। विदेशी राज्यकर्ताओं ने अपने लिए वह खतरा पहचान लिया। और कांग्रेस का

बल न बढे इस के लिए जितनी भी हो सकी उतनी कोशिशें की। न अंगरेज लोग इस देश में साम्राज्य कायम बना सके, न हम अपनी एकता अक्षुण्ण रख सके। अंगरेज तो चले गये लेकिन अपनी भाषा, अपना साहित्य और अपनी जीवनव्यवस्था का साम्राज्य यहाँ मजबूत हो रहा है इतना सन्तोष उन्हें हो गया है। एशिया और अफ्रिका में यूरोप के गोरों का राजनीतिक अधिकार टिक नहीं सका। लेकिन जीवन-व्यवस्था में और सांस्कृतिक पुरुषार्थ में भी पश्चिम का प्रभाव सब को मान्य करना ही पड रहा है।

ऐसी हालत में पश्चिम के सार्वभौम विज्ञान और यन्त्रोद्योगी संस्कृति के साथ भारतीय अथवा एशियाई आध्यात्मिकता का समन्वय करने से ही हम पुराने झगडे और तनाजे मिटा सकते हैं।

भारत के स्वभाव में धर्म-समन्वय का माद्दा है ही। इसी का प्रभाव बौद्ध धर्म ने एशिया के बहुत बडे हिस्से में आजमाया। इस के विपरीत समन्वय का स्वीकार न करते हुए साम्राज्यवाद का प्रयोग इसलाम ने और ईसाइयत ने सर्वत्र आजमाया। न इसलाम विश्व-साम्राज्य स्थापित कर सका, न ईसाइयत बसा कर सकी। दोनों ने आपस में युद्ध चला कर देखा किसी को भी विजय न मिली। अब अपना-अपना साम्राज्यवाद न छोडते हुए दोनों ने सर्वत्र शीतयुद्ध की नीति चलायी है। ऐसे शीतयुद्ध को कमजोर कर के विश्वव्यापी एकता स्थापित करने का प्रयत्न आज दुनिया में बडी शान्ति से किन्तु जोरों से चल रहा है। एक है पश्चिम के विज्ञानवाद का सार्वभौम प्रभाव और दूसरा है वेदान्त, बौद्ध धर्म और भक्ति मार्ग की त्रिवेणी का आध्यात्मिक प्रभाव। इस त्रिवेणी ने समन्वय का मार्ग अपनाया है और विज्ञान का प्रभाव तो सत्य और सेवा के बल पर पुराने दायरों को तोड ही रहा है।

(जो लोग विज्ञान और यन्त्रोद्योग का सहारा लेकर पुराने दायरों को मजबूत करने की कोशिश करते हैं उन को अनुभव हो रहा है कि विज्ञान और यन्त्रोद्योग विनाश की ओर ही ले जा सकते हैं। विज्ञान उपदेश के लिए ठहरता ही नहीं। विज्ञान कहता है कि मेरी उत्कट खोज सत्य के सूक्ष्म और सार्वभौम स्वरूप की है। उस का आदेश है 'सब दायरे काल्ग्रस्त हैं सब को छोड दो और एकता की ओर आ जाओ। अन्यथा मेरी शक्ति पक्षपातरहित सब की मदद करती हुई विनाश को ही सार्वभौम बना देगी।

विज्ञान और यन्त्रोद्योग परस्पर सहयोग करते हैं किन्तु दोनों एक नहीं हैं। विज्ञान स्वयं तटस्थभाव से सत्य की उपासना करता है। सत्य को छोड कर और किसी भी तत्त्व की तरफ ध्यान देना उसे स्वीकार नहीं है। उस की श्रद्धा

है, सत्य की शुद्ध उपासना करने वाला आदमी अगर तमाम असत्यों को छोड़ दे तो उस का अकल्याण कभी नहीं होगा। Absolute, undiluted truth need not and cannot hurt anybody यही सत्य जब समाज-विज्ञान की भाषा में बोलता है तब यह कहता है Right wrongs no man अगर हमारा आचरण पूर्णतया न्याययुक्त रहा तो हमारे द्वारा किसी का अन्याय और अहित हो ही नहीं सकेगा। आज कल के प्रयोग परायण विज्ञान ने सूक्ष्मता में प्रवेश किया है। गूढ़ शक्तियों से उस का परिचय बढ़ रहा है। उसे विश्वमांगल्य का थोड़ा साक्षात्कार होने लगा है। विज्ञान की शक्ति देखते-देखते बढ़ रही है। साथ-साथ उस को श्रद्धा इसी प्रमाण में सर्वकल्याणकारी रुप पकड़ने की तैयारी में है।

विज्ञान कैसा भी हो, तटस्थ ही रहेगा। खतरा है यन्त्रोद्योग से। क्योंकि जहाँ प्रयोग-परायण विज्ञान ज्ञानमार्गी है, शक्ति-उपासक सेवा-परायण यन्त्रोद्योग, कल्याण-अकल्याण का भेद न करते हुए अपना प्रभाव बढ़ाता जा रहा है। जहाँ विज्ञान सत्योपासक ज्ञानमार्गी है वहाँ यन्त्रोद्योग सेवा-परायण कर्ममार्गी है। यन्त्रोद्योग स्वभाव से शान्त है। वह कल्याण भी कर सकता है, विनाश भी। हम न विज्ञान का बहिष्कार कर सकते हैं, न यन्त्रोद्योग का त्याग। हमें दोनों की शक्ति विश्वात्मैक्य के उपासक अध्यात्म की सेवा में लगानी है।

इस सार्वभौम विचार के प्रचार के लिए ही विश्व-समन्वय-संघ प्रवृत्त हुआ है। जहाँ संघर्ष है वहाँ एकांगिता है। संघर्ष जिद्दी बन कर परस्पर विनाश के द्वारा एक पक्ष को विजय दिलाने की कोशिश करता आया है। विज्ञान कहता है कि वे दिन अब चले गये। अब तो संघर्ष किसी को भी विजय देखने नहीं देगा। संघर्ष सीधा ले जायेगा सर्वनाश की ओर। अब ठीक समझ लो कि संघर्ष का जमाना खत्म हो गया है। अब जीना है तो समन्वय के रास्ते अग्रसर होना ही पड़ेगा। जहाँ अन्धे लोगों की जिद समन्वय को मान्य नहीं करेगी वहाँ सत्याग्रह के रास्ते समन्वय की तैयारी करनी पड़ेगी। सत्याग्रह अहिंसा की पराकाष्ठा है। समन्वय की वह अंतिम शक्ति है। जब अहमदाबाद में किसी समय महात्माजी का सत्याग्रह पूर्णतया सफल हुआ तब गान्धीजी ने जाहिर किया कि दोनों पक्षों की जीत हुई। जब यूरोप के गोरे लोगों के नेतृत्व के दो महायुद्ध का अन्त हुआ तब मानवता ने बड़े विषाद से कहा, दोनों पक्षों की हार हो गयी है। अमेरिका और इंगलैण्ड, फ्रांस और जर्मनी, चीन और जापान किसी भी देश में विजय का उत्सव हो नहीं सका।

अब इतने भयानक अनुभव के अन्त में समन्वय-युग का प्रारम्भ करना ही

होगा। जीवन-क्रान्ति का प्रारम्भ विचार क्रांति से होता है। विचारों में कमजोरी रही तो मानवजाति को भयानक ढंग से भुगतना पड़ता है। विश्व के जीवन का प्रवाह किस तरह से बह रहा है यह देख कर जब विश्वास हो गया कि अब एक ही मार्ग है, समन्वय का, तब निश्चय हुआ कि विश्व-समन्वय की घोषणा पूरी हृदय शक्ति से करनी चाहिए। लोगों के कानों तक, मस्तिष्क तक और हृदय तक पहुँचने में देरी लगेगी ऐसी चिन्ता हम करें ही क्यों? पुराने लोग जिसे कालबल कहते थे उसी को आज हम युगबल कहते हैं। युगबल अमोघ होता है, दुर्जेय होता है। उस के खिलाफ कोई शक्ति टिक नहीं सकती।

कौरव-पाण्डवों के भारतीय युद्ध के दिनों में कुरुक्षेत्र पर भगवान् श्रीकृष्ण ने कहा था—

कालोऽस्मि लोकक्षय-कृत् प्रवृद्धः

आज वही श्रीकृष्ण समन्वय भगवान् बन कर कह रहा है—

कालोऽस्मि लोकोन्नति कृत् प्रवृद्धः

अगर हम आस्तिक हैं तो भगवान् की शांति सेना के सैनिक बन जायँ और विश्व-समन्वय के काम में पूरी शक्ति लगा दें।

(१६ अक्तूबर १९६०)



सार्वभौम गोरक्षा मिशन

मनु भगवान् की सीख के अनुसार गोरक्षा

मारपीट कर के, या लड़ाई-झगड़ा कर के गाय की रक्षा करनी चाहिए ऐसी धर्म की आज्ञा नहीं है।

ब्राह्मण अपने तप से गाय की रक्षा करे।

क्षत्रिय लोग दिलीप राजा के समान अपना बलिदान देकर गाय की रक्षा करें।

लेकिन गोरक्षा का उत्तरदायित्व धर्मशास्त्र ने वैश्यकर्म के रूप में ही बतलाया है—कृषि-गोरक्ष्य-वाणिज्य वैश्यकर्म स्वभावजम्।

आज की हालत में हम नहीं कह सकते कि वैश्य लोग ही गाय की रक्षा करें। लेकिन ऊपर के वचन का यह अर्थ होता है कि पशुओं की रक्षा वैश्य ढंग से ही करनी चाहिए। सारा समाज कुल गाय-बैलों का एक राष्ट्रीय ट्रस्ट बनावे और गायों को अपने तावे में लेकर उन का रक्षण करे। यही एक धर्म्य मार्ग है।

गोरक्षा किसी दूसरे का ही नहीं, वैश्यों का ही काम है। मनु भगवान् ने अपनी स्मृति में स्पष्ट कहा है कि जब तक वैश्य गोरक्षा करते हैं तब तक दूसरों को इस काम में नहीं पड़ना चाहिए। आज इस वचन का अर्थ यह है कि जब तक वैश्य ढंग से गोरक्षा होती है तब तक दूसरे साधन काम में लाने ही नहीं चाहिए। वैश्य के कौशल्य से ही गोरक्षा हो सकती है।

यह रहा मनु भगवान् का वचन

प्रजापतिर्हि वैश्याय सृष्ट्वा परिददे पशून्। [अ० ९ श्लो० ३२७]

विधाता ने पशुओं को पैदा कर के उन के रक्षण के लिए वैश्यों को सौंप दिया है। इस लिए वैश्य को चाहिए कि—

वार्तायां नित्ययुक्त स्यात् पशूनां चैव रक्षणे। [९, ३२६]

वह कृषि, गोरक्षा और वाणिज्य आदि अपने पेशे में हमेशा मशगूल रहे और खासकर के पशुओं की रक्षा में। अन्य प्रकार से आजीविका और धन प्राप्ति

उत्तम होती हो तो भी वश्य के लिए भोरक्षा के प्रति बेदरकार बनना उचित नहीं है और जब तक वैश्य पशु रक्षण करने के लिए तैयार है तब तक दूसरों को उस में नहीं पड़ना चाहिए ।

न च वैश्यस्य काम स्यात् न रक्षेय पशून् ' इति ।
वैश्ये चेच्छति नान्येन रक्षितव्या कथचन ॥ [९, ३२८]

(*खेती इत्यादि उत्तम कमाई होती हो तो भी*) वैश्य को 'पशुओं का रक्षण मैं नहीं करूँगा', ऐसा ख्याल नहीं करना चाहिए । उसे अवश्य पशुओं का रक्षण करना ही चाहिए और जब तक वैश्य इस कर्तव्य को पूरा करने की इच्छा रखता हो तब तक दूसरों को उस काम में नहीं पड़ना चाहिए ।

इस के बाद मनु भगवान् ने वैश्य लोगों को कौन-कौन सी विद्याएँ सीखनी चाहिए उस का महत्त्व का वर्णन किया है । आज के युग में भी ये सब विद्याएँ महत्त्व की गिनी जायेंगी । उस में पशूना परिवधनम्'—cattle breeding—पशुसंवर्धन को स्थान है । उस का अर्थ टीकाकार ने नीचे के अनुसार किया है—

अस्मिन् देशे, काले, अनेन च तृण उदक-प्रवादिना ।
पशवो वर्धन्ते अनेन क्षीयन्ते इति एतत् अभि जानीयात् ॥

पशुसंवर्धन के लिए अमुक स्थान पर, अमुक मौसम में, अमुक जाति की घास, पानी अनाज आदि अनुकूल है । उस से पशु पुष्ट बनता है, सुधरता है और बढ़ता है । उसी प्रकार अमुक हालतों में पशु दुबले बनते है, नष्ट होते है, यह सब जान लेना चाहिए ।

[२६ मई १९६१]

गोरक्षा और क़ानून

जिन के हाथ में धन नहीं होता, वे धन के बड़े भक्त होते है । मानते है, भगवान् के जैसी ही कर्तुम, अकर्तुम, अन्यथा कर्तुम सब शक्ति धन के पास भी है । उसी तरह जिन लोगो ने कानून बनाने की शक्ति का अनुभव कभी नहीं किया है और क़ानून के नाम तरह तरह के दुर्दैवी अन्यायों का अनुभव किया है वे मानते है कि कानून सब कुछ कर सकता है । वे मानते ही नहीं कि कानून की भी अपनी निश्चित मर्यादायें होती है ।

जिन के हाथों में सत्ता है और दिमाग में न्याय का शुद्ध ख्याल नहीं है वे आदेश निकाल कर उसे कानून कह सकते हैं और लोगों पर जबरदस्ती कर सकते हैं और उस का फल उन को और औरों को भुगतना पड़ता है।

क़ानून की अपेक्षा रहती है कि न्यायालय में आने वाले और बैठने वाले सब लोग सत्य ही बोलें। लेकिन क़ानून के द्वारा सारी जनता को हम सत्यवादी नहीं बना सकते।

स्वतन्त्र भारत ने क़ानून बनाया कि एक आदमी एक ही समय एक से अधिक स्त्रियों के साथ पत्नी का सम्बन्ध नहीं रख सकता। यह क़ानून ईसाइयों के लिए था ही। एक पत्नीव्रती रामचन्द्र को अवतार मानने वाले हिन्दू समाज में यह क़ानून नहीं था, हालांकि रिवाज तो क़रीब-क़रीब था ही। स्वतन्त्र भारत ने यह क़ानून बनाया। लेकिन यह क़ानून मुसलमानों पर लागू नहीं किया। इसी में हमारी न्यायबुद्धि सिद्ध होती है। मुसलमानों में कई सुधारक नेता लोग हैं जो एक पत्नी वाला क़ानून पसन्द करते हैं। लेकिन उन का बहुमत नहीं है। इस्लाम में चार पत्नियाँ तक रखने की शरीअत है। इस शरीअत के साथ कुछ शर्तें भी लगायी हैं जिन का अमल कानून से कराना मुश्किल है।

हिन्दुओं की और दूसरे लोगों की भी प्रचण्ड बहुमती के ज़ोर हम एकपत्नी क़ानून मुसलमानों पर लागू कर तो सकते थे लेकिन यह किसी एक धर्म की जमात पर औरों की जबरदस्ती हो जाती।

[कभी-कभी ऐसी जबरदस्ती करने के प्रसंग खड़े हो सकते हैं, लेकिन खूब सोच विचार कर के ही वैसा करना पड़ता है। सती की प्रथा जब हम लोगों ने बन्द करवायी तब उस के पक्ष में बहुमत है या नहीं, सोचने-पूछने हम नहीं बैठे।]

कानून से गोरक्षा—गायों की हत्या-बन्द करवाने की बात दूसरे एक व्यापक जीवहत्या या पशुहत्या बन्द करवाने के प्रश्न के अन्दर आ जाती है।

मेरे जैसे चन्द लोग मानते हैं कि पशु आदि प्राणियों को आहार के लिए या शिकार लिए मारने का मनुष्य का कोई अधिकार नहीं। वह तो निरा पाप है। हम लोग मानते हैं कि हिंस्र पशु-पक्षियों को और नुकसानदेह जन्तुओं को मारने में पाप नहीं है। मनुष्य ने ही यह तय किया है। पशुपक्षी और जन्तुओं से किसी ने पूछा नहीं है उन की राय भी नहीं ली है। मनुष्य अपनी ही अवि

कसित या अल्पविकसित धर्मबुद्धि के अनुसार पाप-पुण्य के बारे में तय कर लेता है।

आजकल के मनुष्य ने तय किया है कि हिंस्र, जहरीले और नुकसानदेह पशु-पक्षियों को और जन्तुओं को मारने का मनुष्य को अधिकार हो है। किन्तु अपने आहार के लिए मनुष्य पशु-पक्षियों का और जलचरों को मारता है और उस में जो पाप रहा है वह देख नहीं सकता।

हिन्दुओं में भी पशु-पक्षियों को और मुरगी-मछलियों को मार कर खाने का रिवाज अधिकांश लोगों में है। गाय-बैल को छोड़ कर बाकी के प्राणियों को मारने में किसी को एतराज नहीं है यानी इस बारे में कानून करने की बात कोई सोचता नहीं, सुझाता नहीं।

ऐसी हालत में प्राणियों को मारने की इजाजत रहे और सिर्फ गाय-बैल को, एक ही पशु को मारने की इजाजत न रहे यह अन्य धर्मियों के ऊपर हम बायस्त नहीं लाद सकते।

हिन्दू धर्म की आज्ञा है हिन्दू लोगों का रिवाज है हिन्दू मानस की तीव्र भावना है इस वास्ते गैरहिन्दू भी गाय-बैल को न मारें ऐसा कानून हम नहीं बना सकते। अपील तो जरूर कर सकते हैं। खिलाफत के दिनों में गान्धीजी ने बड़ी ही खूबी से मुसलमानों को ऐसी अपील की थी और उन दिनों उस का असर भी अच्छा हुआ था।

धर्म की दृष्टि से नहीं हिन्दू भावना की दृष्टि से भी नहीं किन्तु भारत की परिस्थिति देखते व्यवहार की दृष्टि से दूध देने वाली गायों की और खेती में काम आने वाले बैलों की हत्या बन्द करने का कानून हम अवश्य बना सकते। उस के बारे में व्यवहार की क्या-क्या कठिनाइयाँ हैं—यह सोचना पड़ेगा। यह एक व्यवहार की बात हुई। जिन की हम दिन रात कौनसी सेवाएँ लेते हैं वे प्राणी हमारे लिए अवध्य हैं। वे तो हमारे व्यापक परिवार के सदस्य बन चुके। यह दृष्टि जब मुसलमान ईसाई आदि सब लोग स्वीकार करेंगे तब गोरक्षा का कानून बनाना आसान होगा। तब तक हमें अपनी गोभक्ति (जो आजकल कहीं दीख नहीं पड़ती है) और कम से कम गो दया बढ़ानी होगी। सेवा के द्वारा, तपस्या के द्वारा ही यह हो सकता है।

किसी समय हमारे हिन्दू और ब्राह्मण भी गो भक्षक थे इस बात को बार बार दोहराने में हमें आनन्द नहीं आता। गो भक्तों की तपस्या से ही हिन्दू धर्म में गाय को अभयदान दिया गया। वही हमारी धर्मबुद्धि, हमारी तपस्या के द्वारा औरों तक पहुंच जायगी, तभी गोरक्षा की बात करने का हमारा अधिकार

होगा। गाय को बचाने के लिए मनुष्य के साथ मारकाट चलाना अधम ही है। इस तरह से हम गाय के प्रति भक्तिभाव या कृतज्ञता उत्पन्न नहीं कर सकेंगे।

जीव दया की प्रवृत्ति भी आज कानून से इतना ही माँग सकती है कि पशुओं को आहार के लिए या शिकार के लिए मारते समय उन की मानसिक और शारीरिक वेदना कम से कम की जाय। मानवीय संस्कृति इस से आगे बढ़ी नहीं है यह दुर्दैव की बात है। लेकिन झगड़ा करने से, लोगों को गालियां देने से और जोरशोर से व्याख्यान देने के लिए जीभ या क़लम चलाने से कुछ होने वाला नहीं है। तपस्या के द्वारा ही सिद्धि मिल सकती है। हमारे ऋषि मुनियों ने इस चीज़ को अनुभव कर के ही स्पष्ट कहा है—

यद्दुस्तरं यद्दुरापं यद्दुर्गं यच्च दुष्करम्।
सर्वं तत् तपसा साध्यं तपो हि दुरतिक्रमम्॥

जो कुछ भी संकट तर जाना मुश्किल हो, जो कुछ भी पाना मुश्किल हो, जहां पहुँचना, या जो करना मुश्किल हो वह सब तपस्या के द्वारा ही साध्य होता है। तप के सामर्थ्य को टालना किसी के वश की बात नहीं, तप किसी भी संकट से हारा हुआ नहीं है।

(२६ मई १९५६)

गाय के सवाल का राष्ट्रीय हल

गोरक्षा भारतीय संस्कृति का सनातन प्रश्न है। वेदकाल से ले कर हमारे पुरखों ने इस का चिन्तन किया है। गाय का मांस, गाय का दूध और उस से बनने वाले पदार्थ और खेती आदि के लिए गाय के वंश की सेवा, इन सब बातों का चिन्तन करते हमारे पूर्वज कभी थके नहीं है। पशु-पक्षियों के बीच रहने वाले मनुष्य ने गाय, घोड़ा, गधा, ऊँट, हाथी, भैंस हिरन बिल्ली कुत्ता, भेड़, बकरी, मोर मैना, तोता, कोयल आदि अनेक प्राणियों को उन की जंगली हालत से मुक्त कर के मनुष्य के आश्रित बनाया। लेकिन सब से अधिक चिन्तन किया है गाय का ही। गाय की रक्षा के लिए हमारे ऋषियों ने अपने प्राण भी अर्पण किये हैं। ब्राह्मण, वैश्य आदि अन्य वर्णों ने गोपालन के लिए असाधारण उत्साह दिखाया है।

फिर तो हम कह नहीं सकते कि हमारे देश के इतिहास में कभी भी ऐसा

समय था जब कि हम ने गाय के सवाल का संतोषकारक हल कार्यान्वित किया हो। गाय के प्रति हम ने असाधारण भक्तिभाव बढाया। उसे माता कहा, देवता कहा, उस के नाम से स्वर्ग में गो लोक की स्थापना की, तो भी गाय का सवाल अभी तक हल नही हुआ है। घर घर में गाय रखना, गाय के दूध से भगवान का अभिषेक करना, गाय के घी के बिना अन्न शुद्ध नही होता ऐसे ऐसे रिवाज उत्साह के साथ हम ने प्रचलित किये।

इस के बाद किसी शुभ-क्षण गोरक्षा के हेतु गोशालाएँ या पिंजरापोल स्थापित करने का खयाल लोगों को हुआ। जब सब लोग अपने अपने स्वार्थ में डूबे हुए थे, चन्द परोपकारी सज्जनों ने अपनी अपनी गायों की रक्षा करने की सोची और गोरक्षण संस्थाएँ जगह जगह स्थापित हुई। इन संस्थाओं का विचार केवल गायों की रक्षा का ही था। इस के लिए दयालु लोगों से धन इकट्ठा किया जाता था और लँगडी, लूली दुबली गायों का पोषण होता था।

सब से पहली बार गान्धीजी ने सुझाया कि अच्छी गायें रख कर लोगों को गाय का दूध देने का प्रबन्ध किया जाय और उसी के मुनाफे में से बुड्ढी असहाय गायों का पालन भी किया जाय। गोरक्षणी संस्थाओं को एक नई दिशा मिल गयी और गोरक्षा की प्रवृत्ति में व्यवहार और अर्थशास्त्र ने प्रवेश किया। गाय को मार कर खाने वाले लोगों से लडते रहना और उन के हाथ में पहुँची हुई गायों को खरीद कर या किसी तरह से छुडवाना यह जो विचार जोर पकड रहा था उस की जगह अब गाय कसाई के हाथ में जा ही न सके, ऐसा आर्थिक ढग का स्वावलम्बी प्रयोग आजमाया गया और गोरक्षणी संस्थाओं का रूपान्तर अच्छे दुग्धालयों में होने लगा।

गान्धीजी का दूसरा सुझाव था कि गाय जैसे जानवरों के मर जाने के बाद उन की हड्डी, चमडे, सींग, खुर आदि सब चीजों का व्यवहार के लिये उपयोग किया जाय। उन के लिए जो कारखाने खुलेंगे या उन की तिजारत चलेगी वह गोरक्षा में विश्वास मानने वाले के हाथ में आ जाय और सारा मुनाफा गोवंश के हित में खर्च किया जाय। अहिंसक चमडे या मृतचर्म की वस्तुएं खास पसन्द करने की ओर भी लोगों का ध्यान गान्धीजी ने खींचा। और इस तरह से गाय के सवाल का हल बडे पैमाने पर और वैज्ञानिक ढग से किस तरह से किया जाय यह भी सुझाया।

अब इस सवाल को एक कदम आगे ले जाना जरूरी है। गोरक्षा का सवाल जितना जीवदया का है उतना ही हमारे बच्चों के दुग्धाहार का भी। और खेती के उत्कर्ष की दृष्टि से भी गोरक्षा की बात सोची जा सकती है। इस लिए

भारत में अब गोवंश के संवर्धन का प्रश्न—बच्चों को अच्छा दूध मिले और अस्पतालों में मरीजों को भी अच्छा दूध मिले, इस लिए गोवंश संवर्धन और दुग्धालय का सारा काम राष्ट्रीय पैमाने पर नगर-पालिकाओं के द्वारा करना चाहिए। जिस तरह हर एक शहर में रास्ते बनाने की व्यवस्था, रात को रास्ते पर दिये जलाने का प्रबंध, रास्तों पर पानी छिड़कने का काम नगर-पालिकाओं के द्वारा होता है नगर-पालिकाएं ही बच्चों के लिए पाठशालाएँ चलाती हैं, दवाखाना जैसी आरोग्य संस्थाएँ चलायी जाती हैं, उसी तरह गोवंश-संवर्धन का काम, दुग्धालय और चर्मालय चलाने का काम नगरपालिकाओं के द्वारा ही चलना चाहिए। गाँवों में और किसानों के घर भले ही गाय रखी जाय। शहरों में (और छोटे छोटे कस्बों में भी) गाय रखना दिन-पर दिन अशक्य प्राय होता जाता है। इस लिए अब गाय का सवाल और दूध का सवाल हल करने के लिए विशेष मन्त्री की नियुक्ति हो जाय तो आदर्श आहार, आरोग्यरक्षा, सामाजिक कर्तव्य और खेती आदि सब दृष्टि से हम इस सवाल को वैज्ञानिक ढंग से हल कर सकेंगे। और उस में अगर जीवदया का तत्त्व भी चरितार्थ हो गया तो मनुष्य जाति के लिए एक नया रास्ता दिखाने का श्रेय भारत को मिलेगा। यह काम भारत में ही शुरू हो सकता है।

(११ फरवरी १९६०)

प्रश्न क्या है और उस का हल क्या ?

गाय की ओर से होने वाली मानव की सेवा और गाय की दयनीय स्थिति दोनों को देख कर गांधीजी ने गाय को 'करुणा का काव्य' कहा था—A Poem of Pity। गाय को बचाना और उसे सेवायोग्य बनाना यह काम केवल हिन्दुओं का नहीं, सारे देश का है। इस बात को जितने आग्रह से गांधीजी ने देश के सामने रखा उतना शायद इस के पहले किसी ने नहीं रखा था।

गांधीजी ने कहा कि भारतीय आदर्शों के अनुरूप अर्थशास्त्र बनाया जाय तो मनुष्य को स्पष्ट होगा कि गाय को बचाये बिना न हम अपने बाल-बच्चों को बचा सकते हैं न हमारी संस्कृति टिक सकती है।

गाय को बचाने में हमारी मानवता की रक्षा है। यह बात भारत छोड़ कर दूसरे किसी भी राष्ट्र ने या संस्कृति ने मान्य नहीं रखी।

गाय की परवरिश करो, उसे खिलाओ पिलाओ, अधिकाधिक दूध निकालो और जब गाय इस काम के लिए योग्य साबित नही होगी तब उसे मार कर खा जाओ, यही ह बाकी की सब दुनिया की व्यवहार दृष्टि। पश्चिम के देशो में गायो की सख्या हिंदुस्तान के समान नही ह। लेकिन जो गायें रहती ह, अच्छी परिपुष्ट होती ह। हम कल्पना हो नही कर सकते, इतना दूध देती ह। यह बात सही ह कि वहाँ के लोग गायो की उतनी ही सख्या रखते ह जितनी उन के काम की होती ह। गाय का दूध और गाय का मास दोनों को वे पेट में पहुँचा देते ह इसलिए उन के लिए गौ का कोई सवाल ही नही।

हमारे देश में हमारी सस्कृति ने सोचा कि जब गाय दूध देती ह, बछड देती है, इन बछडो म से अच्छे बल बना कर उन को हम खेती आदि के काम में लेते ह। बल की मदद से हम अन्न धान्य मिलता ह कपडे के लिए रुई मिलती है। बैल की मदद से मोट चला कर कुए का पानी हम बाहर निकालते ह और शाक-पान, फल फूल सब कुछ उगा सकते ह और हजारो बरस तक अनाज, नमक और हर तरह का माल देश के एक सिर से दूसरे सिर तक ले जाने का काम भी हम बलो की ही मदद से करते थे। सारा माल या तो बलो की पीठ पर लाद कर या बल गाडी में भर कर हम ले जाते थे। खेती का काम और माल ढोने का काम दोनो कामों के कारण बल को सारे साल बारह मास काम मिलता था। इस वास्ते बैल को कोई मारता नही था। अब यह हालत बदल गयी ह। तो भी गाय और बल की उपयोगिता बढाने की जिम्मवारी हमारे सिर पर ह। इस जिम्मेवारी का स्वीकार भारत के सब लोग करत ह।

अब एसे उपयोगी जानवर को हम अपन परिवार का सदस्य समझें और उस के वद्ध होन पर उसे मार डालने के बजाय उसे जीन द। उस से कोई काम ले सकते ह तो ले लें। यही ह हमारी सस्कृति का सुझाव। जिस तरह की सेवा हम गाय बल से लेत ह उसे सोचते मनुष्य का कतव्य होता ह कि वह गाय को मार नही।

जिन दिना हमारे देश म गोमेध यज्ञ होते थ और ब्राह्मण भी बैलो को खा जाते थे तब भी वदो में लिखा था कि गाय को नही मारना चाहिए वह अघ्न्या ह। कृषि और वाणिज्य दोनो के लिए गाय बल काम में आन स दोनो को बचाना कठिन काम न था। गोवश की उपयोगिता इतनी अधिक थी कि वृद्ध अवस्था में अपने बडो के समान उन्हें पालना-पोसना कठिन काम नही था। 'गोमास का स्वाद छोड दिया और गाय बच गयी इतना सीधा था उपाय उन दिना में।

लेकिन अब गाय की जगह दूध देने के लिए भस भी आ गयी और उस के

दूध में चरबी का याने घी का प्रमाण ज्यादा मिलने लगा इस वास्ते लोग गाय को छोड कर भैंस को पालने लगे। तब से गाय का जीवन खतरे में आ पड़ा। दूध देने के साथ अगर खेती के लिए और वाणिज्य के लिए भैंस और उस के बच्चे काम में आते तो गाय को छोड कर हम भैंस को और पाडे को ही अपने जीवन-साथी बना लेते और उन को न मारने का धर्म हम स्वयं पालन करते और दुनिया को समझाते। लेकिन बैल का जितना उपयोग है उतना पाडे का नही है। गाय जितना उपयोगी जानवर है उतनी भैंस नही है। अब अगर हम दूध देने वाले जानवरों का कृतज्ञतापूर्वक बचाने का धर्म छोड दें तो कोई सवाल ही नहीं रहता। चाहे जितने जानवर रखे, उन से लाभ उठाया और लाभ कम होने पर उन को धोखा दिया। हम रक्षक भी बनें और भक्षक भी। तो फिर सवाल कौन-सा रहा? मनुष्य सर्वत्र यह काम करता ही आया है। लेकिन ऐसी कृतघ्नता से बचने का उपाय ढूंढना, यही है हमारी संस्कृति की माँग।

कहते है कि आज की प्रतिकूल हालत में भी गाय की अस्सी टका उपयोगिता सिद्ध है। तो केवल बीस टके के बोझ के लिए हम कृतघ्न और घातक क्या बनें? यही सवाल हमारे सामने है। अर्थशास्त्र व जीवन शास्त्र की मदद से हम उपाय ढूंढें। सारी दुनिया के लोग गाय, भैंस आदि जानवरो को मार कर खा जाते ही है। गोरक्षा के लिए सारी मनुष्यजाति के साथ हम विश्वयुद्ध नही चला सकते। गोरक्षा का काम सांस्कृतिक काम है अर्थशास्त्र और धर्मशास्त्र दोनों की पूरी मदद से ही हम इस में कामयाब हो सकते है।

हो सकता है कि भारत में ही गोरक्षा में विश्वास रखने वाले लोगो की संख्या ज्यादा है। लेकिन सारी दुनिया में तो हम अल्प-संरक्षक ही है। भारत में भी जब तक मांसाहार प्रचलित है तब तक मांसाहारी लोगो को हम आदेश नही दे सकते कि दूसरे जानवरों का मांस तुम खा सकते हो, गाय का नही। हिन्दूधर्म का नाम आगे कर के अगर हम औरों को नसीहत देने जायँ तो हम कामयाब नहीं हो सकते। केवल मानवता की दृष्टि का प्रचार कर के और गाय-बैल की उपयोगिता हर तरह से बढा कर के ही हम गाय को बचा सकते है। गाय को मारने वाले लोगों को कानून से रोकने का प्रयत्न करने के बजाय हम गाय की उपयोगिता बढाने के लिए सरकार की मदद लें तो वह अच्छा रास्ता होगा। भारत के बच्चो को दूध चाहिए अनाज और कपास उगाने के लिए बैल की सेवा ज़रूरी है इस बात में कोई दो मत नही हो सकते। तो इसी को लेकर हमें आगे बढ़ना है। धार्मिक झगडे में पड कर हम यह काम नही कर सकते।

एक बात स्पष्ट है कि दुनिया में, और हमारे देश में भी, छोटे छोटे मोटे प्रदेश

है जहाँ बारिश बहुत होने के कारण और आबोहवा भी प्रतिकूल होने के कारण गाय वहाँ पनप नहीं सकती। ऐसे स्थानों का पता लगा कर और उस की हद मर्यादा निश्चित कर हम जाहिर कर सकते हैं कि इतने क्षेत्र में गायों की जगह भैंसों को ही रखा जाय।

जहाँ गाय ही अच्छी तरह रह सकती है और भैंस को आबोहवा भी अनुकूल नहीं है ऐसी जगह गाय को ही रखा जाय, भैंस को वहाँ से हटाया जाय। दोनों जगह जीवदया और स्वार्थ कहता है कि दोनों जानवर एकत्र रखने में हम नाहक की कठिनाई पैदा करते हैं।

अब यात्री के देश में जहाँ भैंस गाय को हटा रही है वहाँ गाय को ही रख कर उसे जीवित-दान देने के लिए जितनी मदद की आवश्यकता हो उतनी देने की कोशिश की जाय। गाय की रक्षा के लिए और गाय का दूध सस्ता करने के लिए अगर भैंस का कुछ उपयोग हो सकता हो तो अवश्य करें। गाय को मारने के लिए नहीं, किंतु उसे बचाने के लिए अगर भैंस की मदद हो सकती हो तो उतनी ले सकते हैं।

यह काम व्यक्ति की दीर्घदृष्टि पर न छोड़ कर अगर हम सरकार, नगरपालिका, पिंजरापोल आदि समर्थ संस्थाओं द्वारा काम करें तो इस सवाल का हल हो जायगा और बाद में हम सारी दुनिया को भी इस धर्म का उपदेश कर सकते हैं। (सारी दुनिया यानि दुनिया का वह हिस्सा जहाँ गाय पनप सकती है।)

और दुनिया में ऐसे भी लोग हैं जो मांसाहार का त्याग करना चाहते हैं। उन को भी हम समझा सकते हैं कि दूध, घी, पनीर आदि गोरस का व्यवहार बढ़ाने से ही मांसाहार का त्याग हो सकता है। जो लोग मांसाहार छोड़ने को तैयार हुए हैं वे लोग गाय का महत्त्व आसानी से समझ सकेंगे। हम गाय की रक्षा करनी है लेकिन वह सफलता प्राप्त करने के ढंग से ही। केवल हिंदू धर्म और हिंदू समाज के बल पर नहीं, किंतु मानवता के प्रचार के द्वारा यह काम हो सकता है। जो लोग मानवता में विश्वास रखते हैं वे नास्तिक न बनें। गोरक्षा का धर्म हिंदुस्तान के बाहर भी फैलाना है। उस के तरीकों को, हम धर्मांध बन कर खतरे में न डालें। गाय को बचाना ही है। बचाने के ढंग से ही वह बचेगी। इस के लिए हम धर्माभिमानी नहीं किन्तु हमारी धार्मिकता बढ़ावें। सच्ची धार्मिकता प्रसरणशील होती है। यह काम आस्तिकता से ही हो सकता है।

(१ अगस्त १९६०)

युगानुकूल हिन्दू जीवन दृष्टि

गोसेवा के लिए—चाहिए एक योजना आयोग

अहिंसा किसी धर्म पन्थ की केवल आचार-संहिता का एक अंग नहीं है। अहिंसा वृत्ति मानवव्यापी विराट जीवन-संस्कृति की बुनियाद है। बुनियाद न कहते हुए धरातल कहूँगा। बुनियाद मकानों को मीनारों की और किले की होती है। संस्कृति कोई मकान नहीं होती। संस्कृति तो मानव निर्मित और प्रयोजनपूर्ण उपवन के समान होती है, जिस का धरातल केवल आधारशिला का काम नहीं करता किन्तु असंख्य वृक्ष वनस्पतियों की जड़ों के लिए पोषण देने का भी कार्य करता है। अहिंसा भविष्य की समस्त मानव-संस्कृति का चैतन्यपूर्ण धरातल ही है।

मानव जाति को अहिंसा की प्रेरणा अन्यान्य धर्मों से मिली। मानव-जीवन के प्रयोजन का साक्षात्कार जिस धर्म को जितना हुआ, उसी के अनुपात में उस ने अहिंसा को सम्मानित किया है।

असंख्य जमाना के अनुभव से हम कह सकते हैं कि संयम और अहिंसा ही धर्मजीवन का सारसर्वस्व है।

अहिंसा का प्रारम्भ कौटुम्बिक जीवन से अपनी-अपनी जाति अथवा जमात से होता है। आगे जाकर वह गांव या स्थानिक समाज तक फलती है। जितने लोगों का जीवन परस्पर ओत प्रोत होता है और जिन लोगों के परस्पर सहयोग के द्वारा सारे समुदाय का जीवन सुरभित, सहूलियतपूर्ण और समृद्ध होता है, उन का एक समाज बनता है। इसीलिए हम कहते हैं कि मानवीय सामाजिक जीवन की बुनियाद अहिंसा है। वैरभाव या शत्रुता टाल कर जहाँ मैत्री भावना का उदय होता है और एक दूसरे के उत्कर्ष में मददगार होने से प्रसन्नता का अनुभव होता है वहाँ अहिंसा स्थापित हुई अथवा सिद्ध हुई।

मनुष्य जाति का जीवन समस्त जीव सृष्टि के साथ घुलामिला तो है, किन्तु वहाँ पर अधिकांश तो भक्ष्य भक्षक का सम्बन्ध पाया जाता है। हम वनस्पति को—शाक, फल और अनाज को चाहते हैं उन की पैदाइश बढ़ाते हैं लेकिन अधिकांश विराट मानव जाति पशु-पक्षियों को और मछलियाँ आदि जलचरों को, खुराक की दृष्टि से ही देखती है। इसलिए तो कहा गया है 'जीवो जीवस्य जीवनम्।' वनस्पति आदि उद्भिज जीवसृष्टि और जलचर, भूचर, खेचर आदि

प्राणी-सृष्टि में से अपना आहार ढूँढ लेना यही है जीव सृष्टि का सामान्य नियम। जीवो जीवस्य जीवनम् के मानी हैं—हरएक जीव जीने के लिए दूसरे जीवों पर ही निर्भर रहता है। जीवों का जीवनसाधन (भक्ष्य) जीव ही है।

यह हो गया कुदरत का प्रकृतिधर्म। लेकिन मनुष्य के लिए ऐसे प्राकृतिक धर्म से श्रेष्ठ आत्मिक या आध्यात्मिक धर्म है। यह धर्म कहता है कि जीवों को भक्ष्य बना कर जीना भले स्वाभाविक हो इस में मनुष्य-जीवन की कृतार्थता नहीं है। मनुष्य को जीवों पर नहीं जीवों के लिए' जीना है। इसलिए मनुष्य को चाहिए कि वह अपने जीवन में से हिंसा की मात्रा जैसे हो सके क्रमशः कम करता जाय।

इस मानवीय जीवन धर्म के अनुसार मनुष्य ने प्रथम छोड़ दिया मनुष्य का मांस खाना। मनुष्य का मांस खाने वाले लोगों को अंगरेजी में कहते हैं Cannibals अथवा Anthropophagus संस्कृत में कहते हैं नरभुक् क्रव्याद अथवा मनुष्य भोजी। मनुष्य को मार कर उस का मांस खाने वाले लोग दुनिया में सब जगह पर थे। धीरे धीरे यह रिवाज बन्द हो गया। अफ्रिका में आज भी मनुष्य मांस खानेवाले लोग पाये जाते हैं। संकट के समय और युद्ध के दिनों में आज भी मनुष्य चोरी से मनुष्य का मांस खाता है। रिवाज अभी पूरा नामशेष नहीं हुआ है तो भी हम कह सकते हैं कि यह रिवाज करीब नामशेष हुआ है। इस के बाद पशु पक्षियों का मांस छोड़ने की बात आयी। चन्द लोगों ने सोचा कि पशु और पक्षी हमारे ही जैसे हवा में साँस लेकर जीते हैं। (प्राण शब्द में 'अन' धातु है। उस का अर्थ होता है साँस लेना।) इसीलिए उन को प्राणी कहते हैं। पानी में रहने वाली मछलियाँ हवा की साँस नहीं लेती। इसलिए उन को प्राणी-वर्ग में न रख कर उन को खाने में हर्जा नहीं ऐसा चन्द लोगों ने सोचा। इन्होंने पशु पक्षी का मांस छोड़ा इतने दरजे आहार के क्षेत्र में अहिंसा की प्रगति हुई।

आज के शाकाहारी भारतवासी पशुपक्षी का मांस नहीं खाते मछलियाँ भी नहीं खाते और मुर्गी आदि जानवरों के अण्डे भी नहीं खाते। अनाज, शाक, फलफूल और कंदमूल तथा दूध और दूध से बनने वाले पदार्थ खाकर ही जीते हैं। इन में अब पश्चिम के शाकाहारी लोगों की दलीलें सुन कर यहाँ के चन्द शाकाहारी अण्डे खाने लगे हैं। और उन का पंथ बढ़ रहा है। पश्चिम के शाकाहारी जहाँ अण्डे खाते हैं वहाँ दूध नहीं पीते। तमाम गोरस को मांसाहार शुमार कर के वे उसे नहीं खाते। उन की देखादेखी हमारे लोग दूध छोड़ेंगे ऐसी अपेक्षा थी लेकिन शायद ही ऐसे कोई भारतीय शाकाहारी हों जिस ने दूध छोड़ा होगा।

जीवदया में प्राणियों को न मारने की बात आती है। उन का पालन-पोषण करने की जिम्मेवारी मनुष्य ने न अपने न सिर पर ली ह, न ले सकता है। चन्द लोग तोता, तीतर आदि थोडे पक्षियो का पालन करते हैं। हिरन, खरगोश आदि पशुओ का भी वैसा ही पालन करते हैं लेकिन वह शौक के लिए है, धर्म के खयाल से नही।

स्वार्थ के लिए मनुष्य ने पालन-पोषण शुरू किया गाय-बैल का, भैंस और पाडा (भैंसा) का, घोडे का और गधे का। इसी फेहरिस्त में हम ऊँट और हाथी को भी डाल सकते हैं। उत्तर ध्रुव की ओर गाडी खीचने के लिए वहाँ के लोग हिरनों का और कुत्तों का भी उपयोग करते हैं।

इन प्राणियो में भारत में अधिक से अधिक उपयोग होता है गाय-बैल का। गाय के दूध के बिना, हमारा और हमारे बच्चो का काम नही चलेगा। और बैल के बिना खेती हो नही सकती, इसलिए गाय-बैल, दोनो को भारतीयो ने अपने परिवार का सदस्य गिना।

इन में बैल को अभयदान देना, हत्या से मुक्त रखना आसान था। क्योंकि बैल की सेवा हम बारहों महीने अखण्ड ले सकते हैं। खेती के काम में हल चलाने में, पानी खींचने में, तेल और गन्ने का कोल्हू चलाने में और मनुष्य की और माल की यातायात के लिए गाडी चलाने में बैल का उपयोग होने से बैल को मारने को कोई सोचता ही नहीं। गाय का ऐसा नही है। गाय का उपयोग सिर्फ़ उस के दूध के लिए और उस के गोबर का उपयोग खाद के लिए होता ह। जब गाय दूध नही देती है तब उस को खिलाना पिलाना मनुष्य के लिए आसान नही है। यह देख कर हमारे समाजशास्त्री, धर्मकारो ने आज्ञा की कि गाय को कभी भी मारना नही चाहिए। वैश्य (किसान और बनिया) अपने मुनाफ़े में से गाय को बचावे। इस कर्तव्य का इनकार उन्हें कभी भी नही करना चाहिए। गौ रक्षा हिंदूधर्म की विशेषता ह और उस में मानवधर्म का विकास पाया जाता ह।

मनुष्य की खेती बढी, लोक-संख्या बढ़ी, गाय का दूध बढ़ाने की तरकीबें भारतीयों ने पूरी ढूँढ़ी नही। लेकिन उन्होने गाय की मदद में भैंस को लिया। उस का दूध ज्यादा, उस में मक्खन की मात्रा अधिक, और उस जानवर की हिफ़ाजत करने की तकलीफ़ गाय से कम। यह सब देख कर भारत के किसानो ने और ग्वालो ने गौ-पालन में भैंस को भी अन्तर्गत किया। लेकिन हमारे अहिंसक धर्मशास्त्र में भैंस को बिठाना नामुमकिन था। खेती का काम जैसा बैल कर सकता ह वैसा भैंसा नही कर सकता। उस से गर्मी बरदाश्त नही हो सकती। किसानों ने तय किया कि हम गाय को तो रखेंगे, भैंस को भी रखेंगे लेकिन उस

के नर बच्चों को बचपन में ही मार डालेंगे। हमारे जैनियों ने इस कठोर हत्या का विचार नहीं किया। (विचार करने का काम पुराने आचार्यों का। उन के सामने भैंस नहीं थी।) आखिरकार गांधीजी के मन में भैंस का विचार आया। खूब सोचने के बाद गांधीजी ने तय किया कि गाय और भैंस दोनों के वंश का रक्षण हम से कभी नहीं हो सकेगा। इस लिए हम न तो भैंस की सेवा लें, न उस के रक्षण का भार उठावें। वह जंगल का जानवर है। दूसरे जानवरों का जो होता है वही उस का होगा। गांधीजी के गोरक्षा के कार्यक्रम में भैंस के दूध का बहिष्कार आ गया।

गांधीजी के सब कार्यक्रमों में आर्थिक दृष्टि भी होती थी। गाय-बैल की नस्ल सुधारना, गाय का दूध बढ़े, बछड़े देने की गाय की आयु मर्यादा बढ़े, गाय की मृत्यु के बाद उस की हड्डियाँ, उस के सिर, खुर और चमड़े से हम अधिक से अधिक लाभ उठावें, मरी हुई गाय के मांस की हम खाद बनावें इत्यादि सब ढंगों से गोपालन का बोझा कम से कम हो जाय यह है गांधीजी की गोपालन प्रवृत्ति का रहस्य। बैल के बारे में उन को चिंता नहीं थी। क्योंकि उस की सेवा सतत और लाभदायी होने से उस की हत्या का खतरा नहीं था।

लेकिन अब बैल के जीवन को भी बड़ा खतरा पैदा हुआ है। मनुष्य के धर्म विमुख स्वार्थ ने, यंत्रोद्योग और विज्ञान में असाधारण प्रगति की है। अब खेती के सब तरह के कामों के लिए बैल की उपयोगिता कम हो रही है। यंत्रों के द्वारा ही ऐसा काम बहुत जल्दी व्यवस्थित ढंग से और कम खर्च में होने लगा है। मनुष्य के और माल के यातायात के लिए भी बसों या ट्रकों का उपयोग राष्ट्रीय पैमाने पर हो रहा है। अब बैल की कीमत कम हुई। बैल का पालन महँगा हुआ। और अब तो बैल की हालत गाय से भी बदतर हो रही है।

पश्चिम के लोग और हमारे वैज्ञानिक पशुपालन विद्या प्रवीण कहते हैं कि गाय और बैल का उपयोग तो हमेशा है ही लेकिन अहिंसा की बात आप को छोड़नी होगी। गाय-बैल को अपने परिवार का सदस्य मानने की भावना छोड़ दीजिए। केले के पेड़ जब फल नहीं देते, तब आप उन्हें तोड़ कर काम में लेते हैं। उसी तरह जानवरों का भी है। आर्थिक लाभ के लिए नहीं किन्तु दयाधर्म से आप बूढ़े और रोगग्रस्त कुत्तों को आजकल मार डालते हैं। जिस कुत्ते को आप ने करीब-करीब अपना जीवन साथी बनाया था उस का दर्द दूर करने के लिए आप उसे मृत्यु दान देते हैं। बूढ़े घोड़ों के लिए भी मृत्युदान का ही मार्ग अच्छा माना जाता है। तो गाय-बैल के लिए भी वही नियम आप क्यों नहीं सोचते हैं?

गोरे लोग तो कहते ही ह कि 'गाय के बारे में आप के मन में जो अनोखी नाजुक भावना ह उस का ख्याल कर के हम कुछ बोलते नही। लेकिन थोडे ही दिनो में आप स्वय ही अनुभव करेंगे कि गाय को हत्या से बचाना और साथ साथ खेती को भी बचाना आप के लिए नामुमकिन है। लोकसख्या बढती ह, यन्त्रोद्योग बढते ह, रासायनिक खाद आप को दसगुना लाभदायी ह। ऐसी हालत में कम स कम मासाहारी लोग तो गाय-बैल का उपयोग दूध, मजदूरी, मास और चमडे और हड्डियों के लिए ही करे। फिर तो गाय का आर्थिक बोझ आप पर नही रहेगा। गाय और बैल दोनो को आप अच्छी तरह से खिला पिला सकेंगे। मच्छरो के उपद्रव से उन्हें बचाने का और उन को सुखी बनाने का वैज्ञानिक प्रबध आप कर सकेंगे और उन के मास का अगर आप परहेज नही रखेंगे तो आप की आहार-समस्या भी कुछ हद तक आसान होगी।

जो बात अँगरेज जाहिरा तौर पर नही करते थे, वही अब हमारे लोग भी करने लगे ह और सब दलीलें जोरों से हमारे सामने पेश कर के पूछते हैं कि इस का जवाब आप के पास क्या ह ?

बात स्पष्ट ह। गाय को और बैल को हत्या से बचाना मुश्किल है। और यह भी स्पष्ट ह कि गाय और बैल के बिना हमारा, हमार बच्चों का और हमारी खेती का काम नही चलेगा।

अगर हम अपनी परम्परागत सस्कृति का और उस के अहिंसातत्त्व को नयी परिस्थिति में नये ढग से जिलाना चाहते हैं तो इरादापूर्वक और हिम्मतपूर्वक सारी परिस्थिति को ही बदलने की तयारी करनी चाहिए। "परिस्थिति बदलना अशक्य ह। काल ही बलवान है" ऐसा कह कर अगर पश्चिम के सस्कार और पश्चिम का नेतृत्व मजूर करना है, यन्त्रोद्योग और स्वार्थ-परायण विज्ञान के आदेश को शिरोधार्य बनाना ह तो युरप-अमेरिका की सूचना ही मजूर करनी होगी, उसे मुँह से जाहिरा तौर पर क़बूल करें या न करे। और अगर जिस अहिंसा-सस्कृति के रक्षण का और विकास का भार इतिहास विधाता ने हमारे सिर पर विश्वासपूर्वक सौंपा ह, उस को स्वीकार करना ह तो इस बहुधर्मी, बहुवशी देश में परिस्थिति पर विजय पाने क लिए हम क्या कर सकते हैं। इस की मनमानी सूचनाएँ प्रकाशित करने की अपेक्षा सस्कृति-सवर्धन के नताओ की ओर से एक प्लानिंग कमिशन—योजना आयोग, नियुक्त करना होगा। और पाच, दस और पचास वर्ष तक राष्ट्र को क्या करना चाहिए इस की क्रमबद्ध योजना उस से माँगनी चाहिए। केवल सरकारी क़ानून के द्वारा गाय की हत्या रोकने से सवाल हल नहीं होगा। या तो गाय की वेदना बढ़ेगी या घूसखोरी के—भ्रष्टाचार

के लिए एक नया क्षेत्र बढेगा। हिंदुत्व के अथवा अहिंसा के अंधे अनुयायी और केवल जोशीले लोगों के सुझाये हुए इलाज से भी हल नही होगा।

गाय की हत्या का कुछ भी हो, उस हत्या के पाप से हम बचें, इतना ही आदर्श सामने रखने वालों का रास्ता आसान है। (उन को भी अपने संकुचित जीवन की कुछ योजना तो बनानी ही होगी।) लेकिन अब गोवंश की सेवा करने का सच्चा तरीका क्या है इस का व्यावहारिक निर्णय पूरे अध्ययन के बाद हमें करना होगा।

(११ अप्रैल १९५४)

सार्वभौम गौ रक्षा मिशन

गांधीजी ने गाय को A Poem of Pity कहा था। हम नही मानते कि गौ रक्षा के लिए इस से अधिक समर्थ वाणी किसी के मुँह से निकली होगी। गाय की उपयोगिता, उस का मीठा स्वभाव और उस की असहायता सब कुछ उस एक वाक्य में व्यक्त होता है। गाय का मनुष्य के साथ सहयोग सचमुच एक जीवन का काव्य है। कई जानवर हिंस्र होते है। वे मर जायेंगे किन्तु मनुष्य के साथ सहयोग नही करेंगे। सिंह, बाघ भेडिये इस किस्म के जानवर है। दूसरे अहिंसक जानवर भी होते हैं जो मनुष्य की कुछ भी सेवा नही कर सकते।

ऐसे भी जानवर है जो मनुष्य के साथ सहयोग तो नही करते किन्तु मनुष्य के लिए अत्यन्त उपयोगी हैं। जिन में जहर नही है ऐसे साँप भी मनुष्य से डरते हैं उस से दूर रहते हैं, लेकिन खेतो में रहने वाले चूहो को खा कर खेती की रक्षा करते है। हमारे कवियो ने ऐसे साँपो को 'क्षेत्रपाल' कहा है।

आकाश में उडने वाले पक्षी बडे सुन्दर होते है। बहुतो की आवाज मोहक होती है। उन का गान और उन की उडान दोनो लुभावने होते हैं। उन के पंखों की शोभा फूलो की शोभा से टक्कर लेती है। तो भी ये पक्षी मनुष्य के साथ सहयोग करने के लिए, उस से प्रेम का आदान प्रदान करने के लिए उत्कण्ठित नही होते। अगर वे खेतो के दाने खाकर मनुष्य के पास से एक बडा टक्स (कर) लेते हैं तो खेतों का नाश करनेवाले कीडो को खाकर मनुष्य की सेवा भी करते है।

मनुष्य के साथ सहयोग करके मनुष्य का और अपना जीवन समृद्ध करने

वाले जानवरों में कुत्ता, गाय, बैल, भैंस, भैंसा, घोड़ा, बिल्ली, हाथी और ऊँट मुख्य हैं। हिरन भी कभी-कभी मनुष्य के साथ दोस्ती करते हैं और उस की सेवा भी करते हैं। लेकिन मनुष्य के साथ पूरा सहयोग करते आये हैं सिर्फ दो ही प्राणी, कुत्ता और गाय। इन दोनों का मनुष्य के बिना काम नहीं चलेगा। और मनुष्य तो इन के बिना जी ही नहीं सकता। समाज विज्ञान के प्रकाण्ड विद्वान् पेट्रिक गेडिस से बातचीत करते मैं ने कहा Man has civilized the cow मनुष्य ने गाय-बैल को अपनाकर दोनों से सेवा लेते-लेते उन्हें सभ्य-संस्कारी बनाया है।

गेडिस साहब ने हँसते-हँसते कहा Perhaps the opposite is more true It is the cow that has civilized man (शायद बात उलटी है। गाय ने अपनी सेवा के द्वारा मनुष्य-जीवन को संस्कारी बनाया है।) बैल के बिना खेती नहीं होती। अनाज और कपास की उपज से ही मनुष्य के अन्न-वस्त्र का सवाल हल हुआ है। गाय के दूध से ही हमारे बाल-बच्चे पुष्टि पाते हैं। मनुष्य के आहार में दूध का महत्त्व धान्य से भी बढ़ कर है।

और असली बात मनुष्य को भूलना नहीं चाहिए कि गाय का दूध मिला तभी तो मनुष्य मांसाहार छोड़ कर फिर से शाकाहारी बना। हमारे जीवन के लिए और हमारी संस्कृति के लिए गाय के उपकार इतने हैं कि पेट्रिक गेडिस की बात सही लगती है कि गाय-बैल ने ही मनुष्य प्राणी को सुधार कर संस्कारी बनाया है।

ऐसे गाय-बैलों को खिला पिला कर परिपुष्ट और दीर्घजीवी बनाना यह तो स्वार्थ की बात हुई। धर्म कहता है कि गाय को और उस के बच्चों को हत्या से बचाना, अभयदान देना यही गाय बैल से कुछ हद तक उऋण होने का एकमात्र उपाय है। हिन्दू समाज ने इस धर्म का—इस कर्तव्य को सब से पहले स्वीकार किया। इस से गौ रक्षा का धर्म केवल हिन्दुओं का नहीं बनता, मानव मात्र का वह कर्तव्य है—धर्म है।

प्रजाराज्य होने के बाद भारत में हम बहुमत के बल पर क़ानून के द्वारा गौ हत्या को बन्द कर सकते हैं। लेकिन इतने से हमारा कर्तव्य पूरा नहीं होता। हमें तो भारत के अन्दर और बाहर भी गौ रक्षा का सन्देश मानव जाति के हृदय तक पहुँचाना है। इस काम के लिए अगर भारत के लोगों ने एक बड़े मिशन की स्थापना की और अपने मिशनरी जापान, यूरोप तथा अमेरिका तक भेज दिये तो वह एक धर्म-सेवा का बड़ा पुरुषार्थ होगा। जीवदया के धर्म को

सवश्रेष्ठ मानने वाले जन समाज ने अपने साधुओं को एक तरह से पंगु बनाया है। वे भारत के बाहर जा नहीं सकते, उन की धर्महानि होगी। अहिंसा धर्म का प्राणवान् प्रचार करने वाले सन्तबालजी, आचार्य तुलसी और सुशीलमुनि जैसे जैन साधुओं से मेरी प्रार्थना है कि अगर वे स्वयं विदेश नहीं जा सकते तो जन धर्मसमाज की ओर से साधुओं की एक ऐसी नयी प्रथा निर्माण करें, जो न है गृहस्थी, और न है कट्टर रूढ़िवादी श्रमण। समस्त हिन्दू समाज, बौद्ध जन, सिख आदि सब सम्प्रदायों की मदद ले कर, पश्चिम के जीवदयावादी लोगों की भी सहायता ले कर एक बड़े जागतिक मिशन की स्थापना करें और गौ रक्षा का और शुद्ध आहार का सन्देश मानवमात्र के हृदय तक पहुँचा दें तो भारत का स्वराज्य सचमुच धर्मराज्य बनेगा और भारत को स्वतन्त्र करने वाले भगवान् के आशीर्वाद हमें मिलेंगे।

गौ-हत्या प्रतिबन्धक कानून बनाने से पहले और उस के बाद भी गौ रक्षा का सन्देश भारत के सब नागरिकों के दिल पर जमाने का काम हमें करना चाहिए। ऋषिमुनियों के जिस श्रद्धायुक्त धर्म प्रचार से हिन्दू जाति ने गौ रक्षा का सिद्धान्त मान्य रखा उसी धर्म-शक्ति को पहचानने वाली श्रद्धा से प्रचार का यह पवित्र काम हमें फिर से चालू करना चाहिए।

केवल कानून से धर्म की स्थापना नहीं होती। राजसत्ता जब धर्म की शक्ति से भी बड़ी बनती है तब धर्मशक्ति क्षीण होती है। धर्मशक्ति अपना काम पूरा करे उस के बाद उस धर्म कार्य को मजबूत करने के लिए राजसत्ता, क़ानून की सत्ता मदद में आ सकती है। इस का एक उदाहरण हम लें। एकपत्नी-व्रत हिन्दू धर्म को पसन्द है लेकिन हिन्दू धर्मशास्त्र ने उसे अनिवार्य नहीं बनाया था। पश्चिम के लोगों ने यहाँ आ कर अपना राज्य स्थापित किया तब से वे हमें समझाते आये कि कानून से तो 'एक पति को एक ही पत्नी होनी चाहिए'। लेकिन पश्चिम के लोगों ने अपने राज्यकाल में यहाँ वैसा कानून नहीं बनाया। भारत में प्रजाराज्य होते ही भारत के स्त्री पुरुषों ने बड़े उत्साह से एकपत्नी व्रत का क़ानून बनाया, जो हिन्दू ईसाई यहूदी और पारसी सब पर लागू है। उसी कानून के नीचे हम कानून के जोरों मुसलमानों को भी ला सकते थे जिस से मुस्लिम महिलाएं राजी भी हो जातीं। लेकिन हम लोगों ने सोचा कि मुस्लिम समाज में पहले एकपत्नी व्रत की धर्मबुद्धि जाग्रत की जाय, बाद में उसी समाज के बहुमत से जब माँग पेश हो जायेगी, तभी एकपत्नी-व्रत का कानून उन को भी लागू होगा।

हिमालय के अचल में कई जातियाँ ऐसी ह जिन में पाण्डवों के जसे रिवाज के अनुसार अनेक भाइयो के बीच एक ही पत्नी होती हैं। वहाँ पर हम ने एक पति-व्रत का कानून लागू नही किया ह हालांकि करीब समस्त मानव जाति में वैसा कानून लागू है। न्याय, नीति, धम, सदाचार के सिद्धात समाजमान्य होने के बाद ही उन को कानून की मदद लेना इष्ट होता है और सफलता भी तभी मिल सकती ह। अमेरिका ने प्रेसिडेंट हूवर के दिनो में मद्यपान निषेध का एक सावभौम कानून पास किया लेकिन वह अमल में नही आ सका। वहा की मद्य प्रेमी जनता ने उस कानून की ऐसी हँसी उडायी कि कानून निर्वीय हो गया।

हमारे यहाँ अब अस्पृश्यता का पालन करना कानूनन गुनाह है। तो भी भारत के गाँवो में अभी तक अस्पृश्यता पूरी तरह नेस्तनाबूद नही हुई ह। हम ने अस्पृश्यता के खिलाफ़ कानून बना कर के अपनी घमबुद्धि को मदद पहुँचायी, यह अच्छा ही हुआ। लेकिन जहाँ अस्पश्यता का पालन आज भी चलता ह वहाँ हम रूढिवादी सवर्णों को न तो न्यायालयों में ले जा कर सजा करवाते ह, न मारपीट कर के उन्हें ठीक करते हैं। हरिजन सेवक सघ पूरी श्रद्धा से और पूरी शाति से सवर्णों के बीच प्रचार का काम करता जाता है। सुधरी हुई सस्कारी मानवता का यही तरीका हो सकता है। और अगर इतने से काम नही हुआ तो सत्याग्रह का रामबाण इलाज हमारे पास है ही।

गौ रक्षा के लिए इसी तरह से हमें सोचना चाहिए और एक विशाल, विराट गौ रक्षा मिशन की स्थापना कर के उस के द्वारा सारी दुनिया में प्रचार करने जितनी आस्तिकता बतानी चाहिए। ऐसा मिशन शुरू में भले ही छोटा हो तो भी उस का सगठन आतरराष्ट्रीय और सवधर्मी बनाने का प्रयत्न हमें करना चाहिए। यही उत्तम धम-माग होगा।

(१६ अक्तूबर १६६६)

क़ानून का सहारा

[गोहत्या निवारण के लिए पवित्र, घमपरायण और राजनीति विमुख स्वामीजी ने केवल धम समझ कर उपवास शुरू किये उन्हें उपवास न करने की प्राथना करने के लिए जो पत्र श्री काका साहेब ने लिखा वह नीचे दिया जा रहा है।— सम्पादक]

सवश्रेष्ठ मानने वाले जन समाज ने अपने साधुओं को एक तरह से पंगु बनाया ह। वे भारत के बाहर जा नहीं सकते उन की धमहानि होगी। अहिंसा धम का प्राणवान् प्रचार करने वाले सन्तबालजी, आचाय तुलसी और सुशीलमुनि जसे जन साधुओं से मेरी प्रायना ह कि अगर व स्वय विदेश नहीं जा सकते तो जन धमसमाज की ओर से साधुओं की एक एसी नयी प्रथा निर्माण करें, जो न ह गृहस्थी, और न है कट्टर रूढिवादी श्रमण। समस्त हिन्दू समाज, अब जन, सिख आदि सब सम्प्रदायों को मदद ले कर पश्चिम के जीवदयावादी लोगों की भी सहायता ले कर एक बड़े जागतिक मिशन की स्थापना करें और गौ रक्षा का और शुद्ध आहार का सन्देश मानवमात्र के हृदय तक पहुँचा दे तो भारत का स्वराज्य सचमुच धमराज्य बनेगा और भारत को स्वतन्त्र करने वाले भगवान् के आशीर्वाद हमें मिलेंगे।

गौ-हत्या प्रतिबन्धक कानून बनाने से पहले और उस के बाद भी गौ रक्षा का सन्देश भारत के सब नागरिकों के दिल पर जमाने का काम हमें करना चाहिए। ऋषिमुनियों के जिस श्रद्धायुक्त धम प्रचार से हिन्दू जाति ने गौ रक्षा का सिद्धान्त मान्य रखा उसी धम-शक्ति को पहचानने वाली श्रद्धा से प्रचार का यह पवित्र काम हमें फिर से चालू करना चाहिए।

केवल कानून से धम की स्थापना नहीं होती। राजसत्ता जब धम की शक्ति से भी बड़ी बनती ह तब धमशक्ति क्षीण होती ह। धमशक्ति अपना काम पूरा करे उस के बाद उस धम काय को मजबूत करने के लिए राजसत्ता, कानून की सत्ता मदद में आ सकती ह। इस का एक उदाहरण हम लें। एकपत्नी-व्रत हिन्दू धम को पसन्द ह लेकिन हिन्दू धमशास्त्र ने उसे अनिवाय नहीं बनाया था। पश्चिम के लोगों ने यहाँ आ कर अपना राज्य स्थापित किया तब से वे हमें समझाते आये कि कानून से तो एक पति को एक ही पत्नी होनी चाहिए।' लेकिन पश्चिम के लोगों ने अपने राज्यकाल में यहाँ बसा कानून नहीं बनाया। भारत में प्रजाराज्य होते ही भारत के स्त्री पुरुषों ने बड़े उत्साह से एकपत्नी व्रत का क़ानून बनाया, जो हिन्दू ईसाई यहूदी और पारसी सब पर लागू ह। उसी कानून के नीचे हम कानून के जोरों मुसलमानों को भी ला सकते थे जिस से मुस्लिम महिलाएं राजी भी हो जाती। लेकिन हम लोगों ने सोचा कि मुस्लिम समाज में पहले एकपत्नी व्रत की धमबुद्धि जाग्रत की जाय, बाद में उसी समाज के बहुमत से जब माँग पेश हो जायगी तभी एकपत्नी-व्रत का क़ानून उन को भी लागू होगा।

हिमालय के अचल में कई जातियाँ ऐसी हैं जिन में पाण्डवों के जैसे रिवाज के अनुसार अनेक भाइयो के बीच एक ही पत्नी होती हैं। वहाँ पर हम ने एक पति-व्रत का क़ानून लागू नही किया है, हालांकि करीब समस्त मानव जाति में वैसा कानून लागू है। न्याय, नीति, धर्म, सदाचार के सिद्धान्त समाजमान्य होने के बाद ही उन को क़ानून की मदद लेना इष्ट होता है और सफलता भी तभी मिल सकती है। अमेरिका ने प्रेसिडेंट हूवर के दिनों में मद्यपान निषेध का एक सार्वभौम क़ानून पास किया लेकिन वह अमल में नही आ सका। वहाँ की मद्य प्रेमी जनता ने उस क़ानून की ऐसी हँसी उडायी कि क़ानून निर्वीर्य हो गया।

हमारे यहाँ अब अस्पृश्यता का पालन करना कानूनन गुनाह है। तो भी भारत के गाँवो में अभी तक अस्पृश्यता पूरी तरह नेस्तनाबूद नही हुई है। हम ने अस्पृश्यता के खिलाफ़ क़ानून बना कर के अपनी धर्मबुद्धि का मदद पहुँचायी, यह अच्छा ही हुआ। लेकिन जहाँ अस्पृश्यता का पालन आज भी चलता है वहाँ हम रूढ़िवादी सवर्णों को न तो न्यायालयों में ले जा कर सजा करवाते है, न मारपीट कर के उन्हें ठीक करते हैं। हरिजन सेवक संघ पूरी श्रद्धा से और पूरी शांति से सवर्णों के बीच प्रचार का काम करता जाता है। सुधरी हुई सस्कारी मानवता का यही तरीक़ा हो सकता है। और अगर इतने से काम नही हुआ तो सत्याग्रह का रामबाण इलाज हमारे पास है ही।

गो रक्षा के लिए इसी तरह से हमें सोचना चाहिए और एक विशाल, विराट गो रक्षा मिशन की स्थापना कर के उस के द्वारा सारी दुनिया में प्रचार करने जितनी आस्तिकता बतानी चाहिए। ऐसा मिशन शुरू में भले ही छोटा हो तो भी उस का सगठन आन्तरराष्ट्रीय और सर्वधर्मी बनाने का प्रयत्न हमें करना चाहिए। यही उत्तम धर्म-मार्ग होगा।

(१५ अक्तूबर १९६६)

—

क़ानून का सहारा

[गोहत्या निवारण के लिए पवित्र, धर्मपरायण और राजनीति विमुख स्वामीजी ने केवल धर्म समझ कर उपवास शुरू किये उन्हें उपवास न करने की प्रार्थना करने के लिए जो पत्र श्री काका साहेब ने लिखा वह नीचे दिया जा रहा है।—सम्पादक]

हो गया है। इस लिए आजकल की राज्य व्यवस्था को प्रजातन्त्र कहने का रिवाज हो गया है।

अर्थतन्त्र में समाज-सत्तावाद

अर्थतन्त्र के बारे में भी ऐसा विचार ही धीरे धीरे दृढ़मूल हो रहा है। राष्ट्र में जो भी संपत्ति पैदा होती है, वह जमीन, पानी, जंगल, खेती, खदान आदि प्राकृतिक समृद्धि से ही उत्पन्न की जाती है। उत्पन्न करने वालों में जिन जिन का हिस्सा है उन का वर्गीकरण नीचे मुजब किया गया है।

जमीन का मालिक जमीनदार, पूँजी का मालिक पूँजीपति परिश्रम करने वाला मजदूर, कौशल्य से काम करने वाला कारीगर इन सब को एकत्र लाकर उन को संगठित करने वाला संगठक अथवा उद्योगपति, जो भी संपत्ति पैदा होती है उस का बँटवारा इन्हीं वर्गों के बीच यथान्याय होना चाहिए और यह काम समस्त प्रजा का प्रतिनिधि मंडल यानी राजसत्ता न्यायपूर्वक करे यही अपेक्षा की जाती है।

जब राजसत्ता का समस्त अधिकार प्रजा के हाथ में आ गया तब प्रजा कहने लगी कि राष्ट्र में जितनी भी जमीन है उस पर किसी व्यक्ति या वर्ग का अधिकार न होकर समस्त राष्ट्र का हो यानी राष्ट्र के प्रतिनिधियों से बनी हुई सरकार के हाथ में जाय। जमीनदारों का अलग वर्ग न रह कर राष्ट्र ही एक मात्र जमीनदार बने।

इस विचार को व्यापक कर के साम्यवादियों ने व्यापक नारा चलाया है कि केवल जमीन ही नहीं किन्तु सम्पत्ति उत्पादन के सब के सब प्रधान साधन राज्य के ही अधीन रहें। यहां समाज सत्तावाद और साम्यवाद के बीच जो भेद है उसे हम देखने नहीं बैठते क्योंकि जो बातें हम कहना चाहते हैं उस में इस भेद का महत्त्व बहुत कम है।

अब अगर समस्त खेती, सब कारखाने और खदान से उत्पन्न होने वाली खनिज सम्पत्ति सरकारी मालिकी की है तो खेती आदि सब प्रवृत्तियाँ चलाने का अधिकार भी सरकार का ही हो।

मजदूरों के परिश्रम का मालिक समाज सरकार

और इतना कबूल करने के बाद कौन कहाँ कितनी मजदूरी करे, मजदूरों को क्या दिया जाय कितना दिया जाय, उन से कितना काम लेना है यह भी सारा राष्ट्र ही तय करे। (राष्ट्र याने सारा समाज और उस की प्रतिनिधि

सरकार) और मजदूरों के अन्दर बुद्धि से काम देने वाले लोग भी आ जाते हैं। मजदूर, कारीगर, किसान, बागवान, बुनकर (जुलाहा), हिसाबनीस मोहर्रिर, (कारकून), व्यवस्थापक आदि सब के सब मजदूर वर्ग में आ ही जाते हैं। इन मजदूरों का परिश्रम समाज की ही दौलत है, समाज का ही उस पर अधिकार है और सरकार का आदेश मान्य किये बिना इन मजदूरों को दूसरा चारा ही नहीं।

यह सारा साम्यवाद अथवा समाज-सत्तावाद खड़ा हुआ उस के पहले कल कारखाना की चर्चा करने वाले अर्थशास्त्री अथवा संपत्तिशास्त्री एक सवाल उठाते थे—

वे कहते थे कि एक कारखाना चलाने से जो लाभ होता है, मुनाफ़ा मिलता है उस पर अधिकार किस का, मजदूर को जीने के लिए केवल मजदूरी मिले, जमीनदार को जमीन का सिर्फ़ किराया मिले, पूँजीपति को उस की पूँजी पर केवल सूद मिले, बहुत हुआ तो पूँजी खतरे में डाली इस के लिए बीमे की क़िस्त भी मुनाफे में से ले। संगठक व्यवस्थापक अपनी कौशल्ययुक्त सेवा के लिए अच्छी तनख्वाह ले। बाकी का जो मुनाफ़ा रहता है वह न मिलना चाहिए जमीनदार को और न मिलना चाहिये पूँजीपति को। व्यवस्थापक को भी तनख्वाह से अधिक कुछ न मिले। कारखाना चलाने से जो भी स्पष्ट मुनाफा होता है वह सारा ऊपर का मेहनताना चुकाने के बाद समाज की मिल्कियत है। प्रजाहित के लिए वह मुनाफ़ा सरकार के हाथ में जाना चाहिए।

जो अर्थशास्त्र और राजनीतिशास्त्र सब लोगों को परिचित है उसे यहाँ पर थोड़े में दोहराने का खास उद्देश्य है गो रक्षा के हेतु हम यहाँ दो सवाल उठायेंगे।

गोपालन की ज़िम्मेवारी सरकार की

सारे राष्ट्र के हर एक आदमी के लिए दूध अत्यन्त आवश्यक, पौष्टिक और प्राणवान आहार है। इस दूध को पैदा करने वाले जानवर व्यक्ति की नहीं किन्तु समष्टि की, सारे समाज की, राष्ट्र की याने राष्ट्रीय सरकार की मिल्कियत होनी चाहिए। गाय का पालना, गाय के लिए अच्छे से अच्छे साँड तयार रखना। दोनों के आहार का प्रबन्ध करना, गायों की नस्ल सुधारना, खेती के लिए जरूरी अच्छे मजबूत बैल तयार कर के देना, यह सब काम सरकार की ओर से ही होना चाहिए। गाय बैल की नस्ल सुधारने की चिन्ता और प्रबन्ध भी सरकार के ही हाथ में हो। क्या यह विचार भारत की सब प्रजा को मान्य है?

अगर है तो गोरक्षा का सवाल राष्ट्रीय है प्रजा निर्मित सरकार बना है।

सरकार के प्रतिनिधियों को इसे हल करना ही चाहिए। और गोहत्या मान्य की तो भी उस के लिए सरकार जिम्मेवार होगी और गोरक्षा का सिद्धान्त राष्ट्र मान्य हुआ तो उस का पालन भी सरकार को ही करना होगा। गाय के बछड़े को संभालना, वृद्ध गाय-बैल, लँगड़े-लूले, बीमार गाय बैल सब का प्रबन्ध भी सरकारी खर्च से हो हो। और जिस तरह डाकखाना और तार घर द्वारा होने वाली प्रजा-सेवा सीधी सरकार ही करती है वैसे ही सब लोगों को यथान्याय दूध पहुँचाने का काम भी सरकार के द्वारा ही हुआ करे।

गोरक्षा की बुनियाद में धर्म निरपेक्षता

हम मानते हैं कि भारत का और सारी दुनिया का समाज-सत्ता वाद धर्म निरपेक्ष है। और साम्यवाद तो सब के सब धर्मों के प्रति तिरस्कार युक्त उपेक्षा ही रखता है। यह तटस्थता और उपेक्षामूलक चिन्तन ही गोरक्षा की बुनियाद आयन्दा में रहेगा। ऐसी हालत में भी लोकहित के लिए संस्कृति रक्षा के लिए और कसरत राय की कदर करने के लिए गोरक्षा का सिद्धान्त मान्य होना कठिन बात नहीं है।

ऊपर के सारे विवेचन में हम ने मान लिया है कि गाय मानवजाति की, मनुष्य समाज की केवल मिल्कियत ही है। समुद्र की मछलियां जंगल के जानवर और आकाश के परिन्दे मनुष्य के हाथ में आने पर मनुष्य की मिल्कियत यानी चीज बनते हैं। उन को रखना, मारना न मारना, अपनी सेवा के लिए काम में लाना और उन्हें बेचना मनुष्य के अधिकार की बात है। इन पशुओं को बेचने का अधिकार जैसे मनुष्य का है, वैसे ही इन्हें मार कर खा जाने का अधिकार भी मनुष्य का है।

सारा समाज ही चाहे तो प्रचण्ड बहुमत के बल पर इन पशुओं को हत्या से बचा सकता है। अथवा इन की हत्या पर अंकुश भी रख सकता है यानी हत्या मर्यादित कर सकता है।

अब हम दूसरा सवाल उठायेंगे।

समाजसत्ता में और समाजवाद में मजदूर के परिश्रम पर समाज का अधिकार है, मनुष्य पर नहीं। क्योंकि मनुष्य, मनुष्य है। मनुष्य अपने को बेंच कर गुलाम भी नहीं बन सकता।

अब गाय बैल घोड़ा, ऊँट हाथी, कुत्ता आदि जानवरों से हम सेवा लेते हैं और चाहें तो उन्हें मार भी सकते हैं खरीद सकते हैं, बेच सकते हैं, मार कर खा भी सकते हैं। लेकिन अगर मनुष्य की न्यायबुद्धि जाग्रत हुई, प्राणियों

के प्रति रहा हुआ उस का उच्च कर्तव्य वह पहचान सका तो वह कह सकेगा कि जिन प्राणियों की हम आज'म सेवा लेते ह, उन के परिश्रम से लाभ उठाते ह उन को हम गुलाम तो करें, लेकिन उन्हें मारने का हक्र हमें नहीं है। सामान्य पशु और मनुष्य के बीच का स्थान इन उपयोगी सेवक जानवरो को देना चाहिए।

अगर समाज-सत्तावाद को हम मान्य करें तो इन जानवरो को राष्ट्र-सम्पत्ति (नये अर्थ में National Animal) मान कर इन का खरीदना-बेचना भी बन्द कर सकते हैं।

जब गुलामी की प्रथा नयी-नयी थी तब मालिक गुलाम को खरीदने के बाद उसे कैद कर भी रख सकता था, उस के हाथ पाँव तोड सकता था, उस की शादी करना, न करना यह भी मालिकों की मर्जी की बात थी। गुलाम के बाल-बच्चे कुत्ते बिल्ली के बाल बच्चों के जैसे ही भेंट में दिये जाते थे अथवा बेचे जाते थे। इतना ही नहीं मालिक अपने गुलाम को चाहे तो मार कर खतम भी कर सकता था, क्योंकि वह उस की मिल्कियत थी।

धीरे धीरे मनुष्य की मानवता और न्यायबुद्धि जागी। गुलाम को भी अधिकार मिलने लगे और गुलाम मालिक की सम्पत्ति होते हुए भी मालिक उस से मनमाना व्यवहार न कर सका।

अन्त में मानवों की (गोरों की भी) मानवता पूरी-पूरी जाग्रत हुई। गुलाम मुक्त हो गये। अब किसी भी मनुष्य को गुलाम माने अपनी मिल्कियत बनाना असम्भव हो गया। इतना ही नहीं, सब मानवों को, वे जहाँ स्थायी रूप से रहते हैं, नागरिकों के सम्पूर्ण अधिकार, पूर्व गुलामों को भी, मिलने लगे हैं।

गुलामों की मुक्ति का, उन का स्वतन्त्रता का और नागरिकता का यह इतिहास हिन्दू संस्कृति का नहीं किन्तु पश्चिमी संस्कृति का है, और पिछले सौ दो सौ बरस के अन्दर का ही है। लेकिन वह हमारे लिए इतना विश्वास रखने के लिए काफ़ी ह कि आस्तिक प्रयत्न करने पर और धार्मिकता का तेज प्रकट करने पर मानवों की, केवल हिन्दुओं की नहीं, किन्तु समस्त मानवों की न्यायबुद्धि, धर्म-बुद्धि जागृत् हो सकती ह। सत्याग्रह का असर मनुष्य मात्र पर हो सकता है। इस को मैं मनुष्य हृदय में रही हुई आस्तिकता उत्तम प्रमाण मानता हूँ।

अब हम भारत में रहने वाली समस्त जनता से मानवता के नाम कहना चाहते ह कि गाय-बैल, घोड़ा-ऊँट, कुत्ता बिल्ली आदि जानवरों को हम यानी मनुष्य जाति क लोग अन्य जानवरों से कुछ अलग समझें। उन से क़ीमती सेवा मिलती है, उन से प्रेम निष्ठा भी मिलती है इस की क़दर कर क इन प्राणियों के प्रति हम अपना विशेष धर्म मंजूर करें। हम जानते हैं कि यह काम आसान

नहो ह इस लिए इस उदात्त मानव धम का प्रारम्भ हम भारत म और गाय से करते हं। लेकिन हम यहीं अटक जाने वाले नही हं। (उपर की फेहरिस्त में हम ने बिल्ली को भी स्थान दिया ह, इस बात को याद कर के कि प्राचीन काल के मिस्र देश में (इजिप्त मे) बिल्ली को पवित्र जानवर माना जाता था और समाज धम बिल्ली को अघ्न्य—न मारने लायक़—करार कर के बचाता था।)

गाय को बचाने के विचार का समथन हम केवल हिंदू शास्त्र अथवा हिंदू भावना के बल पर नहो करते ह किन्तु मानवता के, मानवधम के बल पर ही कर रहे ह। और हम आशा करते हैं कि कम से-कम गाय-बल को बचाने के लिए भारत के सब धर्मों के भारतीय लोग सहमत होंगे।

भारत म गाय की, और अरबस्तान मे ऊँट की रक्षा हो

हमें विश्वास ह कि भारत में अगर हम गाय को बचा सके तो हम से सबक सीख कर अरबस्तान के मुसल्मान, वहाँ के राष्ट्रीय प्राणी ऊँट को इसी तरह बचाने के लिए किसी दिन तयार हो जायेंगे। क्योकि इसलाम के नबी हज़रत मोहम्मद पग़म्बर ने एक दफे एक बूढ़े ऊँट की शिकायत को मान कर उसे जीवनदान दिल्वाया था। यह कथा मोहम्मद साहब के जीवन चरित्र में हो ह।

पशुमय को बचाने का मिशन

घोड़े के बारे में किसी एक देश से प्रारम्भ करने की आवश्यकता नही है। घोड़ो की उपयोगिता विश्वमान्य ह। अगर हिंदुओ में सच्ची आस्तिकता है और धम तेज प्रकट करने की हिम्मत ह तो हम लोग केवल गाय की ही नहीं, किंतु ऊँट और घोड़े को बचाने के धर्मात्मिक ढंग का प्रचार अपने मिशनरियो के द्वारा सारी दुनिया में कर सकेंगे। जनी साधु अगर हिंदुस्तान के बाहर जाने योग्य अहिंसाधर्मी बन गये तो पशुत्रय का सवाल ले कर सारी दुनिया में वे पहुँच सकते ह। और मेरी आस्तिकता मुझ कहती ह कि उन्हें यथासमय सफलता अवश्य मिलेगी। धमनिष्ठा ह ही अमोघ।

धर्मबुद्धि जागृत होने पर ही कानून का सहारा

अगर मनुष्य जाति ने गुलामों को मारना बेचना, खरीदना बन्द कर दिया तो मनुष्य-सेवक प्राणियो की हत्या बन्द करने के लिए मानवता की धमबुद्धि जाग्रत् करना और सगठित करना असभव नहीं। इतना ध्यान में रखना चाहिए कि धमबुद्धि पूरी जाग्रत होन क बाद हो क़ानून का सहारा लेना चाहिए। अहिंसा का ही यह उपदेश ह। धमतेज जाग्रत होने क पहले अगर क़ानून का सहारा लिया तो धमतेज कुण्ठित होता ह और हिंसा के तत्त्वो को बल मिलता ह।

जब अँगरेजों का राज्य था तब सती की प्रथा आदि चन्द अनिष्ट रिवाज बन्द करने के लिए देश के हिंदू नेताओं ने बड़ा आन्दोलन चला कर अँगरेज सरकार की मदद ली यह सब जानते ही हैं। उस जमाने में लोकमान्य के जैसे ऐसे नेता भी थे जो कहते थे कि बाल विवाह आदि अनिष्ट रूढ़ियाँ बन्द होनी ही चाहिए, लेकिन धर्मकार्य विदेशी राज्यसत्ता के हाथों करवाने में खतरा है। सरकार के हाथ में जब हम अधिकार देते हैं तब दीर्घदृष्टि से सोचना चाहिए कि आइन्दा इस का असर क्या होगा। वह जमाना विदेशी और परधर्मी राज्यसत्ता से सकारण डरता था। आज भारत में स्वराज्य है और समस्त प्रजा की धर्म निरपेक्ष सरकार भी है। तो भी हम कई क्षेत्रों में सर्वमान्य सामाजिक सिद्धान्त लागू नहीं करते। एकपत्नी और एकपति का कानून प्रचण्ड बहुमत से स्वीकृत होने पर भी हम उस का अमल न मुसलमानों पर करते हैं, न हिमालयीन बहुपतिव्रती आदिवासी जमातों पर।

अब हमें समाजसत्तावादी सरकार के हाथ में सर्वतन्त्र-स्वतन्त्र अधिकार देने के पहले सोचना चाहिए कि इस का नतीजा कहाँ तक पहुँचेगा। गाय के बारे में हिन्दूमत अनुकूल होगा। मुसलमान, ईसाई आदि शायद प्रकट विरोध नहीं करेंगे। (सुनता हूँ कि पाकिस्तान में और बर्मा में गोवध नहीं होता है। मैंने इस के बारे में पूरी जानकारी प्राप्त नहीं की है।) लेकिन विवाह संस्था में आमूलाग्र सुधार (बिगाड़ नहीं) करने के दिन आयेंगे तब डर है कि सनातनी हिंदू बहुमत के निर्णय से शायद सहमत नहीं होंगे। इस झंझट में आज हमें नहीं उतरना है।

गोपालन कौन करे?

अब एक बड़ा सवाल रहता है जिस का जिक्र हम ने गान्धीजी के अखबारों में सन् १९२६ में और १९३२ में किया था। गोहत्या केवल कानूनन बन्द करने से गाय बच नहीं सकती। उस के जीने का और पालन-पोषण का प्रबन्ध भी होना चाहिए। मनु भगवान् ने कहा है कि भगवान् ने ब्राह्मण और क्षत्रिय पैदा कर के उन्हें सौंप दी 'समस्त प्रजा की हिफाजत'। गाय को पैदा कर के उस की हिफाजत सौंप दी वैश्य को खेती, तिजारत, कारीगरी आदि वैश्यों के कामों के साथ पशु-पालन और खासकर के गोरक्षा का काम भगवान् ने (यानी समाज-व्यवस्था ने) वैश्यों को सौंप दिया।

इस के बाद मनु भगवान् कहते हैं कि (अन्य उपायों से धनवृद्धि होती देख कर) वैश्य की कभी ऐसी बुद्धि न हो कि गौ रक्षा और पशु पालन का काम हम

न करें। और मनु भगवान् इस से आगे जा कर कहते हैं कि वैश्यों ने अगर निष्ठापूर्वक पशुपालन का काम करना चाहा तो आजों की प्रजा उस से सन्तोष माने और उस झगट में न पड़े।

गोरक्षा का आधार संन्यस्तवृत्ति के गोभक्तों पर

सन् १९३२ में हम ने कहा था "दूसरी बात यह है कि गाय के बारे में हम ने आज तक जो अन्याय किया है, उसे याद कर के आज गोपालन में होने वाला सारा मुनाफा गाय और उस के वंश के रक्षणार्थ खर्च करना चाहिए। जिस प्रकार 'खादी' काम का अन्तिम आधार संन्यस्तवृत्ति से रहने वाले, परोपकारी, त्यागी और निर्लोभी समाज सेवकों पर है उसी प्रकार 'गोरक्षा का आधार भी संन्यस्तवृत्ति के गोभक्त समाज-सेवक स्त्री पुरुषों पर ही रहेगा।'

हमारे इसी विचार का बलिष्ठ समर्थन अभी श्री विनोबा के निवेदन में देख कर हमें परम सन्तोष हुआ। सरकारी काम जिस ढंग से आज होते हैं उस की तनिक भी टीका किये बिना हम कहेंगे कि गोरक्षा का रचनात्मक काम अगर सफलता से करना है तो कार्यकुशल साधु-संन्यासियों और त्यागी सेवकों के द्वारा ही होगा। अन्यथा 'यह सारा प्रयास अन्यवहार्य है' ऐसे युक्ति-युक्त लम्बे चौड़े रिपोर्ट ही सुनने की नौबत आयेगी। इस काम में हम पारसी, ईसाई और मुसलमानों को भी ले सकते हैं। जब मैं सिन्ध में राष्ट्रीय शिक्षा का काम करता था। मैं ने ऐसे मुसलमान किसान देखे थे जो पूरे-पूरे गोभक्त थे। धर्म कुछ भी हो, मानवता तो सब में एक-सी होती है। जाग्रत होते ही वह काम करने लगती है।

अब मैं सब से कठिन आर्थिक पहलू पर आना चाहता हूँ जिस के कारण इस लेख के प्रारम्भ में मैं ने अर्थशास्त्रीय चिन्तन का थोड़ा विस्तार किया।

मनुष्य बोल कर लड़ सकता है, सेवक पशु नहीं

हमारे गुलाम, हमारे गिरमिटिया और हमारे मजदूर मनुष्य होने से सोच सकते हैं, बोल सकते हैं, संगठित हो कर लड़ सकते हैं और सत्याग्रह भी कर सकते हैं। मनुष्य-सेवक पशुओं की यह शक्ति नहीं। वे मनुष्य को अपनी सेवा, अपना प्रेम और अपनी निष्ठा दे सकते हैं। हम उन्हें जैसा रखें, सन्तोष या लाचारी से रह सकते हैं। उन की सहन शक्ति मनुष्य से कम नहीं, कुछ अधिक ही है। उन की संगठन-शक्ति जंगल में थोड़ी दीख पड़ती है। और सत्याग्रह तो वे जानते ही नहीं। ऐसी हालत में उन की ओर से उन के न्याय की, अधिकार की और जीने के हक की विचारणा उदार हृदय के मनुष्य को ही

करनी चाहिए। अगर गाय-बैल, ऊँट घोड़ा आदि पशुओं का कोई प्रतिनिधि मनुष्य की तरह सोच सकता और मनुष्यवाणी में बोल सकता तो कहता—

सेवक पशुओं की न्यायोचित माँग

"कई धर्मात्मा मनुष्यों ने जीवदया का प्रचार किया है उन के प्रति हम कृतज्ञ हैं। लेकिन हम आप से दया या दान माँगने नहीं आये हैं। हमारा जीने का अधिकार अगर आप मान्य करें तो हम लोग केवल अपने परिश्रम से ही अपने सारे वंश को बचा सकेंगे और इन्हें आराम से रख सकेंगे। आज आप अपनी बुद्धि शक्ति, संगठन-शक्ति और हमारी कैफ़ियत करने की शक्ति भी हमारी मदद में दीजिए, तो हम आप के सर्वोत्तम सहयोगी साबित होंगे।

"आज हम आप को जितनी सेवा देते हैं उस के बदले में आप हमें क्या देते हैं? केवल घास चारा आदि खाना और पानी। रहने के लिए, ठण्डी, गरमी, बारिश और तेज़ हवा से बचने के लिए आप हमें मकान देते हैं। यह सब कभी अच्छा होता है, कभी बुरा, इस से अधिक आप से हम कुछ भी नहीं मिलता। अपने मजदूरों को आप केवल खाना, कपड़ा और घर नहीं देते। इस से भी अधिक आप को देना ही पड़ता है।

आप का मुनाफा सेवक-पशु फण्ड में जमा हो

'अब हमारी माँग यह है कि बैल, घोड़ा, ऊँट, गाय आदि हम लोगों से आप जितनी सेवा लेते हैं उस का हिसाब पूरे न्याय से लगाइए। आप को जितना मुनाफा होता है (मुनाफा न होता तो आप एक दिन भी हमें जिन्दा नहीं रखते।) उसी में से आप अपनी मेहनत का लीजिए और बाक़ी का सारा मुनाफ़ा सेवक-पशु-फण्ड में जमा करते जाइए। घोड़ा और ऊँट आप की कम सेवा नहीं करते। खेती में, बैल से तनिक भी कम काम नहीं देते। लड़ाई में तो इन सब पशुओं से आप क़ीमती सेवा लेते हैं। इन सब सेवक-पशुओं की सेवा का मुनाफा ईमानदारी से अलग रख दीजिए तो उस में से हम अपने वंश के लिए 'ओल्ड एज पेन्शन' प्राप्त कर लेंगे। स्वास्थ्य सम्बन्धी निश्चिन्तता तो तुरंत होगी, मकानों की स्थितियों में भी काफ़ी सुधार आयेगा। उस फण्ड में से हमारे लिए अच्छे गोचर चल सकेंगे। सब के लिए अच्छी घास मिलेगी। मच्छरों के उपद्रव से हम बच जायेंगे।

"हद से ज्यादा काम न लेने के आप के कानून तो हैं ही लेकिन उन का पालन कैसे होता है, यह कौन नहीं जानता?

"मजदूरों के हित के लिए अगर आप के प्रधान मण्डल में एक प्रधान या मन्त्री और सचिव होते हैं तो सेवक-पशु की हित रक्षा के लिए भी एक मन्त्री नियुक्त किया जाये। जिस का जीवप्रेम प्रत्यक्ष सेवा से प्रमाणित हो चुका हो ऐसे मन्त्री को यह काम सौंप दीजिए। फिर आप को जीवदया की बात हमारे लिए नहीं चलानी पड़ेगी। हम पुनः यही दोहराना चाहते हैं कि हम दया नहीं माँगते, बल्कि हम ही आप पर दया कर सकते हैं। हम आप से केवल ईमानदारी, न्याय और आत्मीयता की अपेक्षा करते हैं और नहीं चाहते हैं।"

पशुओं की इस माँग को मंजूर न करने जितने हम घातकी राक्षस न बनें। मानव संस्कृति को जाग्रत रखने के लिए जिस तरह शिक्षा विभाग और धर्म-संस्थाओं के प्रचार कौशल्य का पूरा उपयोग हम करते हैं उसी तरह हमें अपने मनुष्येतर सहायक साथियों के कल्याण के लिए भी गतिशील प्रवृत्तियाँ चलानी चाहिए। पुराने धर्म-ग्रन्थों के विवेचन से यह काम नहीं होगा। हमारे साधु सन्यासी अपने धर्मतेज को रचनात्मक रूप दे दें, और अपने सेवाधर्म को कृतार्थ करें—यही एक आवाज से माँग है सब धर्मों की।

(१ फरवरी १९४७)

शास्त्र-चर्चा का यह समय नहीं

इस में कोई शक नहीं कि वेद काल से ले कर आज तक भारत में गौरक्षा के प्रश्न में सतत आन्दोलन चलता आया है। यह आन्दोलन कभी मन्द रहा, कभी उग्र। लेकिन यह विचार भारत के लोगों के सामने हमेशा जाग्रत रहा है।

वेद काल में धार्मिक क्रियाओं में, यज्ञ में अथवा अतिथि के स्वागत में गोवध होता था या नहीं इस की चर्चा हम वर्षों से सुनते आये हैं। वेद काल में ब्राह्मण काल और उपनिषद् काल भी गिना जाता है। उस के बाद आता है महाभारत काल। उस काल में मांसाहारी लोग सब तरह का मांस खाते थे। इस में शंका के लिए अवकाश नहीं है। लेकिन क्या आज यह सवाल प्रस्तुत है? हमारे पूर्वज बड़े धर्मात्मा थे, तत्त्वज्ञ थे इस का गौरव हम मन में रखें और उन की कीर्ति बढ़ाने की कोशिश भी करें। लेकिन हमारे पूर्वजों में जैसे भले लोग थे वैसे बुरे भी थे। जो भले थे उन में भी चन्द बुराइयाँ थीं। इस का इतिहास पढ़ कर हम भी बुरे रहें या बनें ऐसा तो कोई नहीं कह सकता। पूर्वजों की

बुराइयों पर परदा डालना कभी-कभी इष्ट भी होता है। सत्यान्वेषी इतिहास परदों को हटा कर सत्य परिस्थितियों का आविष्कार करेगा ही। उस से घबराने का कोई कारण नहीं है। द्रोणाचार्य ने अपने अस्वीकृत अथवा अदीक्षित आदिवासी शिष्य से गुरुदक्षिणा के रूप में उस का दाहिना अँगूठा ले लिया। यह महाभारत का तथ्य है। अब द्रोणाचार्य की कीर्ति बचाने के लिए अंगुष्ठ शब्द के अन्य कोशों में हम ढूँढ सकते हैं और एकलव्य का अँगूठा काटा नहीं था ऐसा सिद्ध भी कर सकते हैं। ऐसे संशोधनों में जिन को रुचि नहीं है उन्हें उन के रास्ते जाने देना चाहिए। उन्हें भी जीने का और सोचने का अधिकार होना चाहिए।

भारत के असंख्य हिन्दुओं के साथ मैं भी हृदय से केवल गाय की ही नहीं समस्त गोवंश की रक्षा चाहता हूँ। गांधी जी ने इस बारे में राष्ट्रमानस को अच्छी तरह से जाग्रत किया और गोरक्षा के आग्रह के पीछे धार्मिक तथा सांस्कृतिक भूमिका कैसी है यह भी स्पष्ट किया।

सारी दुनिया में गाय की और गाय-जैसे मनुष्य-सेवक प्राणियों की रक्षा के लिए धर्मबुद्धि जाग्रत करना जरूरी है। यह काम अत्यन्त महत्त्व का है। भारत में भी इसे अच्छी तरह से नहीं कर सके हैं, यह दुःख की बात है। भारत के जैन, वैष्णव आदि सब लोग इस काम को दुनिया में जोरों से चलायें यह मुख्य बात है। यह विश्वव्यापी काम केवल क़ानून से नहीं होगा। धर्मतेज के द्वारा, सांस्कृतिक उन्नति के द्वारा और रचनात्मक प्रवृत्तियों के द्वारा ही प्रधानतया यह काम हो सकता है। यथासमय क़ानून बनाने से उस की मदद भी हो सकती है। लेकिन केवल क़ानून-द्वारा यह बड़ा काम सफल नहीं होगा। और हम लोग तो क़ानून बना कर सरकार के सिर पर बोझ डाल कर सो जाने के आदी हैं।

मैं नहीं कहता कि क़ानून न बने। उस के बारे में आज भी एक तरह से तटस्थ हूँ। मैं जानता हूँ कि क़ानून बनने से गोरक्षा का काम आसान होगा, लेकिन हल नहीं होगा। इस लिए मैं ने कहा है कि क़ानून बनाने के पूर्व और क़ानून बनने के बाद भी लोगों में—सब धर्मों के लोगों में—धार्मिकता जाग्रत् करना और वैश्य ढंग से रचनात्मक काम करना अत्यन्त जरूरी है।

जब कलकत्ते में रामकृष्ण मिशन की ओर से सन् १९३७ या ३८ में विश्व धर्म परिषद् हुई थी और सारी दुनिया के प्रतिनिधि आये थे तब एक अधिवेशन के अध्यक्ष की हैसियत से बोलने का मौक़ा मिलते ही, मैं ने गोरक्षा के पक्ष में अपनी आवाज उठायी थी। दुनिया के सब देशों में मैं यात्रा कर आया

है। जहाँ-जहाँ सज्जनों से बोलने का मौका मिला, गोरक्षा के लिए मैं ने कुछ-न-कुछ कहा ही है।

मैं जानता हूँ कि हमारे पारसियों के धर्म में भी गोरक्षा की बात की गयी है। इस्लाम के नबी मोहम्मद साहब के जीवन चरित्र में मैं ने पढ़ा था कि अरबस्तान की गाय यानी ऊँट की रक्षा के लिए पैग़म्बर साहब ने ऊँट के मालिक को बूढ़े ऊँट की आजन्म सेवा याद कर के उसे न मारने की नसीहत दी थी, इस प्रसंग का भी मैं मौका पाते ही प्रचार करता हूँ। इजिप्त की राजधानी अल काहिरो में मुसलमानों को गोरक्षा का अपना आग्रह समझाते हुए ऊपर का किस्सा सुनाया था, इस का असर अच्छा हुआ था। जापान में भी अपने ढंग से गोरक्षा का प्रचार किया।

मेरा विश्वास है कि हम अगर सब धर्मों के प्रति आदरभाव रखें तो प्राणी रक्षा का काम अच्छी तरह से शुरू कर सकेंगे। इस के लिए नये धर्मनिष्ठ मिशनरियों की आवश्यकता है।

वेदपूर्वकाल से ले कर हमारे सुदीर्घ इतिहास में गोरक्षा का प्रचार सतत करने की आवश्यकता रही यही बताता है कि हम पूरे-पूरे सफल नहीं हुए थे। विदेशी लोगों ने आ कर भारत में राज्य स्थापित किया। उस के पहले धर्म और कानून काफी हद तक मिले-जुले थे। जो उस समय जो सिद्धियाँ हम प्राप्त न कर सके यह अब व्यापक धार्मिकता के ज़ोरों करनी होगी। प्राचीन ग्रन्थों के वचनों का अनेक ढंग से अर्थ करने से वादविवाद चल सकता है। 'गोघ्न' शब्द का अर्थ 'गोरक्षक' भी होता होगा। लेकिन क्या सब जगह पर वही अर्थ ले कर हम चल सकते हैं? 'गोघ्न' को सजा देने की बात जहाँ आती है वहाँ यह पण्डिताऊ अर्थ काम नहीं देगा। पुराने इतिहास को ऐतिहासिक ढंग से ही ढूँढ़ना चाहिए और तय करना चाहिए कि विकासवाद का भी सार्वभौम सहारा हम ले सकते हैं। लेकिन जहाँ गोरक्षा के लिए सर्व-शक्ति एकत्र करनी है वहाँ ऐतिहासिक बातें खोल कर, शास्त्रार्थ चला कर दो पक्ष खड़े करना मैं इष्ट नहीं मानता। सरकार की मदद ले कर क़ानून हम बना सकते हैं। आज शायद यह ज़रूरी भी होगा। लेकिन मैं स्वयं 'सामाजिक जीवन में कानून का हस्तक्षेप जितना कम हो अच्छा है' इसी पक्ष को मानने वाला हूँ। राज्य शक्ति बढ़ने से सामाजिक-शक्ति शिथिल होती है, क्षीण होती है इस खतरे की ओर भी ध्यान देना चाहिए। लेकिन यह समाज विज्ञान का गहरा सवाल है। आज शान्त चित्त से इसे सोचने के लिए लोग तैयार नहीं हैं यह तो मैं जानता हूँ। अतः खतरे की

ओर इशारा करना ज़रूरी समझ कर ही उस की थोडी चर्चा कर के इस बात को यहीं छोड देता हूँ।

गाय-बैल आदि उपयोगी पशुओं से जो अखण्ड सेवा हम लेते हैं उस का मूल्य चुकाने को अगर हम तैयार हो गये तो गाय हमारी दया का भाजन नहीं बनेगी, बल्कि हम ही गाय-बैल के चिरऋणी और कृतज्ञ हैं यही सिद्ध होगा। गो-सेवा संघ की स्थापना कर के गांधीजी ने जो काम शुरू किया उसे राष्ट्र व्यापी और उत्कृष्ट बनाने के लिए क़ानून की उतनी नहीं जितनी धार्मिकता की आवश्यकता है। क़ानून को अगर निर्जीव नहीं बनाना है तो गो-सेवा की समस्त योजना राष्ट्रीय पैमाने पर अमल में लानी चाहिए, जिस में सब धर्मों के लोगों को हम आहिस्ता-आहिस्ता खींच सकेंगे।

(२६ फ़रवरी १९६७)

गोरक्षकों की कसौटी

मानव जीवन के महत्त्वपूर्ण और व्यापक प्रायः सभी क्षेत्रों को अपने मातहत करने की आकांक्षा आजकल की सरकारें करती हैं। युरोप-अमेरिका के गोरे राष्ट्रों में समाज सत्तावाद चलता है इसलिए हमारे यहां भी चलना चाहिए, यही सोच कर पश्चिमी समाजवाद हमारे यहाँ शुरू किया गया है। उन राष्ट्रों का इतिहास हमारा नहीं है तो भी उन के पुरुषार्थ के उत्तराधिकारी हम बनना चाहते हैं। गांधीजी ने स्वदेशी सर्वोदय के लिए काफ़ी तैयारी की थी। मगर इन पश्चिम के शिष्यों ने वह सब कुछ हटा कर परे रख दी, और कहा कि वह उत्तम आदर्श है किन्तु हवाई है। 'सोशलिज़म' पश्चिम में सिद्ध हो चुका है इस लिए हमारे यहाँ भी सफल होना चाहिए।

हमारे नेताओं ने 'सोशलिज़म' शब्द का रटन तो बहुत किया किन्तु उस के लिए प्रजा-मानस तैयार नहीं किया। प्रजा-मानस तो दूर, राज्य चलाने वाले छोटे-बड़े मन्त्री, राज्यकर्त्ता ऑफ़िसर और कर्मचारी—किसी को भी तैयार नहीं किया। क़ानून बनाते जाते हैं। प्रजा अब परेशान हो कर जो कुछ सीखेगी सो सीखेगी।

जनता दूसरा कुछ सीखे या न सीखे, एक बात सीख गयी है, चुनाव के द्वारा राज्यकर्त्ताओं को बदल देना। कई मरीज़ होते हैं जो अपने रोग के बारे

में जानने की कोशिश नहीं करेंगे, अपनी आदतें नहीं सुधारेंगे, पथ्य का पालन भी नहीं करेंगे। परहेज से उन्हें क्या मतलब ? समय-समय पर डॉक्टर या वैद्य को बदल दो, उन से नयी-नयी दवाइयाँ माँग लो, फिर जो होगा अपने आप होगा। 'यद्भा तद्भा भविष्यति'।

ऐसी सरकार के द्वारा हमारे जीवदया वाले, धर्मनिष्ठ, गो भक्त गाय को और धर्म को बचाना चाहते हैं। आन्दोलन करने का काम हमारा। काम सिद्ध कर के दिखाने का अथवा उस के बारे में रिपोर्ट लिखने का काम सरकार और उस के कर्मचारियों का।

गोहत्या प्रतिबन्धक कानून तो हो जायेंगे। हत्यारे लोगों को सजा भी शायद होगी। सम्भव है कि सरकार की ओर से बूढ़े, बीमार, पंगु गाय-बैलों को रखने के लिए वृद्धाश्रम खोले जायेंगे। पिंजरापोलों को सरकारी ग्राण्ट मिलेगी। खरचा बढ़ने पर लोगों पर काऊ (गो)-टैक्स लगाया जायेगा। और जिस तरह शासन में खाद्यमन्त्री, कृषिमन्त्री उद्योगमन्त्री नियुक्त होते हैं, गोमन्त्री भी स्वतन्त्र रूप से नियुक्त होंगे।

हमें डर है कि इतने से गो का सवाल और हमारा धार्मिक कर्तव्य हल नहीं हो सकेंगे। वास्तव में हमारी चिन्ता के कुछ विशेष सन्दर्भ हैं, जिन का यहाँ उल्लेख करना शायद उपयोगी होगा

१ मनुष्य संख्या के अनुपात में अन्नसंग्रह पूरा नहीं है। प्रजोत्पत्ति जोरों से बढ़ रही है। अन्नोत्पत्ति और कुटुम्ब नियोजन दोनों दिशाओं में जोरों से प्रयत्न करते हुए भी पूरा अन्न खाने को नहीं मिल रहा है। भारत के अन्न माँगने वाले मुख की आर्त्त आवाज दुनिया के सब राष्ट्रों के कानों तक पहुँच गयी है।

ऐसे समय पर अपने मवेशियों के चारे आदि का सवाल भी हमें हल करना होगा। घास और इतर आहार बढ़ाने के लिए कैसे प्रयत्न हो रहे हैं इस के विषय में हम ने कुछ सुना नहीं है। उलटा गाय आदि मवेशियों के लिए अत्यन्त महत्त्वपूर्ण आहार की चीजें बिना सोचे विदेश भेजी जा रही हैं। आज भी शिकायत हो रही है कि दूसरे देशों की अपेक्षा भारत के गाय-बैल दुर्बल हैं। दूध देने की और परिश्रम करने की उन की शक्ति बहुत ही कम है।

अब अगर मवेशियों की संख्या बढ़ी और उन्हें काफ़ी मात्रा में पौष्टिक आहार न मिला तो गाय-बैल दिन-पर-दिन दुर्बल होते जायेंगे। उन से लाभ कम होगा। उन का आर्थिक बोझ देश पर बढ़ेगा।

जब मनुष्य के लिए हम कुटुम्ब नियोजन बना रहे हैं तब गाय बैल के जनन का नियोजन सुव्यवस्थित रूप से कर ही सकेंगे। और उस की कला हरएक किसान को सिखायेंगे, ताकि उन की नस्ल सुधर जाये। फिर तो फकत बूढे और पगु जानवरों का सवाल रहेगा। उन का आर्थिक बोझ सहन करने की शक्ति राष्ट्र को बतानी होगी।

हम ने तो बताया ही है कि गाय-बैल की मेहनत से होने वाला कुल मुनाफ़ा आज मनुष्य खाते हैं। वह सारा मुनाफ़ा गाय-फण्ड में जमा हो जाये तो गाय की चिन्ता नहीं करनी पडेगी, क्योंकि गाय स्वाश्रयी बनेगी। गाय-बैल के हक का मुनाफा जब गो-वश को देंगे तब मनुष्य की, खासकर के किसानो की उतनी आमदनी कम होगी। इस से वे लोग नाराज होंगे। लेकिन न्याय तो गाय के पक्ष में रहेगा।

२ मवेशी के लिए अत्यन्त जरूरी पौष्टिक आहार जो विदेश जाता है उसे तुरन्त रोकना होगा। तभी जा कर खेती का सवाल हल होगा और हमारे बाल-बच्चो को अच्छा और पूरा दूध मिलेगा।

३ यहाँ तक हम धम की बात नहीं ले आये। बैलों की सेवा और गायों का दूध हिन्दू मुसलमान, ईसाई आदि सब के लिए जरूरी है। इसलिए भारत वासियों को गाय-बलो के प्रति अपने कर्तव्य का स्वीकार करना ही चाहिए यही है आज की भूमिका।

लेकिन राज्यकर्ता कुछ भी सोचें गोरक्षा आन्दोलन करने वाले गोभक्तो ने धम के नाम से ही लोकमानस को जाग्रत किया ह। गाय-बैल के प्रति मनुष्य का जो मानवीय कर्तव्य ह, उस का प्रचार ग़रहिन्दुओ में आज तक हम ने नही किया। लेकिन अब करना होगा। बडी खूबी से करना होगा। नही तो झगडे ही झगडे खडे होंगे।

हम तो कहते आये हैं कि गोवश के प्रति हमारा जो कर्तव्य—धम है उस धम का प्रचार हमें सारी दुनिया में करना चाहिए। अगर ईसाई लोग धमनिष्ठा से प्रेरित हो कर अपने धम का प्रचार बडी हिम्मत और निष्ठा के साथ सारी दुनिया में करते आये हैं तो गोरक्षा और गोसेवा धम को दुनिया में फैलाने का काम हम क्यों न करें? किसी ने नहीं कहा कि ईसाइयो की धमनिष्ठा से हिन्दुओं की धमनिष्ठा कम है। अगर अपने धम पर विश्वास है और गोपाल श्रीकृष्ण को हम जगद्गुरु मानते हैं तो गोभक्तों को सारी दुनिया में भेजने का हमारा प्रथम धम ह।

स्वीकार किया और उसने हिंदू-समाज को चुनौती दी कि मैं ईसाई हुआ हूँ जरूर, किन्तु मेरा खान पान आदि व्यवहार केवल ब्राह्मणों के साथ ही रहा है। मैं ने हिंदुओं के सामाजिक नियमों का प्रकट रूप से या खानगी तौर पर तनिक भी उल्लंघन नही किया है। मुझे आप किस आधार पर बहिष्कृत या पंक्तिबाह्य कर सकते है? मैं ने ईसाई धर्म की दीक्षा ली, इस में शंका नही। लेकिन ईसाई बनने से मेरा हिंदुत्व कैसे नष्ट हो सकता है? रोटी बेटी व्यवहार में मैंने कुछ भी भ्रष्टाचार नही किया। इसलिए हिन्दू भी हूँ।

बडा पेचीदा सवाल था।

लोकमान्य तिलक ने अपनी बुद्धि चला कर हिंदू का लक्षण बांध लिया—

'प्रामाण्य बुद्धिर वदेषु साधनाना अनेकता।
उपास्यानाम अनियम एतत हिंदुत्वलक्षणम॥

इस में पहला लक्षण तो केवल आस्तिकों का है। बाकी के दो लक्षण बंधन का अभाव बताते हैं। हिंदू बौद्ध, जैन, सिख, आर्यसमाजी ब्राह्मसमाजी आदि सब मिल कर हिंदू समाज बनता है। इन में अंदर-अंदर शादी-व्यवहार होने में जाति की कठिनाई आती होगी। मनुष्य समाजबाह्य नही होता और अब तो हिंदू लोग मुसलमान, बौद्ध ईसाई आदि समाज के साथ शादियाँ कर के भी समाजबाह्य नही होते। आज चीन, जापान, ब्रह्मदेश, युरोप, अमेरिका किसी भी देश के लोगों से शादी करने से हिंदू अपने समाज से बहिष्कृत नहीं होता। अगर कोई जान-बूझ कर हिंदू-समाज से बाहर जाना चाहे अपने को अहिंदू कहने का आग्रह रखे तो बात अलग है, वरना हिन्दू किसी भी हालत में हिंदू रह सकता है। यह बात सामाजिक नेता स्पष्ट रूप कबूल करें या न करें, सिद्ध हो चुकी है।

हिन्दूओं का समाजविज्ञान क्या है, इसका भी अध्ययन करना आवश्यक है। अध्यात्मशास्त्र, धर्मशास्त्र और समाजशास्त्र परस्पर सम्बद्ध होते हुए भी हमारे लिए अलग जगह है। और इन में परस्पर विरोध होने के बावजूद हम लोग इस मुद्दे पर विचार करने के प्रति उदासी है जब कि यह जरूरी है।

संस्कृत भाषा और साहित्य ही हमारी सांस्कृतिक एकता समृद्धि और भविष्य की बुनियाद है। संस्कृत साहित्य हमारे पुरखों की सारी दुनिया के लिए गौरवास्पद देन है। अध्यात्म, तर्कशास्त्र, साहित्य मीमांसा, कला की अभिव्यक्ति, शब्दशास्त्र आदि विषयों में आज भी हम दुनिया के सामने बहुत-कुछ रख सकते हैं। गणित ज्योतिष, वनस्पतिशास्त्र, वैद्यक संगीत आदि विषयों में हमारी

प्राचीन प्रगति और उपलब्धि दुनिया के लिए आदरणीय है। लेकिन जिस विषय पर हमने अधिक से-अधिक ब्योरेवार चिंतन किया है, लेकिन जिस का विधिवत विज्ञान हम लोगों ने लिखा नहीं है, वह है हमारा समाजशास्त्र।

चार वर्ण, चार आश्रम और त्रिगुण व्यवस्था की बुनियाद पर हम लोगों ने एक विशाल और वास्तविक समाजशास्त्र बनाया था। यहाँ के भिन्न भिन्न सामाजिक भूमिका वाले आदिम जाति के लोगों का जीवनक्रम सहानुभूतिपूर्वक समझ कर हम लोगों ने उन्हें धीरे धीरे—अत्यंत धीरे धीरे—आत्मसात करने के अनेक प्रयोग भी किये।

चातुर्वर्ण्य की पकड़ हमारे आदि मानस पर सर्वोपरि रही। तो भी अनेक वंश के और कुनबे के लोगों के जीवन का आदर और सांस्कृतिक पेशे के जीवन विकास का ख्याल करते हम लोगों ने अपनी चातुर्वर्ण्य व्यवस्था को भी गौण बनाया और उस की जगह विशाल जटिल किन्तु सामंजस्यपूर्ण जाति-व्यवस्था का विस्तार किया और इन—सहजीवन, सहचार और सहयोग—का एक व्यावहारिक समन्वय भी बना दिया।

यह सही है कि भविष्य में हमारी वह भारतीय समाज-व्यवस्था चलेगी नहीं, किन्तु हजारों बरसों से लगातार निष्ठायुक्त जो प्रयोग हमने किये उन का गहरा अध्ययन दुनिया को करना ही पड़ेगा और उस में से बहुत ही कीमती बोधपाठ दुनिया को लेने ही पड़ेंगे।

वंश हो, पंथ हो, कुनबा हो या गोत्र हो, हर एक की आंतरिक जीवन व्यवस्था की, स्वायत्तता की रक्षा हमने की है। लोक-जीवन के प्रति हमने जितना आदर दिखाया है उतना और किसी दूसरी संस्कृति ने नहीं दिखाया। अनेक धर्म, अनेक वंश और अनेक राष्ट्र और अनेक विचारधारा या जीवनधारा में विभक्त इस दुनिया को अगर सहअस्तित्व का व्याकरण बनवाना है तो उसे भारतवर्ष के प्राचीन और मध्ययुगीन सामाजिक प्रयोगों का आदर के साथ अध्ययन करना ही पड़ेगा।

प्रत्येक जाति की पंचायतों ने जो भी 'उच्चावच' रिवाज चलाये होंगे, उन का अध्ययन भी साथ साथ करना होगा और अपने पुराणों तथा लोककथाओं में जो भी मसाला समाजशास्त्र के लिए और लोक-जीवन को समझने के लिए उपयोगी होगा उसे भी इकट्ठा करना हमारा काम है।

जब हम संस्कृत की बात करते हैं तब वैदिक और पाणिनीय संस्कृत का ही नहीं, किंतु पाली अर्धमागधी शौरसेनी, महाराष्ट्री पैशाची आदि प्राकृत भाषाओं का और उस के साहित्य का भी उस में अंतर्भाव करते हैं। संस्कृत

साहित्य में से समाज विज्ञान के लिए मसाला इकट्ठा करने की बात जब हम कहते हैं तब पाली, अर्धमागधी आदि भाषाओं में बौद्ध संघ का और जैन गच्छ का इतिहास ढूंढने की बात भी उस में शामिल होनी चाहिए। साथ ही भारत की जो अनेकानेक जाति-संस्थाएं हैं उन के अलिखित रसम-रिवाजों का अध्ययन भी हमें अभीष्ट है।

ऐसे विशाल संस्कृत-साहित्य का आलोडन और मन्थन कर के उस में से समाज विज्ञान के नियम और उन्हें प्रेरणा देने वाले सिद्धांत इकट्ठा करने के लिए एक अखिल भारतीय संस्था की स्थापना होनी चाहिए। यदि एक बार हमने इस दिशा में प्रयत्न शुरू किया और प्राथमिक विचारणा की नींव डाली तो दुनिया के समाजशास्त्री और मानव-कल्याण का चिंतन करने वाले मनीषी उस में से हजारों अच्छी-अच्छी चीजें संगठित कर के हमारे सामने रखेंगे और समाजशास्त्र के लिए एक नये युग का प्रारम्भ होगा। बाबू भगवानदास जी ने इस क्षेत्र में कुछ काम किये हैं, दिशा निर्देश भी दिये हैं।

भविष्य के लिए कम-से-कम दस-पन्द्रह बरस का हमारा कार्यक्रम यही हो कि—संस्कृत, पाली, प्राकृत आदि साहित्य में पाये जाने वाले समाजविज्ञान को (सोशियोलॉजी को) सामग्री को व्यवस्थित और शास्त्रीय रूप दिया जावे।

(२६ मई १९५१)

समाज विकास के मूलभूत तत्त्व

गीता ने मनुष्य-समाज के मुख्य दो विभाग माने हैं—दैवी और आसुरी

'द्वौ भूतसर्गौ लोकेऽस्मिन्
दैव आसुर एव च।'

और फिर कहा है कि—

'दैवी सम्पद् विमोक्षाय
निबन्धायासुरी मता।''

दैवी सम्पत्ति के कारण मनुष्य का विकास होता है और धीरे धीरे समाज विनाशक दुर्गुणों से वह मुक्ति पाता है। आसुरी सम्पत्ति समाज के स्वार्थ, अहंकार, मत्सर इत्यादि समाजद्रोही गुणों को ज्यादा से ज्यादा पोषण देती है। भोग और ऐश्वर्य में अपने मन को पिरो कर लोग अंधे बन जाते हैं, सच्चा ज्ञान खो

बैठते हैं और अंत में उन की अधोगति हो जाती है। अनियंत्रित काम, क्रोध और लोभ इन तीनों को स्वीकार करने पर समाज को अवनति ही होगी। नरक के द्वार रूप इन तीन दुगुणों का सतत विरोध करने से ही संस्कृति टिक सकती है।

केवल जीने से जिस तरह व्यक्ति का जीवन कृतार्थ नहीं होता, समाज का भी ऐसा ही है। जीना, भोगना, जीतना और टिकना इतने से ही समाज कृतार्थ नहीं बन सकता। समाज की महत्वाकांक्षा, समाज की प्रवृत्ति अथवा पुरुषार्थ, समाज की ज्ञानराशि, किसी महान् उद्देश्य की ओर दौड़ रहा हो, जीवन को कृतार्थ करने वाला हो, मनुष्य जाति का चित्त उसी के ध्यान में मग्न हो, तभी कहा जा सकता है कि जीवन में कुछ प्रवृत्ति है, सफलता है। जिन लोगों के सामने यह वस्तु नहीं वे आसुरी सम्पत्ति वाले हैं। वे— मोघाशा मोघकर्माणो, मोघज्ञाना विचेतस "—हैं ऐसा गीता ने कहा है।

ऊपर के विवेचन पर से हम देख सकते हैं कि गीता का समाजशास्त्र दैवी सम्पद् और आसुरी सम्पद के विभाग में ही समाया हुआ है। दैवी सम्पत्ति में समाज के स्थय और अभिवृद्धि के सब लक्षण आ गये हैं, जब कि आसुरी सम्पत्ति में विजय और ऐश्वर्य के आभास से मनुष्य किस तरह अंधा बन जाता है, जीवन रहस्य कैसे भूल जाता है और अन्त में उस का किस तरह नाश होता है, यह बताया गया है। यह मान कर कि अध्यात्मशास्त्र या वेदांतविद्या परलोक के लिए ही है, इहलोक की वह विरोधी है, हम आजकल उस के बारे में बहुत उदासीन बन गये हैं। लेकिन उपनिषदों ने साफ साफ कहा है कि इहलोक और परलोक के बीच इस तरह का विरोध हो ही नहीं सकता। इहलोक में जो नालायक साबित हुए, परलोक सिधार कर वे अनायास प्रतिष्ठित हो जायेंगे यह हो ही नहीं सकता। जैसा यहाँ वैसा ही वहाँ, जैसा वहाँ वैसा ही यहाँ। जो इन दो के बीच विरोध देखते हैं वे एक विनाश में से निकल कर दूसरे विनाश में उतर पड़ते हैं, यह स्वयं यमराज ने भी कहा है। धर्म के बारे में श्री शंकराचार्य ने भी यही कहा है कि धर्म की शक्ति द्विविध होती है। इहलोक का अभ्युदय और पारलौकिक कल्याण, जो इन दोनों को प्राप्त कर सके वही धर्म है धर्म के बारे में 'नाना' यानी परस्पर विरोध हो ही नहीं सकता, यह बात मनुष्य को अपने हृदय में विचारपूर्वक बठानी ही चाहिए

"मनसैवेदमाप्तव्यं नेह नानास्ति किंचन।"

हमारी मान्यता है कि मनुष्य पूर्वसंस्कारों के कारण विशिष्ट जन्म लेता है और उस मर्यादा या बंधन में रह कर ही उस को अपना विकास करना होता

है। जब देह कुटुम्ब और समाज की मर्यादा में रह कर वह पुरुषार्थ करता है, तब या तो वह अपने पुराने कपड़े ज्यादा से ज्यादा दृढ़ बनाता है और अपनी शक्ति क्षीण करता है, या कर्म-द्वारा सब संकुचितता से छुटकारा पा कर अधिक व्यापक जीवन के लिए अनुकूल बनता है। व्यक्ति के समान समाज भी विकासशील है और दोनों का ध्येय एक ही हो सकता है।

व्यक्ति का आदर्श अलग और समाज का आदर्श अलग ऐसा भेद नहीं होता है। अत 'व्यक्तिवाद या समाजवाद' के इस झगड़े में कोई अर्थ नहीं है। व्यक्ति या समाज अपना विकास साध कर किस दिशा में प्रगति करना चाहता है यह अगर पहले से ही निश्चित हो तो युरोप के समाजशास्त्रियों में दीर्घकाल से चलता आया यह झगड़ा कितना अर्थहीन है यह सहज ही समझ में आ जाता है।

पुरुषार्थ यानी विघ्नों पर विजय। मनुष्य के स्वभाव में ऐसी भी एक वृत्ति है जो जीवन को जीवन साफल्य की ओर ले जाती है, और ऐसी आत्मघात की वृत्तियाँ भी हैं जिनके कारण जीवन का उद्देश्य ही समाप्त हो जाता है। इन दूसरी वृत्तियों को विकृति या विकार कहा जाता है। स्वार्थ, संकुचितता विरोध, वैर, द्रोह, हिंसा, अभिमान आदि विकारों से जीवन प्रयोजन नष्ट भ्रष्ट होता है और मनुष्य कहीं अधिक मुसीबतों में फँस जाता है।

गीता में वर्णित समाज विकास के मूलभूत तत्त्वों का अब हम विचार करें—

अभय

समाज का विकास सब के साथ भावयुक्त ऐक्य साधन में है ऐसा गीता का कहना है। इस से अधिक व्यापक, उदात्त और व्यवहारी आदर्श दुनिया के किसी भी दर्शन या धर्म ने मनुष्य-समाज के आगे नहीं रखा है। सब के साथ सम्पूर्ण ऐक्य का अनुभव करना—यही है सच्चा विश्वजित यज्ञ। जहाँ भेद रहा वहाँ विजय असम्भव है। जहाँ भेद है वहाँ भय है ही। भेद को निकाल देना हो तो पहले अभय को प्राप्त करना चाहिए। अत गीता ने दैवी सम्पत्ति के गुणों की चर्चा करते समय 'अभय' को पहला स्थान दिया है।

उपनिषद के अनुसार— *द्वितीयाद् वै भयं भवति* ।—अभय के दो प्रकार हैं। मनुष्य अपने जीवन की रचना इस तरह कर के रखे कि वह खुद किसी से डरे नहीं और किसी को उस से डरने का कारण न रहे। ये दोनों जब सधते हैं तभी मान सकते हैं कि अभय प्रतिष्ठित हुआ। इन दोनों पहलुओं का विकास फ़कीरी-बेफ़िक्री के बगैर नहीं हो सकेगा। मैं किसी से भी तभी नहीं डरूँगा जब कि मुझे यक़ीन होगा कि मेरा असली सर्वस्व कोई भी लूट नहीं सकता, या जिन

को लोग लूट सकते हैं ऐसी चीजें मेरे जीवन विकास में कुछ महत्त्व ही नहीं रखती। 'हू स्टील्स माई पर्स स्टील्स ट्रॅश'—ऐसा कहने वाला आदमी इस बात को जरूर कुछ हद तक जानता था। लोग लूट-लूट कर क्या लूटेंगे ? सम्पत्ति, कीर्ति, प्रतिष्ठा स्थान या सम्बन्ध ? और यह मर्त्य शरीर इतना ही लूट सकेगा। वीर इन चीजो की परवाह नही करते।

मुझ से कोई न डरे—यह वृत्ति अपनाने के बाद यानी किसी का भी नुकसान अपने हाथ से न हो, इस दृष्टि से जीवन की रचना करने से सम्पूर्ण समाधान का लाभ होता है। इतना होते हुए भी लोग हमसे नही डरेंगे, यह नही कहा जा सकता। क्योंकि मनुष्य संशयी प्राणी है। जहाँ डरने-जैसा कुछ भी न हो वहाँ डरता है। लेकिन जो आदमी किसी को डरने का मौका ही नही देता वह धीरे धीरे समाज का अत्यन्त हितकर्त्ता साबित होता है।

कर्ता आदमी हमारा कुछ भी बिगाडने वाला नहीं हैं इतना यकीन होने के बाद उस का लाभ लेने वाली विभूतियाँ दुनिया में मौजूद होती ही है। ऐसे लोगों के बारे में अभय का पहला भाग यानी किसी से भी डरना नही क्योकि कोई भी हमारा सही मानो में नुकसान नही कर सकता, यह वृत्ति ही रखनी पडेगी।

आत्मरक्षण की वृत्ति व्यक्ति या समाज में इस हद तक व्याप्त है कि आत्म बलिदान के असख्य प्रसगों को मनुष्य टाल ही देता है। आत्म-बलिदान ही विकास की खुराक है। वह आवश्यक प्रमाण में समाज को नहीं मिलती इस लिए समाज का चारित्र्य इतना दुर्बल है। आत्म बलिदान जब सहज और स्वाभाविक बन जायेगा तब देखते-देखते समाज उन्नत अवस्था को पहुँच जायेगा। डरपोक और डराने वाला दोनो जानते है कि निर्भय मनुष्य ही समाज का हीर है—भीर है। केवल सख्या, सत्ता या सस्कारिता से ही कोई समाज आगे बढा है यह नही कहा जा सकता। जहाँ अभय है वही विकास होता है, प्रगति होती है।

अभय के अर्थ पर बार-बार सोचना उचित होगा। मैं किसी से डरता नही, मुझे किसी की परवाह नहीं इस प्रकार के उद्घोष करते रहना अभय का लक्षण नही है। मनुष्य का जीवन ही ऐसा होना चाहिए कि उस के समक्ष भय की स्थिति ही न आये। लोभ, भोग-लालसा आदि मनुष्य में जब तक हैं तब तक वह निर्भय नही, और जो खुद निर्भय नही वह औरों को क्या निर्भय करेगा ? जो तृप्त, अकिंचन या विरक्त है वही निर्भय हो सकता है और वही औरों को भी अभयदान दे सकता है क्योंकि तृप्ति या विरक्ति में से ही समाधान का वातावरण हम पा सकते हैं।

समाज की दृष्टि से—मनुष्य जाति की दृष्टि से—समाधान ही एक मुख्य वस्तु ह जिस की आज दुनिया को बहुत जरूरत ह। मेरी उन्नति पूरी-पूरी नही हुई ह, ज्ञान के कितने ही क्षेत्रो में अभी सचार करना बाकी ह, द्वेष मत्सरादि शत्रुओ पर अभी तक विजय नही पा सका हूँ ऐसी ऐसी बातों के लिए मनुष्य को अस तोष जरूर रहना चाहिए। लेकिन भोगस्वय के बारे में अस तोष बढ़ा कर दुनिया किसी भी दिन सुखी होने वाली नही है। आज दुनिया के विभिन्न समाजो के मानस का जाँचें तो वे या तो भयभीत दशा में ह या दूसरा को भय भीत करने की तयारी में ह। यह कतई प्रगति का लक्षण नही है। इसी लिए अभय द्विविध अभय—समाज के स्थय और उत्कर्ष के लिए अत्यन्त आव श्यक ह।

सत्त्व सशुद्धि

आज कल सब कोई मानते ह कि शिक्षा बिना समाज सुव्यवस्थित नही रह सकेगा। जिस तरह बतन रोज माँजने चाहिए, शरीर को रोज नहलाना खिलाना चाहिए, उसी प्रकार समाज को अभय का भी शिक्षण मिलना ही चाहिए। उसी शिक्षण का आदश सत्त्व सशुद्धि और ज्ञान-योग-व्यवस्थिति में आ जाता है। सत्त्व सशुद्धि यानी हृदय इच्छा हेतु, वासना, आदश इन सब की शुद्धता। यह जिस हद तक साध्य हुई हो उस हद तक समाज सुधरा हुआ गिना जायेगा।

सत्त्व-सशुद्धि के लिए पुराने जमाने में धर्मोपदेशक बहुत प्रयत्न करते थे, आज विद्वान् और समाज सेवक प्रयत्न करते ह। और अब तो एक ऐसा भी वग पैदा हो रहा ह कि जो ऊपर के दोनो वर्गों की निष्फलता देख सत्त्व-सशुद्धि के प्रयत्न ही व्यथ है—ऐसा मानने और कहने लगा ह। अपने-आप कुछ सत्त्व सशुद्धि भले होती रहे। एक बात और सत्त्व-सशुद्धि के लिए विशेष प्रयास व्यक्तिगत तौर पर भले होते रहें लेकिन सामाजिक प्रयास से वह नही हो सकेगी॥ ऐसे प्रयास होने चाहिए—यह कहने और मानने वाला भी एक पन्थ ह।

लेकिन सत्त्व-सशुद्धि के लिए सामाजिक पुरुषाथ हो सकता है और वह होना चाहिए वरना प्राप्त किया हुआ ज्ञान और विकसित की हुई शक्ति समाज को नष्ट करने के काम में लायी जायेगी। इस तरफ किसी का ध्यान नही जाता ह। इस लिए राष्ट्र युद्ध की तयारियाँ बढ़ाते ही जाते हैं, व्यापारी और उद्योग पति घातक स्पर्धा चलाते हैं और शिक्षण के स्रोतो को मूल में ही कलुषित किया

जाता ह। पुराने धर्मोपदेशकों ने और आज के चद अध्यापकों ने सत्त्व संशुद्धि का प्रयत्न किया इस में कुछ गलत नहीं हुआ। किन्तु अखण्ड प्रयत्न के बिना संस्कृति टिकने वाली नही ह। और यह भी ध्यान में रखना होगा कि सत्त्व-संशुद्धि के प्रयत्न में शब्दो की शक्ति परिमित होती है। शब्द अर्थों का वहन करते ह। निश्चय, चारित्र्य या सकल्प शब्दो में नही होते। उन को उपयोग में लाने वाला के जीवन में से आते ह। अत जीवन प्रयत्न के अभाव में शब्द यदि प्रभावहीन हो जायें तो सत्त्व संशुद्धि के प्रयोग भी न किये जायें—यह अनुचित भी होगा।

(सितम्बर १९६१)

सुधारों का मूल

रेल की यात्रा में कई बार भीड न होने पर भी लोग झगडा करते हैं। हर एक आदमी यदि अपने लिए पर्याप्त जगह ले कर भी बैठ जाये तो सभी लोग आराम से बैठ कर यात्रा कर सकते ह। लेकिन कुछ लोग अकारण स्वार्थी और मनुष्य शत्रु होते हैं। लड कर जितनी जगह रोक सकता हूँ उतनी रोक लूँ तभी चैन की साँस लूँ—यह उन की आदत होती ह। भले ही ऐसा करने में बैठने की सुविधा धूल म मिल जाये और स्वय उन्हें ही अधिक दुःख भुगतना पडे। सीट पर अधिक जगह रोकने के लिए वे पलथी मार कर बैठते हैं और पलथी को इतनी चौडी करते ह कि साँधो में दर्द शुरू हो जाये। जब तक अपने पैर का स्पर्श दूसरे को नही होता तब तक अपना स्वार्थ पूरी तरह से साध्य हुआ ऐसा विश्वास उन को नहीं होता। ऐसा करने के बजाय अगर प्रत्येक आदमी सज्जनता से एक दूसरे की सुविधा के बारे में जागृत रह कर सन्तोषवृत्ति से काम ले तो किसी को तकलीफ नही होगी और सब आराम से मुसाफिरी कर सकेंगे।

शहरो और गावो में भी लोग जब घर बनाते हैं तब, पडोसी-पडोसी के बीच झगडा खडा हो ही जाता ह। वहाँ भी लोग सुख-दुःख का या सुविधा असुविधा का विचार छोड कर स्वार्थ धर्म के प्रति वफादार रहने के लिए हो बहुत दफा लड लेते ह। एक बालिश्त जमीन पडोसी को देने से अगर मेरा कुछ खास नुकसान न होता हो और मेरे पडोसी को उस से काफी सुविधा हो सकती हो, तो भी मैं उतना स्वार्थ भी कस छोड सकता हूँ? मेरा जी ही नही मानेगा।

और अगर शायद मुझे इतनी सद्बुद्धि सूझी तो मेरे रिश्तेदार या अड़ोसी-पड़ोसी मुझे दुनियादारी का ज्ञान सिखाने के लिए अवश्य पधारेंगे : "क्या भूप बन गये हो? इस तरह दानेश्वरकर्ण बन कर परोपकार करते जाओगे तो लोग तुम्हें देखते देखते फकीर भिखारी बना डालेंगे। बालबच्चों के लिए भी कुछ रखना है या नहीं? अगर उस का काम रुका है तो माँग लो उस के पास से पाँच-सात सौ रुपये। अगर न देना हो तो भाड़ में जाये। हमें क्या गरज पड़ी है! अपनी जमीन अपना स्थान छोड़ कर थोड़े ही भाग जाने वाली है?" बस, स्वार्थ धर्म का यह फरमान तोड़ भी कैसे सकते हैं? स्वार्थ धर्म के आगे पड़ोसी धर्म फीका पड़ जाता है या मर जाता है। इसीलिए इस युग का नाम पड़ा है कलियुग। कलि यानी कलह।

दो कुटुम्बों के बीच विवाह सम्बन्ध होने के समय भी यही हालत होती है। जो पराये थे वह सम्बन्धी हुए इसलिए वहाँ तो प्रेमधर्म का व्यवहार शुरू हो जाना चाहिए लेकिन नहीं, वहाँ पर भी व्यवहार की रीति के झगड़े खड़े होंगे। मानपान के बारे में एक भी रस्म छूट नहीं जानी चाहिए। सेठ के यहाँ गालियाँ भी सुननी पड़ती हैं, वहाँ कुछ बिगड़ नहीं जाता, लेकिन समधी के पास से तो रीति के अनुसार सब-कुछ मिलना ही चाहिए। वरना दूल्हे को वापस जाने की धमकी दी जायेगी। विवाह का मंगलाचरण ईर्ष्या और द्वेष से शुरू होगा! यही स्थिति होती है जाति-जाति के बीच। परस्पर अविश्वास और स्वार्थ छोड़ने की कायरता सब जगह फैली हुई है।

जब घर घर में, जाति जाति के बीच यही हालत है तो राष्ट्रों राष्ट्रों के बीच न इस से भिन्न और क्या होगा? पड़ोस का राष्ट्र कमजोर हो तो उस के ऊपर चढ़ाई करनी चाहिए बलवान हो तो हमेशा उस से डरना चाहिए और उस के खिलाफ साजिशें करनी चाहिए। पड़ोसी अगर तुल्यबल रहे तो झगड़ा मिटा ऐसा थोड़े ही है? समानता को मनुष्य पसन्द कैसे करे? कुछ विशेषता श्रेष्ठता पाने की कोशिश तो होती ही रहेगी इसलिए वहाँ पर भी अविश्वास और विरोध खड़ा हुआ। हरएक पक्ष यही कहेगा कि आत्मरक्षा के लिए, बचने के लिए हमें इतना तो करना ही पड़ेगा। दो प्रबल राष्ट्रों के बीच अगर छोटा-सा राष्ट्र हो तो प्रबल राष्ट्र सोचता है कि यदि मैं ने इस को नहीं खाया तो सामने वाला तो खाये बगैर नहीं रहेगा। और फिर इस को खा कर बलवान् बन कर वह हम पर चढ़ाई भी करेगा। इस से बेहतर है कि मैं ही इसे हड़प जाने का अन्याय करूँ। इसी तरह साम्राज्य बढ़ते हैं। सौभाग्य से अब परिस्थिति कुछ बदली हुई है।

स्वार्थ और अन्याय की यह प्रथा आज यूरप में सार्वत्रिक हो गयी है और इसी सिद्धांत पर उन की राजनीति चलती है। इसलिए ऐसा मानना कि यही मानव-स्वभाव है ठीक नहीं होगा। आज भले ही सुव्यवस्थित पशु शक्ति को यूरप सुधार माने, लेकिन सच्चा सुधार तो प्रेमधर्म में—पड़ोसी धर्म में ही है। इस पड़ोसी धर्म का हमें श्रद्धापूर्वक विकास करना चाहिए। जो सज्जनता बरतते हैं उन के साथ दोस्ती और जो दुर्जन बन गये हैं उन के खिलाफ असहकार—यही प्रेमधर्म का नियम है। प्रेमधर्म सहानुभूति दिखाता है, मदद देता है, लेकिन दीन बन कर मदद की अपेक्षा नहीं रखता। प्रेमधर्म निर्भय होता है और इसलिए वह अमर्याद होता है। हम जिस पर प्रेम करते हैं उस की शक्ति बढ़ने से हमें डर नहीं लगता। बरखिलाफ़ इस के, जिस के साथ हमारी दोस्ती है वह जितना दुर्बल होता है उतनी हमारी शक्ति कम होती है।

जहाँ अविश्वास का वातावरण होता है वहाँ उसे दूर करने के लिए प्रेम असाधारण धीरज और सहिष्णुता से काम लेता है, नम्र हो कर उन्नत बनता है और बहुत-सी वस्तुओं को त्याग कर विजयी बनता है। प्रेमधर्म में सहन करना पड़ा तो भी थोड़े दिनों के लिए, लेकिन उस की विजय अक्षय होती है। इस प्रेमधर्म का प्रचार कुटुम्ब से ले कर राष्ट्रों राष्ट्रों के बीच के सम्बन्धों तक फैलाना चाहिए। यही सब सुधारों का मूल है और फल भी।

(२० अगस्त १९५७)

सामाजिक सद्भाव का स्वरूप

सौ दो सौ वर्ष हुए, मानवजाति समाज-व्यवस्था या राज्य-व्यवस्था के अनेक प्रयोग करती आयी है। कुछ-न-कुछ आदर्श नजर के सामने रख कर उसे प्राप्त करने के लिए समाज-व्यवस्था में क्या-क्या तब्दीली करनी चाहिए, या राज्याधिकार किन किन के हाथ में कितने प्रमाण में होने चाहिए, इस का चिन्तन विवरण मनीषियों ने बहुत किया है। और पुरुषार्थी प्रजाओं ने उस के प्रयोग भी बहुत किये हैं। ऐसे प्रयोग करने के लिए प्रजाओं ने महंगी क्रान्तियाँ भी कर देखी हैं। लेकिन अभी तक सन्तोष या पूरी सफलता प्राप्त नहीं हुई है।

पुराने लोग रचना या व्यवस्था-जैसी बाह्य और तांत्रिक वस्तु का महत्त्व कम समझते थे। उन का कहना था कि समाज को अगर अच्छी तरह से चलाना

ह, शांति, सुस्थिति और प्रगति के लिए अनुकूलता चाहिए, तो समाज में रहने वाले व्यक्तियो का स्वभाव भी सामाजिक ढग का होना चाहिए। सामाजिक सदगुण बढे तो समाज की सुस्थिति के बारे में चिंता करने की नौबत नही आयेगी। जो ह सो सामाजिक सद्गुण में ही है।

ऐसे सामाजिक सदगुणो का परिगणन दुनिया के नेताओ ने समय समय पर किया है। 'दशक धमलक्षणम' कह कर मनु भगवान ने मानो जीवन सस्कृति की बुनियाद बनायी।

योगशास्त्र का विधान करते पतजलि महामुनि ने प्राचीन यमनियमो का परिगणन किया। इन यमनियमो का स्थान बौद्ध धम चर्चा में और जैन धर्मोपदेश में पाया जाता ह। दुनिया से विरक्त हो कर अपना एक निजी जीवन विकसित करने वाले सन्तो ने भी यम नियमो पर जोर दिया ह। महात्मा गान्धी ने भारतीय राष्ट्र की कमजोरी दूर करने के लिए जो ग्यारह आश्रमव्रत सुझाये उन में भी योगशास्त्र में बताये हुए पाच यम तो आये ही ह। इधर भगवदगीता में, समाज के अभ्युदय के लिए जिन छब्बीस सदगुणो की आवश्यकता ह उन का जिक्र और वणन दवी सम्पत के रूप में दिया ह।

यह सारा विस्तार बताता ह कि भारत का अध्यात्म और भारत का समाजशास्त्र जिन लोगो ने विकसित किया वे सब दुनिया के उद्धार के लिए इन सद्गुणों पर ही सारी मदार रखते थे। अब आदश जनसमाज की स्थापना करनी हो तो समाज के घटकरूप व्यक्तियो को अपने सारे जीवन व्यवहार में एक-दूसर से किन वत्तियो के साथ पेश आना चाहिए इस का भी विस्तार योग शास्त्र में और जीवन विद्या में किया ह।

इन चार बुनियादी वृत्तियों को बौद्धों ने ब्रह्मविहार का नाम दिया ह। सामाजिक जीवन में आमवृत्ति के लोग जिन वृत्तियो से काम लेते ह उन वृत्तियो को भी ब्रह्मविहार कहा गया ह। क्या वेद विद्या के आद्य सरक्षक और सग्राहक ब्रह्मदेव के चार मुख सचमुच ये ब्रह्मविहार ही ह?

मैत्री, करुणा, मुदिता उपेक्षा ये ह मिल कर ब्रह्मविहार। सब मानवो के अथवा सब जन्तुओं के प्रति सद्भाव की वृत्ति रखना मत्री है। इन में भी जो लोग या जो प्राणी दुखी हैं हम से बुरी हालत में ह उन के प्रति दयाभाव रखना करुणा ह। जो लोग सद्भाग्य से अच्छी हालत में ह कुछ अच्छी सहूलियतें प्राप्त करते हैं उन की स्थिति देख कर, ईर्ष्या, असूया, मत्सर नहीं करना, मन में नहीं जलना, लेकिन उन्हें अपना भाई समझ कर, उन्हें खुशहाल देख कर सन्तुष्ट प्रसन्न होना ही मुदिता ह। और जो लोग बुरे ह समाजकण्टक हैं, या अपना

द्वेष करते हू उन के प्रति मन में चिढ़, तिरस्कार या द्वेष न रखते हुए उन का अहित करने की नीयत न रखते हुए, केवल उपेक्षा से और कुछ तितिक्षा से उन की ओर पेश आना यह है उपेक्षावृत्ति। बुरे-से-बुरे आदमी के प्रति भी अधिक कठोर नही होना, उपेक्षा तक जा कर ठहर जाना इस आयवृत्ति को, सज्जनता की स्वाभाविक मर्यादा को, उपेक्षा कहा गया है। योगसूत्र के अनुसार सुख के प्रति मत्रीभाव रखना, दुःख के प्रति करुणाभाव रखना, पुण्याचरण, सदाचार के प्रति मुदिता यानी प्रसन्नता रखना और अपुण्य, उन्नति विरोधी, समाजविघातक तत्त्वो के प्रति केवल उपेक्षा से पेश आना ही चित्तशुद्धि, समाज शुद्धि और उत्कर्ष का साधन है।

अपुण्यवृत्ति के प्रति, दुराचार के प्रति केवल उपेक्षाभाव रख कर, ब्रह्मवृत्ति धारण कर कसे सुपरिणाम ला सकते है इस का नमूना गाधीजी ने अपने असहयोग आन्दोलन के द्वारा, समय समय के सत्याग्रह के द्वारा और नोआखाली में शीतल ब्रह्मास्त्र के प्रयोग के द्वारा बताया ही है।

आज के भारत के जनमानस में जो नैतिक शिथिलता आयी है उसे दूर करने के लिए चारित्र्य की दृढता आवश्यक है, लेकिन उस के साथ इन चार आयवृत्तियो का अनुशीलन करना भी उतना ही जरूरी है। क्यो कि सामाजिक सद्भाव के बिना हम आगे नही बढ सकते। और सामाजिक सद्भाव का विश्लेषण कर के ही ब्रह्मविहार की ये चार भावनाएँ निश्चित की गयी है। इन का क्रमशः चिन्तन करना बहुत ही हितकर होगा।

(२७ मई १९६९)

व्यक्ति या समाज

व्यक्ति श्रेष्ठ या समाज श्रेष्ठ? यह सवाल सनातन काल से मनुष्य के सामने है। मानव कल्याण का हित सोचने वाले और तत्त्वजिज्ञासु इस विषय में परस्पर विरोधी उत्तर देते आये है।

कुछ लोगो का कहना है कि व्यक्ति ही सर्वश्रेष्ठ है। व्यक्ति के लिए समाज है। व्यक्ति ने ही स्वेच्छा से समाज बनाया है। इसलिए व्यक्ति स्वातंत्र्य प्रधान वस्तु है। उसी को सर्वोपरि मानना चाहिए।

आश्रम-व्यवस्था

आश्रम-व्यवस्था

गीता में चार वर्णों का उल्लेख किया गया है, पर किसी स्थान पर चार आश्रमों का स्पष्ट या अस्पष्ट उल्लेख नहीं है। ब्रह्मचर्य का वर्णन अनेक जगहों पर आता है। गीता में संन्यास तो सर्वत्र भरा है। परन्तु इन दोनों का आश्रम-व्यवस्था के साथ कुछ भी सम्बन्ध नहीं है। महाभारत में आश्रम-व्यवस्था का बहुत अधिक उल्लेख होते हुए भी गीता में वह नहीं है। अवश्य ही यह विचारणीय है। मूल में गीता महाभारत का एक स्वतन्त्र प्रकरण है, इस की भी पुष्टि इस बात से होती है। गीता में कहा हुआ संन्यास सब मनुष्यों द्वारा सब काल में पालने योग्य जीवन-क्रम अथवा जीवन-वृत्ति है और गीता का ब्रह्मचर्य मोक्षसाधना का एक पहलू या शारीरिक तप के रूप में आता है। उस में गुरु के घर रह कर अभ्यास करने की बात नहीं है। श्री कृष्ण ने गुरु सांदीपनि के घर पर रह कर सेवा की थी, पर गीता में गुरुकुल का उल्लेख नहीं है। हाँ प्रणिपात, परिप्रश्न और सेवा इन सब का महत्त्व अच्छी तरह से बताया गया है।

गीता में आश्रम-व्यवस्था नहीं है, (गीता के ७०० श्लोकों में आश्रम शब्द तक नहीं आया है।) फिर भी हिन्दू धर्म की समाज-व्यवस्था में आश्रम धर्म का महत्त्व बहुत अधिक है। इस लिए उस पर विचार यदि यहाँ करें तो वह अप्रस्तुत नहीं माना जायेगा। आश्रम-व्यवस्था सब स्मृतियों में एक समान है ऐसा कहा जा सकता है। साथ ही यह भी कि वह चारों वर्णों के लिए है। लेकिन ब्राह्मण और क्षत्रियों ने ही इसे टिका रखा है—ऐसा भी कहा जा सकता है।

अभी राष्ट्रीय शिक्षा का प्रचार बहुत चल रहा है और गुरुकुल-जैसी संस्थाएँ भी हैं। इस लिए यद्यपि ब्रह्मचर्य आश्रम का विचार बहुत हुआ है लेकिन फिर भी उस पर नयी दृष्टि से तत्त्वतः विचार करना अभी जरूरी है।

हमेशा माना जाता है कि गृहस्थाश्रम यानी प्रगतिमय अखिल जीवन मगर उस का ऐतिहासिक विकास किस प्रकार होता गया यह भी देखना होगा।

संन्यासाश्रम एक तरह से पूर्णता को पहुँची हुई व्यक्तिगत मानवता का

आश्रम ह । परन्तु अनेक बार पूर्णत्व गल्ती से शून्यत्व की ओर ही जाता है क्योंकि इन दोनों में एक प्रकार की समानता ह । गीता का सन्यास और स्मृतियों में कहा हुआ सन्यासाश्रम, ये दोनो एक-दूसरे से अत्यन्त दूर दो छोर ह् । इस लिए सन्यासाश्रम कृतार्थ कसे हो सकता है ? इस का भी यहां विचार करना चाहिए ।

सब सेप हले, नाटक के विष्कम्भक की तरह बीच में आने वाला वान प्रस्थाश्रम क्या है उसे यहां पहले देख लें । आजकल सस्कारी लोगो के मन में जहां-तहा जाति सस्था के विषय में अश्रद्धा दिखाई दे रही है । वर्ण-व्यवस्था में श्रद्धा होगी तो भी वह व्यवस्था फिर स्थापित हो सकेगी इस में विश्वास नही होता । आश्रम-व्यवस्था सब को सुन्दर लगती है । वर्ण-व्यवस्था में वर्ग विग्रह का तत्त्व प्रविष्ट हो सकता है । आश्रम-व्यवस्था के बारे में ऐसा भय नहीं, क्योंकि ये सब एक ही जीवन के विभाग हैं और इसलिए कोई भी व्यक्ति अपने आप उन का उपयोग कर सकता है । यह होने पर भी आज तो ऐसा दिखाई देता ह कि आश्रम-व्यवस्था भी समाज में से निकल गयी ह ।

आजकल कुछ लोग 'पेंशनर' लोगों को वानप्रस्थ कहने लगे हैं । 'रिटायर्ड हुजूर डिप्टी कलेक्टर' आदि किसी के नाम के आगे लिखने के बदले 'वानप्रस्थ हुजूर डिप्टी कलेक्टर' लिखने का नुसखा थोडे समय तक चला था । हिन्दू विश्वविद्यालय की कल्पना लोगो को समझाते समय पण्डित मदनमोहन मालवीय कहते थे कि "विद्वान सरकारी नौकरों को नौकरी छोड कर वानप्रस्थ स्वीकार करने का आग्रह कर उन की सहायता से यह विश्वविद्यालय चलाने का हमारा विचार है । परिपक्व बुद्धि और अनुभव की थोडे खर्च में सुविधा हो सकेगी ऐसी उन की आशा थी । सरकारी नौकर नौकरी में घुसने के बाद थोडे ही समय में शक्तिविहीन हो जाते ह और पेंशन लेने के बाद तो उन का कम खर्च भी काम की दृष्टि से महँगा हो जाता है यह उस समय महामना मालवीयजी को शायद सूझा नही होगा ।

मूल स्मृतियो में समाज-सेवा की दृष्टि से वानप्रस्थाश्रम कल्पित किया गया हो ऐसा नही मालूम होता । लगता है कुछ अंशो में यह पूर्व तैयारी का आश्रम ह । जिस प्रकार बारह वर्ष तक तैयारी करने के बाद ब्रह्मचारी गृहस्थाश्रमी बनता था अथवा सीधा सन्यास धारण करता था उसी प्रकार वानप्रस्थ आश्रम गृहस्थाश्रम की नाजुकता और आलस्य को देह-दमन से निकाल कर सन्यास की तैयारी कराता था अथवा मृत्यु को बिल्कुल सरल बनाता था ।

वानप्रस्थ के अन्त में सब को सन्यास लेना चाहिए इस प्रकार का आग्रह

आश्रम-व्यवस्था

आश्रम-व्यवस्था

गीता में चार वर्णों का उल्लेख किया गया है, पर किसी स्थान पर चार आश्रमों का स्पष्ट या अस्पष्ट उल्लेख नहीं है। ब्रह्मचर्य का वर्णन अनेक जगहों पर आता है। गीता में संन्यास तो सर्वत्र भरा है। परन्तु इन दोनों का आश्रम-व्यवस्था के साथ कुछ भी सम्बन्ध नहीं है। महाभारत में आश्रम-व्यवस्था का बहुत अधिक उल्लेख होते हुए भी गीता में वह नहीं है। अवश्य ही यह विचारणीय है। मूल में गीता महाभारत का एक स्वतन्त्र प्रकरण है, इस की भी पुष्टि इस बात से होती है। गीता में कहा हुआ संन्यास सब मनुष्यों द्वारा सब काल में पालने योग्य जीवन-क्रम अथवा जीवन-वृत्ति है और गीता का ब्रह्मचर्य मोक्षसाधना का एक पहलू या शारीरिक तप के रूप में आता है। उस में गुरु के घर रह कर अभ्यास करने की बात नहीं है। श्री कृष्ण ने गुरु सान्दीपनि के घर पर रह कर सेवा की थी, पर गीता में गुरुकुल का उल्लेख नहीं है। हाँ, प्रणिपात, परिप्रश्न और सेवा इन सब का महत्त्व अच्छी तरह से बताया गया है।

गीता में आश्रम-व्यवस्था नहीं है, (गीता के ७०० श्लोकों में आश्रम शब्द तक नहीं आया है।) फिर भी हिन्दू धर्म की समाज-व्यवस्था में आश्रम धर्म का महत्त्व बहुत अधिक है। इस लिए उस पर विचार यदि यहाँ करें तो वह अप्रस्तुत नहीं माना जायेगा। आश्रम व्यवस्था सब स्मृतियों में एक समान है, ऐसा कहा जा सकता है। साथ ही यह भी कि वह चारों वर्णों के लिए है। लेकिन ब्राह्मण और क्षत्रियों ने ही उसे टिका रखा है—ऐसा भी कहा जा सकता है।

अभी राष्ट्रीय शिक्षा का प्रचार बहुत चल रहा है और गुरुकुल-जैसी संस्थाएँ भी हैं। इस लिए यद्यपि ब्रह्मचर्य आश्रम का विचार बहुत हुआ है लेकिन फिर भी उस पर नयी दृष्टि से तत्त्वतः विचार करना अभी ज़रूरी है।

हमेशा माना जाता है कि गृहस्थाश्रम यानी प्रगतिमय अखिल जीवन मगर उस का ऐतिहासिक विकास किस प्रकार होता गया यह भी देखना होगा।

संन्यासाश्रम एक तरह से पूर्णता को पहुँची हुई व्यक्तिगत मानवता का

आश्रम है। परन्तु अनेक बार भूल से गलती से [illegible] और [illegible] है
क्योंकि इन दोनों में एक प्रकार की समानता है। [illegible] और
स्मृतियों में कहा हुआ संन्यासाश्रम, ये दोनों एक-दूसरे से [illegible] दूर [illegible]
है। इस लिए संन्यासाश्रम कृताय कैसे हो सकता है? [illegible]
करना चाहिए।

सब सेष हुले, नाटक के विष्कम्भक की तरह [illegible] में [illegible]
प्रस्थाश्रम क्या है उसे यहाँ पहले देख लें। आजकल [illegible] के मन में
जहाँ-तहाँ जाति संस्था के विषय में अयद्धा [illegible] रहा है। [illegible] में
श्रद्धा होगी तो भी वह व्यवस्था फिर स्थापित हो सकेगी इस में [illegible] नहीं
होता। आश्रम-व्यवस्था सब को सुन्दर लगती है। [illegible] में [illegible]
का तत्त्व प्रविष्ट हो सकता है। आश्रम-व्यवस्था के बारे में ऐसा [illegible],
क्योंकि ये सब एक ही जीवन के विभाग हैं और इसलिए कोई भी व्यक्ति आप-
आप उन का उपयोग कर सकता है। यह होने पर भी आज [illegible] ऐसा [illegible]
देता है कि आश्रम-व्यवस्था भी समाज में से निकल गयी है।

आजकल कुछ लोग 'पेंशनर' लोगों को वानप्रस्थ कहने लगे हैं। '[illegible]
हुजूर डिप्टी कलेक्टर' आदि किसी के नाम के आगे लिखने के बजाय 'वानप्रस्थ
हुजूर डिप्टी कलेक्टर' लिखने का नुसखा थोड़े समय तक चला था। हिन्दू
विश्वविद्यालय की कल्पना लोगों को समझाते समय पण्डित मदनमोहन मालवीय
कहते थे कि 'विद्वान् सरकारी नौकरों को नौकरी छोड़ कर वानप्रस्थ स्वीकार
करने का आग्रह कर उन की सहायता से यह विश्वविद्यालय चलाने का हमारा
विचार है। परिपक्व बुद्धि और अनुभव की [illegible] में सुविधा हो सकेगी
ऐसी उन को आशा थी। सरकारी नौकर नौकरी में घुसने के बाद [illegible]
समय में शक्तिविहीन हो जाते हैं और पेंशन लेने के बाद भी उन का कम दर
भी काम की दृष्टि से महँगा हो जाता है यह उस समय महामना मालवीयजी
को शायद सूझा नहीं होगा।

मूल स्मृतियों में समाज-सेवा की दृष्टि से वानप्रस्थाश्रम कल्पित किया गया
हो ऐसा नहीं मालूम होता। लगता है कुछ अंशों में यह पूर्व तैयारी का आश्रम
है। जिस प्रकार बारह वर्ष तक तैयारी करने के बाद ब्रह्मचारी गृहस्थाश्रमी
बनता था अथवा सीधा संन्यास धारण करता था उसी प्रकार वानप्रस्थ आश्रम
गृहस्थाश्रम की नाजुकता और आलस्य का देहभाव से [illegible] कर संन्यास की
तैयारी कराता था अथवा मृत्यु को बिलकुल सरल बनाता था।

वानप्रस्थ के अंत में सब को संन्यास लेना चाहिए इस प्रकार का आग्रह

आश्रम-व्यवस्था

आश्रम-व्यवस्था

गीता में चार वर्णों का उल्लेख किया गया है, पर किसी स्थान पर चार आश्रमों
का स्पष्ट या अस्पष्ट उल्लेख नहीं है। ब्रह्मचर्य का वर्णन अनेक जगहों पर आता
है। गीता में संन्यास तो सर्वत्र भरा है। परन्तु इन दोनों का आश्रम-व्यवस्था
के साथ कुछ भी सम्बन्ध नहीं है। महाभारत में आश्रम-व्यवस्था का बहुत अधिक
उल्लेख होते हुए भी गीता में वह नहीं है। अवश्य ही यह विचारणीय है। मूल में
गीता महाभारत का एक स्वतन्त्र प्रकरण है, इस की भी पुष्टि इस बात से होती
है। गीता में कहा हुआ संन्यास सब मनुष्यों द्वारा सब काल में पालने योग्य
जीवन-क्रम अथवा जीवन-वृत्ति है और गीता का ब्रह्मचर्य मोक्षसाधना का एक
पहलू या शारीरिक तप के रूप में आता है। उस में गुरु के घर रह कर अभ्यास
करने की बात नहीं है। श्री कृष्ण ने गुरु सांदीपनि के घर पर रह कर सेवा
की थी, पर गीता में गुरुकुल का उल्लेख नहीं है। हाँ, प्रणिपात परिप्रश्न और
सेवा इन सब का महत्त्व अच्छी तरह से बताया गया है।

गीता में आश्रम-व्यवस्था नहीं है, (गीता के ७०० श्लोकों में आश्रम शब्द तक
नहीं आया है।) फिर भी हिन्दू धर्म की समाज व्यवस्था में आश्रम धर्म का महत्त्व
बहुत अधिक है। इस लिए उस पर विचार यदि यहाँ करें तो वह अप्रस्तुत
नहीं माना जायेगा। आश्रम व्यवस्था सब स्मृतियों में एक समान है ऐसा
कहा जा सकता है। साथ ही यह भी कि वह चारों वर्णों के लिए है। लेकिन
ब्राह्मण और क्षत्रियों ने ही उसे टिका रखा है—ऐसा भी कहा जा सकता है।

अभी राष्ट्रीय शिक्षा का प्रचार बहुत चल रहा है और गुरुकुल-जैसी
संस्थाएँ भी हैं। इस लिए यद्यपि ब्रह्मचर्य आश्रम का विचार बहुत हुआ है
लेकिन फिर भी उस पर नयी दृष्टि से तत्त्वतः विचार करना अभी जरूरी है।

हमेशा माना जाता है कि गृहस्थाश्रम यानी प्रगतिमय अखिल जीवन मगर
उस का ऐतिहासिक विकास किस प्रकार होता गया यह भी देखना होगा।

संन्यासाश्रम एक तरह से पूर्णता को पहुँची हुई व्यक्तिगत मानवता का

समय आत्मचिन्तन के पीछे ही व्यतीत होता है। तो भी उस की आदत हो जाने से उस के विषय में बहुत ध्यान देना नहीं पड़ता। जिस प्रकार हाथ में माला फिरती रहती है उसी प्रकार दिन का कार्यक्रम यन्त्रगति से होता रहता है और ईश्वर चिन्तन के लिए मन अखण्ड रूप से आजाद रहता है।

गृहस्थाश्रम को दोषरहित करने का चाहे जितना प्रयत्न किया जाये, उस में क़दम-क़दम पर पाप दिखाई देता है। प्राचीन काल में अधिकतर लोग मांसाहार करते थे। परन्तु मांसाहार करते समय उन्हें ऐसा भी लगता था कि वे पाप कर रहे हैं। इस पाप से बचने के लिए उन की स्वाभाविक रूप से वानप्रस्थाश्रम की ओर रुचि होती थी। गृहस्थाश्रम में दास दासियों की सेवा ले कर मनुष्य आराम में फँस जाता है। परन्तु बीच-बीच में उसे यह एहसास भी होता रहता था कि इस प्रक्रिया में भी वह कुछ पाप कर रहा है। मन की इसी अकुलाहट को दूर करने के लिए वानप्रस्थाश्रम के लिए स्वावलम्बन का आग्रह रखा गया है।

सभी सुधारों का आधार खेती पर निर्भर है। खेती के कारण अनाज तथा अन्य वस्तुओं का संग्रह बहुत होने लगा। अनाज के दो-तीन वर्ष तक न बिगड़ने के कारण जीवन में कुछ सुरक्षा आयी। ज़मीन जोतने और खाद डालने की तदबीरों की खोज करने के बाद बस्ती को स्थायी बनाना सम्भव हो सका। इस के कारण गाँव और शहर बसे। ऐसे अनेक सुधार गिनाये जा सकते हैं। परन्तु खेती के लिए पशुओं को पकड़ कर उन्हें गुलाम बना कर उन से मार मार कर काम लेने में पाप भावना की प्रतीति भी होती रही है। बैल के परिश्रम का हम जो कुछ खाते हैं वह अस्वच्छ है यह भावना लाख प्रयत्न करने पर भी न तो दूर होती थी और न दूर हो सकती है। ऋषि मुनियों ने अपने हाथ से चाहे जैसे ज़मीन को खोद कर अथवा निवार जैसा हल्का अनाज हाथ से बो कर उस पर अपना निर्वाह करना शुरू किया। स्त्रियों ने इस आदर्श की स्मृति को क़ायम रखने के लिए एक दिन ऋषि पंचमी के पालन के लिए रखा। वानप्रस्थाश्रमों ने भी अपने सामने यही आदर्श रखा। चक्की, मूसल आदि के बजाय अनाज को पत्थर से कूट कर खाना अथवा दाँत मजबूत हो तो जैसा का तैसा चबा कर खाना वानप्रस्थाश्रम के लिए निश्चित हुआ।

अनाज और साधन-सम्पत्ति का संग्रह किये बिना सामर्थ्य नहीं बढ़ता, प्रगति नहीं होती यह देख कर गृहस्थाश्रम अर्थात् समाज ने खेती कर के धनधान्य का संग्रह हो सके उतना बढ़ाया। परंतु संग्रह पापमूलक है ऐसा पहले से ही लगता था। प्राचीन काल में पूँजी के बढ़ने पर बड़े व्यापारी छोटे

कहीं दिखाई नहीं देता। घर छोड़ कर वन में जाते समय आवश्यकता हो तो पत्नी को पुत्र की अधीनता में सौंप कर जाना अथवा उसे साथ में लेते जाने का विधान बताया गया है। पत्नी को घर पर छोड़ जाने की प्रथा ही अधिक रूढ़ थी ऐसा लगता है क्योंकि वानप्रस्थ पति संन्यास लेने के बाद पत्नी का क्या करे इस का किसी स्थान पर उल्लेख नहीं है। वानप्रस्थ पति-पत्नी के अन्त तक उसी आश्रम में रह कर वन में ही देहत्याग करने के अनेक उदाहरण हैं।

हिन्दू-समाज व्यवस्था में दूसरी एक बात सूक्ष्म रूप से सर्वत्र फैली हुई दिखाई देती है। सब प्रकार की प्रगति अथवा प्रवृत्ति बड़े उत्साह से करते रहने पर भी मन के एक कोने में एक भाव कायम रहता है कि प्रवृत्ति मात्र एक प्रकार से अध:पात है, असली शुद्ध स्थिति से दूर हटने-जैसा है।

और यह वृत्ति मनुष्य में सर्वत्र दिखाई देती है। जब बैलगाड़ियों का उपयोग होता था तब सब को पैदल यात्रा करने में अधिक काव्य और अधिक पुण्य मालूम होता था। आगगाड़ियों और मोटरों के होने के बाद बैलगाड़ियों का मंजिल दर मंजिल होने वाला प्रवास, रास्ते के झरनों के किनारे खुद ही बना कर किये हुए वनभोजन, और प्रातःकाल के समय बैल के गले की घंटियां और घुंघरुओं की आवाज आदि सब में अब काव्य का अनुभव होने लगा है। यही स्थिति यज्ञ के बारे में भी दिखाई देती है। यज्ञ के बरतन, वल्कल और वृक्ष की छाल इत्यादि अग्नि तैयार करने की रीति, ये सब बिल्कुल पुरानी पद्धति के होने चाहिए। दियासलाई से अग्नि जलाने के बदले अरणी मन्थन से ही अग्नि जलाना चाहिए—ऐसा यज्ञविधि का आग्रह है। धातु के बरतन मिलते हों तो भी यज्ञ के लिए काष्ठपात्र ही पवित्र गिने जाते हैं। वनभोजन के लिए जाना हो तो सारी रसोई स्वयं अपने हाथ से ही करनी चाहिए। यानी प्राथमिक कठिनाइयों के अनुभव में से ही आनन्द प्राप्त करने-जैसी यह बात हुई। प्रिमिटीव जीवन स्वावलम्बी होता है और उसी कारण वह विशेष निष्पाप होता है। परस्परावलम्बन प्रगति के लिए चाहे जितना पोषक हो, उस में असली स्वातन्त्र्य कम होता है,—ऐसी धारणा प्रायः सब की होती है। इस लिए गृहस्थाश्रम की प्रवृत्ति में अरुचि मालूम होने लगती है, और वह प्रवृत्ति भाररूप लगने लगती है वह केवल एक उपाधि है। इस लिए पीछे मुड़ कर मूल पद की ओर जाने की वृत्ति होती ही है। पीछे लौटना यानी आत्मा के अधिक निकट आना—यह धारणा भी सर्वत्र रूढ़ हुई है। उपाधि के कम होने पर अपने आप ही आत्मचिन्तन के लिए आवश्यक फुरसत प्राप्त हो जाती है। यह बात सही है कि बिल्कुल कम प्राथमिक आवश्यकता असली पद्धति से पूरी करनी हो तब सारा

वह संन्यास लेने के योग्य बनता है। कुछ असाध्यरोग हो जाने पर, केवल पानी और हवा पर ही रह कर देह छूट जाने के समय तक ईशान्य दिशा की ओर चलते रहने को भी कहा गया है। ईशान्य दिशा ही क्यों पसन्द की गयी इस का कारण ढूँढ़ना चाहिए।

वृद्धावस्था में जब हम से समाज की ठोस सेवा नहीं हो सकती है तब समाज पर बोझ रूप हो कर रहने में कुछ अर्थ नहीं है ऐसा हरएक व्यक्ति को अहसास होना चाहिए। समाज ऐसे वृद्धों का कृतज्ञतापूर्वक पालन करे यह समाज का धर्म है। वृद्ध नौकरों को आजकल पेंशन मिलती है। वृद्ध नागरिकों को आज-कल 'ओल्ड एज पेंशन' देने की प्रथा शुरू हुई है। हमारे यहाँ तो मर जाने के बाद भी श्राद्ध के द्वारा पिण्डप्रदान मिलता रहता है। धर्मकारों ने एक ओर से ऐसा कृतज्ञता धर्म चलाया है तो दूसरी ओर से समाज के ऊपर का अपना भार हो सके तो अपने जीते-जी ही निकाल डालने का धर्म वृद्धों को सूचित किया है। दान देना परम धर्म है। ऐसा एक ओर से सूचित करके दूसरी ओर से कहा है कि दान लेने से पुण्यक्षय होता है, सत्त्वहानि होती है, तप का क्षय होता है। इस दूसरे उपदेश से ही समाजधर्म सम्पूर्ण बनता है।

वानप्रस्थ में गृहस्थ के सब उपभोग छोड़ देने होते हैं। परन्तु केवल अग्नि होत्र जैसा कर्मकाण्ड प्रबलता से चालू रखना होता है। बाद में शरीर के बिल कुल थक जाने पर वेदान्त का स्मरण करके सब यज्ञों को अपने आप में ही समर्पण करना होता है।

स्त्री को साथ में रख कर वन में रहते समय दोनों को ब्रह्मचर्यपूर्वक ही रहना होता है। परन्तु भूल हो जाने पर और बालक पैदा हो जाने पर ऐसे बालक को चंडाल समझना चाहिए ऐसा स्मृतियों ने कह डाला है। महाभारत का पाण्डु और कुन्ती माद्री का वानप्रस्थाश्रम और दूसरी ओर से विदुर का वानप्रस्थाश्रम ये दोनों चिंतन करने योग्य विषय है।

आज यदि पुनः वानप्रस्थाश्रम चालू करना है तो ऊपर वर्णित आदर्श फिर से देख लेना चाहिए। मृत्यु तक घर, रोजगार और धन-सम्पत्ति से चिपके रहना लज्जाजनक है। पुत्र-पौत्रों को उन की उम्मीद के और पराक्रमों के दिनों में सब प्रकार की स्वतंत्रता और छूट देनी चाहिए। वकील, डॉक्टर, सरकारी नौकर वगैरह यदि समय पर अपने-अपने धंधे से निवृत्त नहीं होते हैं तो वे अपने पीछे आने वाले युवकों को काँटे की तरह चुभने लगते हैं। जो कोई होते हैं वे सब उन का बुरा चाहने वाले हो जाते हैं। धर्म बुद्धि से रखा जाने वाला अधिकार का आग्रह वृद्धावस्था में भी नहीं रखना चाहिए। नहीं तो मुक्ति सेना

व्यापारियों को जड़ से निकाल कर के सारा व्यापार अपने हाथ में लेने का प्रयत्न करते थे। इस प्रकार होनेवाले व्यापार के विस्तृत प्रसार को देख कर उन की ही आँखें चकाचौंध हो जाती थी। व्यापारियों के सामने बड़े-बड़े राजा भी हतप्रभ से लगने लगे।

डभोई के पास में एक व्यापारी बड़ा मन्दिर बनवा रहा था। उस की भक्ति और कीर्ति के बारे में सुन कर एक राजा ने, यह सोचकर कि उस का भी कुछ योगदान होना चाहिए, व्यापारी के पास जाकर कहा, मन्दिर बनाने में मुझ से भी कुछ सहायता लीजिए। अपने राजा की प्रतिष्ठा रखनी ही है ऐसा सोचकर उसने कहा, ठीक है मन्दिर के लिए पत्थर, चूना वगैरह सामान जिन गाड़ियों में आता है उन गाड़ियों के पहियों के लिए पूरा तेल पहुँचाने की ज़िम्मेदारी आप अपने सिर पर लीजिए। पहले तो राजा को लगा कि यह व्यापारी मेरी खिल्ली उड़ा रहा है, मुझे लज्जित करने का प्रयास कर रहा है। परन्तु बाद में उसे अनुभव हुआ कि इतनी ज़िम्मेदारी को पूरी तरह निबाहने में भी उसे बड़ी कठिनाइयों का सामना करना पड़ेगा। इस तरह बड़े व्यापारियों को अन्दर से लगता था कि हम जिस बड़े पैमाने पर व्यापार कर रहे हैं उस में समाजद्रोह रहा हुआ है। और बाद में वे व्रत लेते थे कि एक हज़ार गाड़ियों से अधिक गाड़ियों का उपयोग नहीं करना है। व्यापार में अमुक पूँजी से अधिक पूँजी नहीं रोकनी है। इस प्रकार एक हाथ में द्रव्य बल बढ़ न जाये, अधिक संग्रह न होने पाये ऐसा धार्मिक वृत्ति का आग्रह रहता था। संन्यासियों को अपने पास कुछ भी नहीं रखना चाहिए सच्चा ब्राह्मण अयाचित वृत्ति से रहे वगैरह नियमों में यही धार्मिक आदर्श दृष्टिगोचर होता है। अशोक जैसे सम्राट का अर्थशास्त्र भी इसी वृत्ति का अनुसरण कर के बना था। वह कहता था कि 'अल्प भाण्डता साधु अल्प व्यय साधु' वानप्रस्थों के लिए सूचना है कि अश्विनी नक्षत्र के होने पर पास में हो उतना निवार जैसा अनाज भी निकाल डालें। नव वर्ष में पुनः पहले से सारी सुविधा करें। इस से भी कठोरता से रहना हो तो सात महीने का संग्रह रखें अथवा तीन महीने का ही। इस प्रकार कठोर होते होते अन्त में प्रतिदिन सन्ध्या होने पर जो कुछ पास हो वह सब दे कर साफ कर डाले। ऐसे वानप्रस्थ को सद्य प्रक्षालक नाम दिया गया है। इस शब्द का अर्थ प्रतिदिन परिग्रहण को धोने वाला होता है।

गरमी के दिनों में पंचाग्नि साधन करना, शीतकाल में गीले कपड़े से रहना आदि तप के प्रकार देख कर के ऐसा लगता है कि वानप्रस्थ दशा में अपने शरीर से वैर लेना ही होता है। ऐसे दो उग्र तपों के बावजूद यदि शरीर बच जाये तो

युवकों को वृद्ध शिक्षक देना इष्ट नहीं है। सर्वांगी शिक्षा उत्साही शिक्षक के पास से ही प्राप्त हो सकती है। कुछ शिक्षक अवस्था में वृद्ध होने पर भी उत्साह में युवक हों—यह बात अलग है।

इस लिए वानप्रस्थ की कल्पना बिल्कुल बदल डालनी चाहिए। निजी जीवन को संकुचित कर के पुत्रोत्पत्ति और धनोत्पत्ति इन दो व्यवसायों को छोड़ कर, कुटुम्ब सेवा के संकुचित क्षेत्र में से बाहर निकल कर समाज-सेवा के लिए अपना जीवन अर्पण करना ऐसा नया अर्थ कर के अब नया आदर्श बनाना चाहिए, तथा बाद में जब प्रत्यक्ष काम करने का उत्साह न रहे, तटस्थ रूप से रह कर केवल सलाह देने जितनी ही योग्यता बाकी रहे तभी संन्यास आश्रम की शुरुआत होती है ऐसा मानना चाहिए। संन्यास-आश्रम में पूर्ण निराग्रही वृत्ति, सब के कल्याण की दृष्टि से निःस्पृह रूप से सलाह देने की शक्ति और भविष्य काल को पहचान कर प्राचीन का आग्रह वहाँ छोड़ देना इसे समझने की दृष्टि ये तीन वस्तुएँ अत्यन्त आवश्यक हैं।

अहिंसा प्रधान हिन्दूधर्म में सर्वभूतानुकम्पा, अद्रोह, मैत्री और समानभाव इनका महत्त्व सब से अधिक है। परन्तु हमारा जीवन सब ओर से हिंसामूलक है इस लिए यह हिंसा किस प्रकार कम करते जाना इसी का हिन्दू धर्म में अखण्ड प्रयत्न किया गया है। क्षत्रियों को हिंसा करनी ही पड़ती है, इस लिए कुछ नहीं तो केवल ब्राह्मणों को हिंसा से मुक्त रखा जाय ऐसा प्रयत्न हुआ और समाज धर्म के बाह्य-बन्धनों से अधिक-से-अधिक मुक्त वानप्रस्थ और संन्यासी तो पूर्ण रूप से अहिंसक रहें, निर्वैर हों निष्पक्ष रहें ऐसा आग्रह सर्वत्र रखा गया। विषय लोलुपों को मार डालना, जीवन को कठोर बनाना और सब प्रकार का द्रोह छोड़ देना वानप्रस्थों का मुख्य धर्म है। इस आश्रम में परस्परावलम्बन को छोड़ कर स्वावलम्बन को स्वीकार करने की ओर स्वाभाविक रूप से विशेष महत्त्व है।

ब्रह्मचारी गृहस्थाश्रमी, वानप्रस्थ, संन्यासी, यति, शिकार खेलने वाला राजा, विवाहेच्छु तरुण, व्यापार के लिए जंगल में सफर करने वाला वैश्य वगैरह लोगों के सम्बन्ध में अपने धर्मशास्त्रों ने जो नियम बनाये हैं उन के एक वृत्ति देख कर मन को ग्लानि हुए बिना नहीं रहती। जीव की रक्षा करना, संकट से दूर रहना, आश्रय ढूँढ़ना ऐसी सीखें अनेक जगहों पर हमारी नज़रों में आती हैं।

ब्रह्मचारी को कहा है कि वह वृक्ष पर न चढ़े, जलाशय में न तरे। धर्म शास्त्र में पिता को ऐसा भी कहा है कि जो वीर हो उसे अपनी पुत्री न दे। बलवान आदमी मिल जाय तो झूठ बोलने में पाप नहीं है। कठिन काल में

के सेनापति की जो दशा हुई वही दशा वृद्धा की भी होती है। वस्तुतः अधिकार का आग्रह कदापि नहीं होना चाहिए।

जरा गौर से देखें तो वानप्रस्थाश्रम याने कुछ अर्थों में निजी जीवन को समेट कर सार्वजनिक सेवा करने का समय होता है। मनुष्य के लिए बीस पच्चीस वर्ष के आस पास लग्न करना ठीक है, बीस वर्ष के पहले करना खराब है। पैंतीस के बाद करना भी ठीक नहीं है। अपनी शक्ति क्षीण हो उस के पहले ही बड़ा पुत्र घर में कर्ता पुरुष हो जाय और घर का काम धन्धा अपना करके कुटुम्ब का बोझ उठाने के लिए समर्थ हो जाय, इस तरह से मनुष्य को ब्याह करना चाहिए। ब्याह करने के बाद मनुष्य गृहस्थाश्रम के सुख का उपभोग अधिक से अधिक पन्द्रह वर्ष तक करे। इस बीच में जो कुछ धन-संचय करना हो, इज्जत बढ़ाना हो, सगे सम्बन्धियों और मित्रों का कल्याण करना हो तो वह सब कर लेना चाहिए। और सारी शक्तियाँ जब पूरे जोश में हों तभी वानप्रस्थ स्वीकार कर लेना चाहिए। स्मृतियों में कहा है कि पौत्र हो जाने पर मनुष्य घर छोड़ दे। यह नियम एक दृष्टि से बहुत अच्छा है। यदि सोलहवें या सत्रहवें वर्ष में लड़के का जन्म हुआ हो और लड़का भी पिता की तरह ब्याह कर लेने की शीघ्रता करे तो ऐसा समय आ सकता है कि पैंतीस वर्ष के अन्दर ही घर छोड़ने का अल्टिमेटम मिल जाय।

रसिकता की दृष्टि से भी विचार करने पर गृहस्थाश्रम के सुख का पन्द्रह वर्ष तक उपभोग किया जाय तो काफी हुआ। शरीर बिलकुल निर्वीर्य हो जाय, तब तक विषय के पीछे ही लगे रहना विषय को हास्यास्पद कर देने के समान है। आधुनिक शास्त्रज्ञों का ऐसा मत है कि बालक को माता के पास से जो शिक्षा प्राप्त करनी होती है वह शिक्षा बराबर प्राप्त हो इस के लिए यह आवश्यक है कि माता में यौवन का अंश रहे। वृद्ध माताएँ अपने बालकों को सर्वांगी संस्कार नहीं दे सकतीं।

यहाँ रूसो के एक विचार का स्मरण आता है। कोई एक आदमी विद्वान् हो इसी लिए *उसे सिखाने का काम नहीं सौंपना चाहिए।* विद्वान् तरुण को पहले समाज सेवा में लग कर राजकीय, सामाजिक, धार्मिक वगैरह क्षेत्रों में अपना पराक्रम प्रकट कर प्रजा का विश्वास प्राप्त करने के बाद ही उसे अध्यापन के कार्य में लगना चाहिए। जिसने समाज की सेवा उत्तम रीति से की हो उसे उस सेवा के इनाम के रूप में अध्यापन का काम सौंपा जाय।

इस से उलटी रीति से विचार करने पर यह भी समझ में आना चाहिए कि शिक्षा भी एक समाज सेवा है। यह भी ध्यान में रखना चाहिए कि बालकों और

युवकों को वृद्ध शिक्षक देना इष्ट नहीं है। सर्वांगी शिक्षा उत्साही शिक्षक के पास ही प्राप्त हो सकती है। कुछ शिक्षक अवस्था में वृद्ध होने पर भी उत्साह में युवक हों—यह बात अलग है।

इस लिए वानप्रस्थ की कल्पना बिलकुल बदल डालनी चाहिए। निजी जीवन को संकुचित कर के पुत्रोत्पत्ति और धनोत्पत्ति इन दो व्यवसायों को छोड़ कर, कुटुम्ब सेवा के संकुचित क्षेत्र में से बाहर निकल कर समाज-सेवा के लिए अपना जीवन अर्पण करना ऐसा नया अर्थ कर के अब नया आदर्श बनाना चाहिए, तथा बाद में जब प्रत्यक्ष कार्य करने का उत्साह न रहे, तटस्थ रूप से रह कर केवल सलाह देने जितनी ही योग्यता बाकी रह जाय तब सन्यास आश्रम की शुरूआत होती है ऐसा मानना चाहिए। संन्यास-आश्रम में पूर्ण निराग्रही वृत्ति सब के कल्याण की दृष्टि से निःस्पृह रूप से सलाह देने की शक्ति और भविष्य काल को पहचान कर प्राचीन का आग्रह कहाँ छोड़ देना इसे समझने की दृष्टि ये तीन वस्तुएँ अत्यन्त आवश्यक है।

अहिंसा प्रधान हिन्दूधर्म में सर्वभूतानुकम्पा, अद्रोह, मैत्री और समानभाव इनका महत्त्व सब से अधिक है। परन्तु हमारा जीवन सब ओर से हिंसामूलक है इस लिए यह हिंसा किस प्रकार कम करते जाना इसी का हिन्दू धर्म में अखण्ड प्रयत्न किया गया है। क्षत्रियों को हिंसा करनी ही पड़ती है, इस लिए कुछ नहीं तो केवल ब्राह्मणों को हिंसा से मुक्त रखा जाय ऐसा प्रयत्न हुआ और समाज धर्म के बाह्य-बन्धनों से अधिक-से-अधिक मुक्त वानप्रस्थ और सन्यासी तो पूर्ण रूप से अहिंसक रहें, निर्वैर हो निष्पक्ष रहें ऐसा आग्रह सर्वत्र रखा गया। विषय लोलुपों को मार डालना, जीवन को कठोर बनाना और सब प्रकार का द्रोह छोड़ देना वानप्रस्थों का मुख्य धर्म है। इस आश्रम में परम्परावलम्बन को छोड़ कर स्वावलम्बन को स्वीकार करने की ओर स्वाभाविक रूप से विशेष महत्त्व है।

ब्रह्मचारी गृहस्थाश्रमी, वानप्रस्थ, सन्यासी, यति, शिकार शौकीन राजा, विवाहेच्छु तरुण, व्यापार के लिए जंगलों में सफर करने वाला वैश्य वगैरह लोगों के सम्बन्ध में अपने धर्मशास्त्रों ने जो नियम बनाये हैं उन के एक वृत्ति देख कर मन को ग्लानि हुए बिना नहीं रहती। जीव की रक्षा करना, संकट से दूर रहना, आश्रय ढूंढना ऐसी सीखें अनेक जगहों पर हमारी नजरों में आती हैं।

ब्रह्मचारी को कहा है कि वह वृक्ष पर न चढ़े जलाशय में न तरे। धर्म शास्त्र में पिता को ऐसा भी कहा है कि जो वीर हो उसे अपनी पुत्री न दे। बलवान आदमी मिल जाय तो झूठ बोलने में पाप नहीं है। कठिन काल में

धर्मान्तर करने पर भी हमारे धर्मशास्त्र आप पर क्रोधित नहीं होते हैं। वान प्रस्थ के लिए सब प्रकार की नाजुकता और कोमलता छोड कर के व्रत का पालन करने के लिए आवश्यक कठोरता का विकास करना होता है। और इसी लिए उसे वन में जा कर रहना पडता है। परन्तु स्मृतियाँ कुछ धीमी आवाज से कहती हैं कि अब कलियुग आ गया है जंगलों में म्लेच्छ लोगों से मुठभेड होती है, राजा लोग हमारी रक्षा नहीं कर सकते इस लिए गाँव के आसपास किसी बगीचे को जंगल मान कर वहाँ आराम से रहना चाहिए और अपने सगे-सम्बन्धियों से भिक्षा माँग लेनी चाहिए।

संन्यासी तो निर्भयता की मूर्ति होता है। उसे तो धर्म प्रचार के लिए सर्वत्र अकुतोभय हो कर विचरना चाहिए। थोमस पेन ने कहा है कि 'जहाँ स्वाधीनता नहीं है वही मेरा स्वदेश है। माई होम इज व्हेअर लिबर्टी इज नॉट।' संन्यासी की वृत्ति इस प्रकार की होनी चाहिए। संन्यासी अर्थात पाप, अनाचार आलस, प्रजापीडन, अनास्था वगैरह मानव शत्रुओं के सामने अपने देह की चिन्ता रखे बिना लडने वाला योद्धा। ऐसे व्यक्ति को स्मृति नसीहत देती है कि जहाँ के लोग नास्तिक हैं नंगे हैं भिक्षा देते नहीं हैं ऐसे देश में नहीं रहना—अरे वहाँ जाना तक नहीं चाहिए। जहाँ युद्ध होता हो, मारपीट होती हो, अकाल पडा हुआ हो वहाँ से संन्यासी को पहले से चार कदम दूर रहना चाहिए। इस प्रकार की बुद्धिमानी सिखाने के लिए शास्त्र की क्या आवश्यकता थी?

राजा को शिकार के लिए जाने का सच्चा अर्थ ग्राम्य पशुओं से प्रजा की और उस की खेती की रक्षा करना था। परन्तु स्मृतियों का शुद्ध सयानापन राजा को सिखाता है कि शिकार के लिए जाओ तो जहाँ रथ उछल न जाय ऐसी सपाट जमीन देख कर या न हो तो वसी बनवा कर मधुर मृगया व्यायाम करना चाहिए। लडने न हो तो युद्ध में नहीं जाना, इस तरह की कितनी ही बातें लिख रखी हैं, प्राण देने की चिन्ता कर के उसे छोड कर चलने का जो परम धर्म था उस का इस प्रकार की शिक्षाओं से लोप हो गया।

(मई १९५४)

ब्रह्मचर्याश्रम की बुनियाद—सयम और अनुभव समृद्धि

आज के रसिक लोग मानते हैं कि रसिकता और कल्पना-वैभव के विकास के लिए जीवन में भोग विलास की आवश्यकता है। मनुष्य जितना अनुभव समृद्ध होगा उतना ही उस का जीवन साक्षात्कार गहरा और बुलन्द होगा।

लेकिन व भूलते है कि हरएक अनुभव अपनी कीमत ले लेता है। अनुभव में भी निष्ठा के बिना गहराई नही आती।

इन्द्रियतृप्ति का अनुभव पाया तो आत्मशक्ति के विशाल अनन्त क्षेत्र में उड्डयन करने की शक्ति क्षीण हो जाती है। इन्द्रियतृप्ति में जीवनतृप्ति नही आती। जीवन सकुचित हो जाता है और इन्द्रियो की शक्ति भी सूक्ष्म और तेज होने के बजाय मोथरी और बधिर हो जाती है।

सयम भी एक पुरुषार्थ है। और गहरा अनुभव है। कोई चीज आँख पर लगाने से उसे हम नही देख सकते। कुछ दूरी पर रखने से ही चीज को हम अच्छी तरह देख सकते है। शुद्ध दर्शन के लिए और दर्शनानन्द के लिए दृश्य वस्तु को न अति दूर रख सकते है न अति निकट। वस्तु का स्वरूप पूर्णरूप से समझने के लिए चीज को नजदीक लाना जरूरी नही है। आँखों की दर्शनशक्ति बढानी चाहिए।

सयम अनुभव का शत्रु नही है। योग्य मात्रा में, वैज्ञानिक ढग से सयम का पालन करने से ही अनुभव, उन्नतिकर और कारगर अनुभव, उत्तम मात्रा में मिल सकता है।

उपनिषत्काल के सयमधारी ऋषिमुनि जीवन विमुख नही थे। उन्होने जीवन का गहरा चिन्तन भी किया था और आवश्यकतानुसार जीवन के विविध प्रयोग भी।

विलासिता में डूब जाने वाले लोग प्रयोगवीर नही होते। विलासी मनुष्य में लम्पटता बढ़ती है, और लम्पटता जड़ता का ही एक रूप है। कहते हैं कि पश्चिम में जो लोग तरह-तरह की पुरानी नयी शराबो का सग्रह करते है और मद्यरसिको से मनमाना दाम ले कर उन्हें बेचते है, अपने पास बड बडे दाम दे कर शराब रसिक विशेषज्ञो को रखते है, जो अँधेरे में भी शराब की एक बूँद चख कर कह सकते है कि शराब कौन-सा है, कितनी पुरानी है, उस में मिश्रण

है या नही इत्यादि। शराब का रहस्य जानने वाले ये विन शराब के आदी नही होते। वे कहते हैं—नित्य शराब पीने से स्वाद पहचानने की हमारी रसनेंद्रिय शक्ति नष्ट हो जाती है। सयम के द्वारा ही हम इतने अनुभवसमय रह सकते है। इन की बात ठीक है। सयम के बिना जीवनानुभव नही हो सकता। और सामर्थ्य के बिना समृद्धि कैसे हासिल हो सकती है?

अपनी सारी हालापरायण कविता लिखने वाले कवि उमर-खय्याम के बारे में कहा जाता है कि सारी जिन्दगी में उस ने शराब की एक बूँद भी नही चखी थी।

अच्छे से अच्छे इत्र की पहचान वे नही कर सकते जो अपने कपडे पर, अपनी कलाई पर और अपने कान में इत्र लगा कर घूमते हैं। नाक सुगध से भर जाने पर सुगध की सूक्ष्म मात्रा पहचानने की और उस का आनन्द लूटने की मनुष्य की शक्ति भी भोथरी हो जाती है।

संयम का सच्चा अर्थ, उस का शुद्धस्वरूप उस की शक्ति और उस के विनियोग के बारे में मनुष्यजाति ने पूरा सोचा नही दीख पडता। नही तो सयम के ऊपर बडे बडे वैज्ञानिक ग्रन्थ लिखे जाते।

नसर्गिक उपचार का शास्त्र जैसे जैसे बढ रहा है, उपवास के क्षेत्र में अनेक प्रयोग हो रहे हैं और अलग अलग रोगो में, भिन्न भिन्न हालत में उपवास कितने, कैसे और किस खूबी से करने चाहिए उस के भी प्रयोग और नियम बनने लगे हैं। सयम को भी एक विज्ञान बनाने के दिन आये हैं।

अगर एक क्षेत्र में मनुष्य अपनी पूरी शक्ति बढाना चाहता है तो दूसरे क्षेत्र में उसे लेशमात्र अनुभव नही लेना चाहिए।

जिस किसी को सत्यवादिता की पूर्ण सिद्धि हासिल करनी है वह नही कह सकता कि झूठ बोलने से क्या क्या होता है इस का अनुभव करने के लिए थोडी मात्रा में मैं झूठ बोल कर देखूँ। महाभारतकार कहते हैं—लाचार हो कर केवल कल्याण के हेतु एक क्षण के लिए भी आप सत्य से गिर गये, सत्य का रास्ता आप ने एक सूतभर भी छोड दिया तो आप का रथ नीचे उतर आयेगा आप की सत्यसिद्धि नष्ट होगी। (सत्यसिद्धि के बारे में योगशास्त्र कहता है—सत्यप्रतिष्ठायां क्रियाफलाश्रयत्वम। जिस ने सत्य की सिद्धि प्राप्त की है उस के काम और वचन निष्फल नही होते हैं। इसे वाचासिद्धि भी कहते है।)

गरज यह है कि मनुष्य झूठ बोलने का अनुभव भी करे और वाचासिद्धि की अपेक्षा भी कर यह हो नहीं सकता। कामोपभोग का जिस ने अनुभव पसन्द किया उसे ब्रह्मचर्य के लाभो से वचित रहना ही पडता है। इस लिए उन्नति के

लिए, जीवन की सार्थकता के लिए क्या आवश्यक है इस का पूरा विचार कर के उसी सार वस्तु का अनुशीलन मनुष्य करे और नि सार वस्तु के लोभ में न फँसे, यही है संयम का रहस्य।

और संयम के साथ सप्रमाणता का (प्रमाण सँभालने का) तत्त्व आ ही जाता है। चन्द बातों में अतिरेक हो ही नहीं सकता—जैसे सत्यपालन में। लेकिन दूसरी ऐसी बहुत सी बातें हैं, जिस में प्रमाण छोड़ने पर सद्गुण भी दुर्गुण बन जाता है। अतिदानात् बलिर्बद्ध। बलि, कर्ण और हरिश्चन्द्र जैसे दानशूरा ने पारमिता प्राप्त की, वे पारगत हुए, लेकिन प्रमाण सँभालने का मध्यममार्ग भूल गये। संयम में मध्यममार्ग की निष्ठा आ ही जाती है। उस की प्रधानता होती है।

हर चीज का विकास इष्टतम मात्रा में हो, हर चीज का निग्रह भी इष्टमात्रा में हो यही है संयम का प्रधान लक्षण।

संयम के द्वारा ही मनुष्य की अनुभवशक्ति बढ़ती है, हर तरह का सामर्थ्य बढ़ता है। सार-असार का भेद समझने की सूक्ष्म बुद्धि बढ़ती है और मनुष्य जीवन-साफल्य तक पहुँचता है। संयम में ही जीवन-साफल्य की पराकाष्ठा है।

(१ दिसम्बर १९६०)

गृहस्थाश्रम का आदर्श

प्रकृति माता ने स्त्री-पुरुष का, नर-मादा का परस्पर सार्वभौम आकर्षण इस लिए रखा है कि सन्तति का सृष्टिक्रम अविच्छिन्न चले और परमात्मा को सृष्टि-उत्पत्ति का क्षण-क्षण नया चिन्तन करना न पड़े। इसी आकर्षण के अनुसार स्त्री-पुरुष एकत्र आते हैं, प्रजा को जन्म देते हैं और अपने सम्बन्ध को कृतार्थ करते हैं।

यह हो गया प्रकृति की रचना। इस में अध्यात्म को पहचानने वाले मनुष्य ने अपनी ओर से चन्द पवित्र तत्त्व डालकर प्रकृति को संस्कृति का रूप दिया, जिसे हम विवाहसंस्था कहते हैं। प्रकृति के घर में जो केवल लैंगिक आकर्षण था उसे प्रेम, संयम, निष्ठा, स्वात्मार्पण और सेवा के द्वारा मनुष्य ने आध्यात्मिक रूप दे दिया और जो चीज केवल शारीरिक सुख की थी उसे आध्यात्मिक अद्वैतानन्द तक पहुँचा दिया और सुखदुःखात्मक जीवन को परम आह्लाद का स्रोत बनाया।

विवाह के माने है परस्पर, अनन्य और चिरन्तन निष्ठा। पति-पत्नी ने एक

दूसरे को स्वीकार किया, इस में प्राप्ति का तत्त्व नहीं, किन्तु आत्मार्पण का तत्त्व है। जिस तरह पत्नी अपने को अर्पण करते समय स्वीकार करती है कि गुण लेने के लिए नहीं, किन्तु देने के लिए ही उस का जीवन है, उसी तरह पति को भी मानना चाहिए कि उस ने भी अपने को अर्पण किया है और गुण देने का, सेवा करने का और निष्ठा को मजबूत रखने का धर्म स्वीकार किया है।

इस तरह जब दो जीव एक पवित्र संकल्प के साथ विवाह-ग्रंथि में बद्ध होते हैं तब दोनों में परस्पर प्रेम के अलावा परस्पर आदर भी उत्पन्न होता है। और उसे संभालना दोनों का कर्तव्य होता है। जब इस तरह दो व्यक्ति एक हो गये तब उन के लिए एक नया सम्मिलित कर्तव्य उत्पन्न होता है। पति और पत्नी एक-दूसरे के माता पिता के प्रति और अन्य कुटुम्बियों के प्रति आत्मीयता का विकास करें ताकि दोनों कुटुम्बों के लोग भी स्वजन बन जायें। इस के बाद जब विवाह के आशीर्वाद के रूप उन की सन्तान इस दुनिया में प्रवेश करती है तब पति पत्नी माता पिता बन कर अपना सह जीवन अपनी सन्तान के कल्याण के लिए अर्पण करते हैं।

विवाह के प्रारम्भिक रूप के लिए भर्तृहरि ने सुन्दर आदर्श दिया है—

एतत् कामफलं लोके यद् द्वयो एकचित्तता।

पति पत्नी के प्रेम से दोनों के चित्त और हृदय बिल्कुल एक हो जायें, यही दाम्पत्यसुख का उत्तम फल है।

जब यह दाम्पत्य सम्बन्ध सन्तान के रूप में दृढ़ होता है, तब भवभूति कहते हैं—

"सन्तान ही स्नेह की पराकाष्ठा है और माता पिता के लिए चित्त का अनुबन्धन है। पति और पत्नी के अन्तःकरण को जब प्रेम का आश्रय मिलता है, तब उन की एक सुन्दर आनन्दग्रंथि बनती है जिस को हम अपत्य कहते हैं।

अन्तःकरणतत्त्वस्य दम्पत्योः स्नेहसंश्रयात।

आनन्दग्रंथिरेकोऽयं अपत्यं इति बध्यते॥

लोग कहते हैं कि पुत्रोत्पत्ति के द्वारा ही गृहस्थाश्रम का उद्धार होता है, और पति-पत्नी को उत्तम लोक प्राप्त होते हैं।

यहाँ उपनिषद् के ऋषि कहते हैं—

पुत्रं अनुशिष्टं लोक्यमाहुः। (बृ० १ ५ १७)

पुत्र को जब शिक्षण के द्वारा अच्छे संस्कार दिये जाते हैं और उस का जीवन सुवासित किया जाता है तभी ऐसी सन्तान माता पिता को उत्तम लोकों की प्राप्ति करा देते हैं, अन्यथा नहीं।

हमारा आदर्श केवल समानता का नहीं, एकता का है। पति-पत्नी में असमानता हो यह तो असह्य बात है। असमानता तो होनी ही नहीं चाहिए। लेकिन केवल समानता से हमें सन्तोष नहीं होता। पति-पत्नी एक-दूसरे में ऐसे ओत प्रोत हो जायें कि दोनों का जीवन अभेद रूप हो जाय। ऐसा होने से बच्चों को सर्वोत्तम संस्कार मिलते हैं और कुलपरम्परा उज्ज्वल बनती है।

ऐसे सत्त्वसम्पन्न कुलों के द्वारा ही समाज की देश की और दुनिया की उत्तम सेवा हो सकती है। विवाह सम्बन्ध और गृहस्थाश्रम पवित्र इसी लिए माना गया है कि उस में संयम, परस्परार्पण, त्याग, निष्ठा और सेवा के आदर्श को प्रधानता दी है।

(३१ मार्च १९११)

विवाह और ब्रह्मचर्य

मनुष्य के मन में या शरीर में विकार पैदा हो तो कोई आश्चर्य नहीं है। जिस शरीर का जन्म ही माता पिता के विकार के कारण होता है, उस शरीर में विकारों का पैदा होना बिलकुल स्वाभाविक है। उन विकारों का पोषण करने के लिए पशु पक्षी और तमाम प्राणी एकत्र आते हैं। मनुष्य भी वैसा कर सकता था। लेकिन उस में और पशु पक्षियों के बीच बड़ा भारी फ़र्क़ है। प्राकृतिक प्रेरणा के अधीन होकर पशु पक्षी नर मादा एकत्र अवश्य होते हैं। लेकिन उस से उन के विकार बढ़ते या घटते हैं, यह अब तक दिखाई नहीं दिया। मनुष्य के पास कल्पना शक्ति है फ़ुरसत है और अन्न का संग्रह करने की क्षमता है इस लिए वह जैसे जैसे विकारों का पोषण करता रहता है वैसे वैसे यह विकार अमर्यादित सीमा तक बढ़ते हैं। और मनुष्य का भोग भी ले सकते हैं। मनुष्य के लिए सम्भव है कि वह इन विकारों पर अंकुश लगाकर धीरे धीरे उन्हें दबा सके या उन का सुन्दर परिवर्तन कर के उच्च रूपान्तर भी कर सके।

विवाह संस्था केवल विकार पोषण के लिए नहीं है। विकारों का पोषण करने के लिए किसी आदर्श, संस्था या साधना की आवश्यकता ही नहीं है।

प्राकृतिक विकारों में से निरपेक्ष प्रेम, अनन्य निष्ठा और सेवा के लिए स्वात्मार्पण जैसे उच्च परिणामों के लिए ही समाजहित चिन्तकों ने विवाह जैसी

सस्था की खोज की है। इसी लिए कहा गया है कि विवाह संस्था शुभ है, पवित्र है और उन्नतिकर है।

विकार पोषण की स्वाभाविक प्रवृत्ति यदि न हो तो मनुष्य को शादी करने का कोई अधिकार नही है, कोई कारण भी नही है। लेकिन विवाह के द्वारा विकारों को अवकाश देकर उन विकारो में से ही विकारो से कई गुने श्रेष्ठ ऐसे प्रेमतत्त्व की उत्पत्ति और विकास मनुष्य कर सकता है।

मनुष्य विवाहबद्ध होकर प्रतिज्ञा करता है कि जो कुछ भाग भोगना है वह विवाह मर्यादा में रह कर ही भोगेंगे। विवाह बाह्य भोग सर्वथा त्याज्य मानेंगे।

विवाह के अन्दर भी कुछ सयम का पालन करना पडता है। एक दूसरे की तन्दुरुस्ती, इच्छा और प्रतिकूल सयोग में विकार पोषण की इच्छा को दबाने का आदर्श प्रेम के कारण ही सम्भव होता है। उस में दूरदर्शीपन भी है।

सम्भोग के कारण जो बच्चे होंगे उन के पालन-पोषण का भी विचार मन में रखना पडता है। बच्चा के हित में बाधा डालें ऐसे भोग गृहस्थाश्रम के लिए योग्य नही है।

विवाह जीवन के द्वारा ही कुटुम्ब-जीवन की उत्पत्ति होती है और उसी में से सामाजिक जीवन बनता है। इस लिए कौटुम्बिक जीवन का हित और समाज का कल्याण, इन दो महान् और सनातन आदर्शों का स्वीकार कर के उन की मर्यादा भी विवाह बन्धन में आ जाती है।

इन मर्यादाओ से जितना आगे का विचार करना पडता है उतना ही पीछे का भी सोचना पडता है। अपत्यसेवा के साथ वृद्धो की सेवा भी विवाह धर्म में आ जाती है। बुजुर्गों के सम्पर्क से सयम सुलभ होता है। उन की सेवा में कुल परम्परा के अनेक सद्गुणो की भी दीक्षा मिलती है। और परम्परा का पालन करने से सस्कृति मजबूत और समृद्ध बनती है।

पति पत्नी को एक दूसरे में समा जाना चाहिए यह आदर्श, विवाह सस्था रखती है। किन्तु एक दूसरे में ओत प्रोत होना सर्वोच्च आदर्श नही है। क्योकि एक दूसरे में ओत प्रोत होने पर भी और एक दूसरे के लिए हर तरह का स्वार्थ त्याग करने पर भी दम्पति में 'हम दो' की स्वार्थवृत्ति बढ सकती है। इसलिए एक दूसरे में ओत प्रोत हो कर भी वह जीवन बुजुर्गों की सेवा में, अपत्यो की सेवा में, समाज के हित में अर्पण करने का आदर्श विवाह सस्था में रखा गया है।

इस आदर्श की वजह से सम्भोग मर्यादा में रहता है। और इस मर्यादा के कारण ही जीवन की उत्कटता और परस्पर निष्ठा पैदा होती है। आरोग्य अच्छा

रहता ह, वासनगोपन में मदद मिलती है और समाज सेवा में कम बाधाएँ आती ह ।

इस तरह जो चीज प्राकृतिक है उस पर प्रेम, निष्ठा, समाजसेवा और धार्मिकता के पुट चढ़ा कर उस को क्रमोवेश दिव्य बनाया गया है। उस की खशबू भिन्न भिन्न समय मे समाज में फैलती ही ह, इतना ही नही उस की स्मृति भी पुश्त दर पुश्त फल कर आशीर्वाद रूप बनती ह । अकेले रामचन्द्रजी का जीवन कई कवियो को प्रेरणा द सका और हर जमाने में असख्य लोगो को एक आदश की दीक्षा देता रहा ।

विवाह जीवन सम्भोग से उत्पन्न होते हुए भी और सम्भोग को मान्यता देते हुए भी, सम्भोग को उत्तेजन नहीं देता । लेकिन उस को धममर्यादा में ला कर कल्याणकर, नियमित और ऊध्वगामी बनाता ह और अन्त में सम्पूण सयम की ओर जा कर मनुष्य को आत्मौपम्य और विश्वात्मैक्य सिखाता ह ।

ब्रह्मचय का आदश भी उसी जीवन शिखर की ओर मनुष्य को ले जाता है । यदि यह आदश नजर के सामने न हो तो ब्रह्मचय स्वाथ का ही एक प्रकार माना जा सकता ह । एक विषय विकार को छोड़ देंगे तो सब झसटों से बच जायेंगे, समाज की या किसी की टीका के पात्र बने बिना व्यक्तिगत स्वाथ का उपभोग कर सकेंगे, यह आदश मन में रख कर अगर कोई ब्रह्मचारी रहे तो—भले उस में कोई विकृति या दोप पैदा न हो—तो भी वह धममान्य आदश नही ह । ब्रह्मचय एक भव्य आदश ह, उस में से दिव्य जीवन निष्पन्न होना ही चाहिए ।

जो विराट ह, भूमा ह—महत, बृहत्तर और बृहत्तम ह उस को प्राप्त करने के लिए जो उच्च आचरण रखा गया ह वही ब्रह्मचय ह । ब्रह्मचय के मानी है, ब्रह्मप्राप्ति के लिए आचरण या साधनामय जीवन ।

ब्रह्मचय की भूमिका में ऐसा विचार या अनुभव ह कि भोगवासना या कामविकार जैसे मनुष्य के लिए स्वाभाविक ह उसी तरह उस पर सम्पूण विजय प्राप्त करना भी मनुष्य के स्वभाव में ही रही हुई चीज ह । प्रथम जिस उम्र में विकार दिखाई दें तब से ही, या उस के बाद जब से सूझे तब से ही दृढ़ सकल्प कर के विकारो पर विजय पाने की सीधी साधना ही क्यो न करें ? ओत प्रोत बनने के लिए विकारो की प्रेरणा जरूरी है, ऐसा नहीं है । इस प्रेरणा को मर्यादित उत्तेजन भी क्या दें ?

आदशविहीन ब्रह्मचय में सिफ स्वाथ समाया हुआ रहने का डर ह । उसी तरह परस्पर निष्ठा से स्वीकृत विवाह बन्धन मे भी कोई विशाल आदश सामने

हो तो पति पत्नी एक दूसरे में ओत प्रोत होने पर भी समाज के प्रति कोई भी जिम्मेवारी न पहचानने तक का अधापन भी उन में आ सकता है। सतति नियमन के द्वारा यह सकुचितता आसानी से सिद्ध हो सकती है। मनुष्य अगर सततिनियमन न करे और प्रजोत्पत्ति होने दे और अपने सामने कोई आदर्श भी न रखे तो पति पत्नी की परस्पर निष्ठा तक या उस के साथ अपत्यनिष्ठा तक आ कर आदमी रुक सकता है। आजकल की मानवजाति में, नई कुटुम्बयोजना में केवल इतनी ही तरक्की दिखाई देती है। ऐसे कुटुम्ब जिस लोग जिस जाति, जमात, समाज या राज्य के होते है उन के प्रति उन्हें कुछ निष्ठा स्वीकारनी या दिखानी पडती है। लेकिन हृदय का उतना विकास न होने के कारण महज स्वार्थ, सुरक्षा या सजा के डर से ही उन्हें उस निष्ठा को स्वीकारना पडता है मजूर करना पडता है। जो चीज हृदय तक पहुँची ही नही है उस का हृदय में पैदा होना कैसे सम्भव है? लेकिन आज मानवजाति ने इतना समझ लिया है कि ऐसी व्यापक निष्ठा को मान्यता दिये बिना अब चारा नही है।

अब निष्ठा एक ऐसी चीज है जो क्रमश फैलती है, फैलनी चाहिए। उस में मोटापन या पतलापन आ जाता है। लेकिन उस की मर्यादा बध जाना निष्ठा के अनुकूल नही है। व्यक्तिगत स्वार्थ दाम्पत्य स्वार्थ, कौटुम्बिक स्वार्थ जातिगत स्वार्थ, जमात का स्वार्थ वर्ग का स्वार्थ और राष्ट्रीय स्वार्थ जसी मर्यादाओं का उल्लघन कर के निष्ठा जब बढती है तब आदमी भूमा (सब) के साथ ओत प्रोत बनता है। और इस में विघ्न डालने वाले किसी भी बन्धन को स्वीकार करने के लिए वह तयार नही होता। इस प्रकार का आदमी स्वार्थी वासनाओं को असामाजिक बनने नही देता। वह विकारो पर विजय पाता है, सकुचित सगठन के अभिमान को तिलाजलि देता है और भूमा के साथ अपना ऐक्य अनुभव करने के लिए ब्रह्मचर्य के आदर्श को स्वीकारता है।

ऐसे आदर्श युक्त लोग अपने आप को विवाह बन्धन में न बाँधें यह स्वाभाविक है। और विश्व के साथ का सेवा सम्बन्ध वे प्रसन्नता से स्वीकारते हैं। अपनी ब्रह्मचर्य वृत्ति दृढ बनाने के लिए साधनाकाल तक वे समाज से अलग रह सकते हैं पर उन का समस्त जीवन सारे समाज में ओत प्रोत और सेवा-परायण रहता है।

इस प्रकार का जीवन बिताने वाले आदमी को, चूकि वह खतरे में न फसे इसलिए कुछ मर्यादाओ को स्वीकार करना पडता है। किसी भी स्त्री के साथ एकान्त में न रहना अपनी कोई 'इस्टेट' न रखना सेवा करते समय व्यक्ति, समूह या सस्था से ममत्व न बाँधना, समष्टि के साथ के ऐक्य में जो बाधक हो

सकती हैं ऐसी जिम्मेवारियों से अलिप्त रहना आदि मर्यादाओं का स्वीकार करना पड़ता है। 'यह मर्यादाएँ मेरे लिए नहीं हैं' कह कर जो आदमी मुक्त होने का दावा करता है वह समाज की शंका का पात्र बनता है और खुद को खतरे में डालता है।

गांधीजी ने ब्रह्मचर्य की जो व्याख्या की है और जो आदर्श हमारे सामने रखा है वह, प्रथम मर्यादाओं को स्वीकार कर के आहिस्ता आहिस्ता उन में से निकलने का है। उन्होंने कई बार कहा है कि बाड़ा में फँसने वाला ब्रह्मचर्य का आदर्श मेरा आदर्श नहीं है। सेवामय संयमी जीवन बिताते समय स्त्री-पुरुषों का जो स्वाभाविक सम्बन्ध उत्पन्न होता है जो सहजीवन का विकास होता है उस को शुद्धता से और सुरक्षितता से सँभालने में ब्रह्मचारी को दिक्कत महसूस नहीं होनी चाहिए। और समाज को ऐसे प्रयोगों के योग्य परिस्थिति और अनुकूलता पैदा कर देनी चाहिए।

जिस प्रकार दो मित्र एक दूसरे के निकट आ कर एकत्र रह या जी सकते हैं, दो बहनें जिस प्रकार सहजीवन बिता सकती हैं उसी प्रकार एक स्त्री और एक पुरुष भी किसी प्रकार के विकारी सम्बन्ध के बिना एकत्र रह सकते हैं। यह चीज समाज को मान्य करनी चाहिए और उस दिशा में प्रयत्न होने चाहिए। लेकिन यह प्रयत्न समाज का विश्वास और आशीर्वाद प्राप्त कर के ही होने चाहिए।

कुटुम्ब में माँ बेटा, पिता बेटी, भाई बहन या देवर भाभी जिस प्रकार निर्मलता से रह सकते हैं उसी प्रकार कौटुम्बिक सम्बन्ध के बिना भी स्वाभाविक तौर से एकत्र आये हुए स्त्री-पुरुष भी किसी भी प्रकार के विकारों के बिना एकत्र रह सकते हैं। इस आदर्श को समाज को मान्य करना ही चाहिए इतना ही नहीं बल्कि पल्लवित-पुष्पित भी करना चाहिए। इस डर से कि इस से अनिष्ट पैदा होगा उस आदर्श का प्रयोग न करने देना मानवजाति के विकास में बाधा रूप है।

स्व० किशोरलाल भाई जैसे एक चेतावनी जरूर देंगे। और आज की परिस्थिति में यह स्वीकारने योग्य है। वे कहते हैं कि एक स्त्री और एक पुरुष अगर मित्रता का ही जीवन बिताना चाहते हों तो उन लोगों का परस्पर सम्बन्ध ऐसा होना चाहिए कि व निर्विकारिता समाज न समझे तो सामाजिक नियमों के अनुसार व मर्यादा करें। ऐसे प्रयोग करने देने में कोई हर्ज नहीं है।

पति पत्नी परिणीत स्थिति में चाहें तो शुद्ध और सम्पूर्ण ब्रह्मचर्य का पालन कर सकते हैं। उस में उन्हें सफलता न मिले और एकान्त में विकारों के वशीभूत

बन तो समाज की दृष्टि से कोई हानि नहीं है। गृहस्थ-जीवन को भी उस में कुछ हानिकारक नहीं है। इसी तरह ऊपर का आदर्श भी होना चाहिए। फर्क इतना ही है कि प्रथम विकारवश होकर बाद में विवाहबद्ध होने की स्थिति न स्वीकार कर, विकारवश होंगे ऐसा महसूस होते ही प्रथम विवाहबद्ध हो जायें यही सामाजिक निर्मलता की दृष्टि से और मानवीय प्रतिष्ठा की दृष्टि से भी अच्छा और योग्य है।

हमारे देश में ब्रह्मचर्य की प्रतिष्ठा लोगों के मन पर बैठाने के लिए उस की इतनी तारीफ़ की गयी है कि वह आदर्श है, उस से भी ज्यादा कठिन लगता है। और उस आदर्श तक पहुँचे हुए और उस का सफलतापूर्वक पालन करने वाले लोगों की प्रतिष्ठा इतनी ज्यादा बढ़ गयी है कि उस आदर्श तक पहुँचने का ढोंग करने का लालच कई लोगों में पैदा होता है और समाज में दम्भ का पोषण होता है। जहाँ ऐसी असाधारण सामाजिक प्रतिष्ठा पैदा होती है वहाँ समाज का कुछ हिस्सा पूजा करना चाहता है और दूसरा हिस्सा ईर्ष्या करता है। इस से भी ब्रह्मचर्य का आदर्श बिना किसी कारण के मुश्किल बन गया है।

जाड़े के दिनों में कुछ लोग गरम पानी से नहाते हैं और कुछ ठंडे पानी से। बेशक ठंडे पानी से नहानेवाले लोग मुक़ाबले में ज्यादा सहनशील हैं। लेकिन उन को इसी वजह से लोकोत्तर या अवतारी पुरुष कोई नहीं कहता। और चुपके गरम पानी से नहा कर बाहर मैं ठंडे पानी से स्नान करता हूँ, बता कर अपने को कोई बहादुर नहीं साबित करना चाहता न ठंडे पानी से स्नान करने वालों की कोई उच्च अलग श्रेणी मानी जाती है। यही हालत अगर ब्रह्मचर्य और गृहस्थाश्रम के सम्बन्ध में हो तो समाज में ब्रह्मचर्य के आदर्श की तालीम देने में काफ़ी मदद मिलेगी।

ब्रह्मचर्य का पालन करते समय भी किसी को यह भूमिका नहीं लेनी चाहिए कि वह अति कष्ट साध्य है फिर भी हम उस का पालन कर रहे हैं। अति कष्ट से जिस का पालन होता है वह ब्रह्मचर्य आरोग्य की और आध्यात्मिक दृष्टि से कहाँ तक पोषक है इस बात की भी खोज होनी चाहिए। समाज को देखना चाहिए कि ऐसे अनधिकारी प्रयत्न भी समाज में न होने पायें और इसी लिए ब्रह्मचारियों को चाहे तब गृहस्थाश्रम में प्रवेश पाने की इजाज़त मिलनी चाहिए। मनुष्य का स्वभाव परिस्थिति और आदर्श यदि अनुकूल हों और प्रयत्न की दक्षता भी हो तो विकास के लिए ब्रह्मचर्य अत्यन्त पोषक चीज़ है। ब्रह्मचर्य से शरीर सुदृढ़ बनता है। मानसिक शक्तियों का सुन्दर विकास होता है सेवा के

द्वारा विश्वात्मैक्य साधने का आदर्श सुलभता से ग्रहण होता है और ऐसे जीवन की सुगंध असंख्य लोगों को प्रेरणा देती है।

गृहस्थाश्रम में से ही कुटुम्ब संस्था उत्पन्न होती है। और वही एक ऐसी संस्था है जिस की परम्परा सतत, अखण्ड और अटूट टिक सकती है। मगर इस के मानी ये नहीं हैं कि कुटुम्ब-संस्था का विघटन हो ही नहीं सकता। उस का विसर्जन भी करने का अधिकार मनुष्य को है। कायरता से उस का कोई विसर्जन करे तो वह कोई उत्तम काम नहीं गिना जायेगा। लेकिन कुटुम्ब में जब हर तरह की हीनता और विकृति पैदा होती है तब कुटुम्ब-संस्था का विसर्जन करना जरूरी होता है।

प्राचीन काल में हम ने अविभक्त कुटुम्ब का आदर्श अपने सामने रखा था। उस के लिए जो परस्पर सहकार, आत्मीयता और उदारता आवश्यक थी वह जब तक कायम थी तब तक अविभक्त कुटुम्बों ने बड़े पराक्रम करके दिखाये। इन आवश्यक सद्गुणों के अभाव से जब पुरुषार्थ क्षीण हुआ तब अविभक्त कुटुम्ब के आदर्श ने कुटुम्ब संस्था को किसी न किसी तरह स्थिर बनाने के लिए भारी सहायता दी थी। लेकिन आगे चल कर जब यह दिखाई दिया कि कुटुम्ब वृत्ति के ही नष्ट होने के बाद अविभक्त कुटुम्ब को कायम करने के प्रयत्नों से नरक के जैसी परिस्थिति पैदा हुई है तब लोग ऊब गये और अविभक्त कुटुम्ब-पद्धति की ही टीका करने लगे और उसे करीब-करीब छोड़ ही दिया। इस से सामुदायिक जीवन निर्मल तो जरूर हुआ, लेकिन कुछ श्रेष्ठ सद्गुण भी उस के साथ क्षीण हो गये।

अविभक्त कुटुम्ब पद्धति में एक ही व्यक्ति का आधिपत्य हो और बाकी लोगों को कुछ भी अधिकार न हो, ऐसी पुरानी रचना थी। यह दोष दूर किये बिना अब बड़े कुटुम्बों की स्थापना नहीं हो सकती। लेकिन अब बड़े कुटुम्ब स्थापित करने के बदले समाजसत्तावादी राज्यपद्धति अमल में लाने की तरफ मानव जाति बढ़ रही है। यह अच्छा ही है ऐसा कहना मुश्किल है। लेकिन आज की हालत में वह अपरिहार्य मालूम होता है। हालांकि नये आदर्श को लेकर सर्व-सत्तात्मक संयुक्त कुटुम्ब पद्धति का पुनर्जीवन करना अधिक इष्ट है। और भिन्न भिन्न व्यवसाय वाले अनेक कुटुम्बों का राजसत्ताविहीन कौटुम्बिक समाज स्थापित करने का प्रयोग करने योग्य अवश्य है।

(मई १९६३)

आपद्धर्म या प्रधान धर्म

इन दिनों कई अमेरिकन मनीषियों से व्यावहारिक हिन्दू धर्म के बारे में चर्चा होती रहती है। बड़े चाव से सुनते हैं और मार्के के सवाल भी पूछते हैं। अभी अभी चन्द लोगों ने एक सवाल पूछा, "सन्तति नियमन के बारे में हिन्दू धर्म की दृष्टि क्या है?"

मैं ने कहा, 'हम लोग इस सवाल को नैतिक दृष्टि से सोचते हैं। आप के रोमन कैथलिक धर्मगुरु जिस 'धार्मिक' दृष्टि से इस बारे में निर्णय देते हैं, वैसा हमारा रुख नहीं है।

उपनिषदों को अगर हम अपने धर्मग्रन्थ कहें तो एक उपनिषद के खिलकाण्ड में (परिशिष्ट में) जो नसीहत है उसे पढ़ते कहना पड़ेगा कि हमारे ऋषि सर्वथा संतति नियमन के विरुद्ध नहीं थे। वहाँ बताया है कि पति-पत्नी अगर संतति की इच्छा करते हैं तो मिलन के समय अमुक ढंग से प्राणायाम करें और अगर पति-पत्नी चाहें कि मिलन के फलस्वरूप संतति पैदा न हो तो दूसरे अमुक ढंग से प्राणायाम करें। यह जो तरीका बताया है वह कारगर है या नहीं यह देखने का काम हमारा नहीं है। हमारे लिए इतना बस है कि उपनिषद के ऋषि को संतति नियमन का तत्त्व मान्य था। और वे उस के लिए अपने खयाल के अनुसार कुछ रास्ता भी बताने के लिए तैयार हुए थे।

मुझे इतना ही कहना है कि हिन्दू धर्म हमेशा जीवन के प्रति वैज्ञानिक दृष्टि रखता आया है। खूबी इतनी ही है कि हमारा विज्ञान केवल भौतिक नहीं, किन्तु भौतिक के साथ-साथ अथवा भौतिक से अधिक आध्यात्मिक विज्ञान की दृष्टि से हमारे ऋषि सोचते थे और सलाह देते थे।

उन्होंने देखा कि केवल जीना यही जीवन का उद्देश्य नहीं हो सकता। जीवन जीते कुछ शारीरिक और मानसिक सुख मिलता अवश्य है, लेकिन ऐसा

यह तय किया और ऐसे आदर्शों को पुरुषार्थ का नाम दिया। धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष ये हैं चार पुरुषार्थ। धर्म में खास दृष्टि रखी जाती है सामाजिक जीवन की। सामाजिक जीवन अगर सफल रहा तो व्यक्ति और कुटुम्ब ही नहीं, सारा मानव वंश सुखी होगा। और परम उत्कर्ष तक पहुँच सकेगा। इस लिए सफल सामाजिक जीवन के लिए जिन जिन सद्गुणों का विकास करना चाहिए और जिन जिन वृत्तियों का संयम करना चाहिए उस का विस्तार कर के उसे नाम दिया धर्म और कहा कि मनुष्य को स्वच्छन्द नहीं बनना चाहिए। धर्मतन्त्र के अधीन रहना चाहिए। मनुष्यों में जो कामवासना है और अर्थप्राप्ति की लालसा है दोनों को धर्म के मातहत जीना चाहिए। तभी मनुष्य का परम कल्याण होगा।

इस लिए आप देखेंगे कि कामवासना कुदरती है इस लिए जीवन में उसे पूर्ण अवकाश मिलना ही चाहिए ऐसी अवैज्ञानिक दृष्टि हिन्दू धर्म की नहीं है। काम की प्रेरणा कुदरत ने इतनी जबरदस्त रखी है, इस लिए कि प्रजातन्तु का व्यवच्छेद न हो, नाश न हो। लेकिन साथ यह भी वचन है—

एतत् कामफलं लोके यद् द्वयोः एकचित्तता।

दो व्यक्तियों में अधिक से अधिक एकचित्तता उत्पन्न करने के लिए ही विवाह-सम्बन्ध की कल्पना की है। गृहस्थ धर्म, दाम्पत्यधर्म इस लिए पवित्र है। उस में दो जीवों का मिलन समाज के उत्कर्ष के लिए है। सम्भोग और संयम भोग और त्याग दोनों का समन्वय उस में है।

इस लिए वृत्ति के संयम को ही प्रधानता दी गयी है। जो लोग संयम का महत्व नहीं समझते वे भी पति पत्नी के बीच परस्पर निष्ठा की अपेक्षा तो रखते ही हैं। इस परस्पर निष्ठा की उत्कटता संयम के बिना सिद्ध नहीं होती। विवाह सम्बन्ध में सेक्सलाईफ और लवलाईफ—यौन-सम्बन्ध और प्रेम सम्बन्ध—दोनों का एकत्र खयाल किया होता है। और प्रेम सम्बन्ध को उत्कट बनाने की ओर पूरा झुकाव रखा है। यौन-सम्बन्ध को गौण बनाना प्रेम-सम्बन्ध को सर्वोपरि मानना और दोनों को धर्म की मर्यादा में रखना यही है मानवता का तकाजा और यही है मानवता का उत्कर्ष। इस आदर्श तक समाज को ले जाना और अन्त में हर तरह की दासता दूर कर के जीवन को कृतार्थ करना यही है—मोक्ष का आदर्श। धर्म की प्रधानता न रही तो मोक्ष असम्भव है। (यहाँ धर्म के मानी हिन्दू यहूदी, मुस्लिम, ईसाई इत्यादि सम्प्रदाय नहीं किन्तु इन सब धर्मों को धर्म बनाने वाला जो परम धर्म है, जो शुद्ध धार्मिकता है उसी से मतलब है।)

गीता में कहा है—'धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि भरतर्षभ।' जो काम धर्म का द्रोह नहीं करता वही विभूति का स्थान प्राप्त कर सकता है।

जहाँ मनुष्य प्रधान धर्म का, उत्तम धर्म का पालन करने में समर्थ नहीं है, वहाँ उस के लिए, उस के स्वभाव और परिस्थिति के अनुरूप आपद्धर्म बताया जाता है। हिंदूधर्म में आपद्धर्म के लिए अवकाश है। लेकिन साथ साथ यह भी कहा है कि जो व्यक्ति प्रधान धर्म के पालने के लिए समर्थ होते हुए भी आपद्धर्म का आश्रय लेता है उस का जीवन निष्फल होता है और उसे धर्मपालन का समाधान नहीं मिल सकता।

आजकल की संतति नियमन की प्रवृत्ति आपद्धर्म को प्रधान धर्म का स्थान देती है, यही है उस की सब से बड़ी कमजोरी। प्रेमधर्म और समाजधर्म की कसौटी पर जो खरा उतरे वही है उत्तम धर्म। दुर्बलता के कारण जहाँ कुछ गौण रास्ता ढूँढा जाता है वह है आपद्धर्म। प्रेमधर्म और समाज धर्म का जिस में द्रोह है वह है अधर्म।

(२४ फरवरी १९५९)

त्याग और संयम

नये, पुराने सभी दरबन कहते हैं कि त्याग और संयम ये दो तत्त्व मानव संस्कृति की बुनियाद हैं। लेकिन जब किसी समाज को त्याग और संयम का स्वीकार करने की सूचना की जाती है तब लोग कहने लगते हैं कि हम कोई साधु महात्मा नहीं हैं, हमें समाज में रहना है। ईमानदारी से रह कर ऐहिक सुखों का उपभोग लेना है। हमें संन्यासी के समान अरसिक नहीं रहना है।

अब चंद लोग यह भी कहने लगे हैं कि स्वर्ग-नरक हम कुछ नहीं जानते। इस दुनिया में ही जो कुछ स्वर्ग या नरक अनुभव करेंगे वही हमारे लिए सही है। और मृत्यु के बाद अगर स्वर्ग-नरक होंगे ही तो वह नरक टालने जितनी तैयारी हम इस जन्म में करेंगे। लेकिन मरने के बाद के स्वर्ग-सुख के लिए इस जन्म में तकलीफ भरी जिंदगी जीने के लिए हम तैयार नहीं हैं। हमारा ईश्वर, हमारा स्वर्ग और हमारा पुनर्जन्म इसी दुनिया में है। और उस हम प्रामाणिक रूप से 'सनातन मनुष्य-समाज' के नाम से पहचानते हैं। इन लोगों को त्याग और संयम [illegible] प्रिय न होने पर भी उन को यह तत्त्व मान्य नहीं, ऐसा नहीं

लगता। उन के सामने जैसा आदर्श हो वस शब्दों में और उतने प्रमाण में अगर उन को त्याग और संयम सिखाया जाय—सुझाया जाय तो उन के मन में विरोध पैदा नहीं होता।

सामान्य लोग जब कहते हैं कि मोक्ष प्राप्त करने के लिए संन्यास लेना ही चाहिए, तब उन की मोक्ष की कल्पना प्रायः गलत होती है। और गलत न हो तो भी बिलकुल संकुचित होती है। और संन्यास शब्द का अर्थ भी बिलकुल रूढ़िग्रस्त हो गया है। मोक्ष यानी छुटकारा, संन्यासी यानी दुनिया की झंझट से ऊब कर जीवनकलह टालने वाला पलायनवीर और उस का मोक्ष यानी फिर से यह झंझट पीछा न करे ऐसी शून्य स्थिति ऐसा लोग समझते हैं। ये लोग कहते हैं कि जीवन में सुख दुःख दोनों हैं। दोनों क्षणजीवी हैं। दोनों तुच्छ हैं। लेकिन ऐसा होते हुए भी इसी जीवन में उच्च हेतु से अनाथों के लिए लड़ना, अपनी जनता का अज्ञान दूर करने के लिए अखण्ड मेहनत करना और ज्ञान क्षेत्र का विस्तार करने के लिए अखण्ड खोज करते रहना इन सब में जो जीवनानुभूति सुख और दुःख दोनों के द्वारा समृद्ध बनती है वह कोई त्याज्य पदार्थ नहीं है। कायरता और निठल्लापन ही अगर विरक्ति का लक्षण हो तो वैसी पलायनवीर कामचोर विरक्ति हमें नहीं चाहिए। ज्ञानोपासना, ज्ञानप्रचार और अन्याय का प्रतिकार इस त्रिविध जीवन सेवा में जो कुछ आनन्द प्राप्त होगा वही निर्दोष और पवित्र समझ कर उस को हम स्वीकार करेंगे और जो-जो वृत्तियाँ इस त्रिविध सेवा के मार्ग में आयगी उन का त्याग करेंगे।

ऐसे लोगों से कहना चाहिए कि इस से अधिक हम कुछ चाहते भी नहीं हैं। समाज यानी अपनी छोटी-सी या बहुत बड़ी टोली है ऐसा अर्थ मत कीजिए। अपनी जाति, अपना राष्ट्र या अपनी संस्कृति तक ही अपना समाज सीमित है ऐसा न मानते हुए अशेष मनुष्य समाज को अपना कहने से और इस मनुष्य समाज को सहकारिता में जिन पशु-पक्षियों को हम ने शामिल कर लिया है उन सब को अपना कहने से समाज की कल्पना शुद्ध बनती है। और ऐसे समाज का हित केवल वर्तमान पीढ़ी की दृष्टि से न देखते हुए सार्वकालिक हित की चिन्ता करने से जीवन अपने आप शुद्ध बनता जाता है और समृद्ध भी बनता है।

ऐसे इस सम्पूर्ण समाज की पहचान के लिए या उस की सेवा करने के लिए अगर हम दुनिया भर इधर-उधर भटकने लग जायें तो जीवन कृतार्थ बनने के बजाय पागलपन ही पल्ले पड़ेगा।

इसलिए सम्पूर्ण समाज को पहचानने के लिए उस समाज की आत्मा पहचाननी चाहिए। सरकार को जो कर देने का होता है वह हम कहीं भी हों तो

भी नजदाक के खजाने में भर देने से जिस प्रकार सरकार के पास पहुँच जाता है उसी प्रकार विराट् सनातन समाज की आत्मा को पहचानने के बाद उस के अनुसार बरतते हुए कही भी जो कुछ भी प्राप्त हुआ काय स्वधर्म के रूप में उपस्थित हो जाय उस का पालन करना विराट सनातन समाज की सम्पूर्ण सेवा करने के समान ही है। पारिभाषिक शब्दों में कहना हो तो व्यक्तिगत स्वधर्म एकांगी धर्म नही है, बल्कि सम्पूर्ण सवधर्म की ही वह एक विभूति होती है।

ऐसे समाज की सेवा करने के लिए समाज की आत्मा का साक्षात्कार होना आवश्यक है। इस साक्षात्कार के लिए जो कुछ पूर्व तैयारी करनी पड़ती है उसी को त्याग और संयम कहते हैं। साक्षात्कार होने के पहले त्याग और संयम मनुष्य की साधना होता है। पूर्ण साक्षात्कार के बाद वही तत्त्व उस का सहज स्वभाव बन जाते हैं। दुनिया छोड कर भाग जाने वाले लोगों को तामसिक सुख मिलता होगा। शायद वह सात्त्विक सुख भी साबित होगा। लेकिन उसे कतई मोक्ष नही कहा जा सकता। समाज हित और अपना हित यह द्वन्द्व जिस के जीवन में समाप्त हुआ उस मनुष्य का सम्पूर्ण विकास हुआ। इस विकास के लिए अपना शरीर, अपना मन अपनी आदतें और अपने सम्बन्ध शुद्ध कर के योग्य रूप में दृढ़ करने का जो कार्यक्रम, उसी को साधना कहते हैं। जीवन का आदर्श शुद्ध होने पर ही यह कार्यक्रम, जीवनक्रम या साधना साध्य होते हैं।

कोई वैरागी वासनाओं पर विजय पाने के लिए संसार त्याग कर वन में जाता है। वहाँ पर भी एक स्थान पर नहीं रहता। मन विकारी होगा इस लिए स्त्रियों का सम्पर्क भी होने नही देता। स्वाद पर विजय पाने के लिए नीरस अन्न खाने की आदत डालता है। अधिकार मद पैदा न हो इस लिए अधिकार के स्थान छोड देता है। द्रव्य प्राप्त करना उस का संग्रह करना और उस का उपभोग करना इन तीनों बातों से वह अलिप्त रहता है। और इस प्रकार विजयी हो कर मुक्त-शांति अलिप्तता और जीवन शुद्धि प्राप्त कर लेता है।

जीवनशुद्धि प्राप्त होने के बाद भी वह अपनी यह साधना छोड़ना नहीं चाहता।

ऐसे मनुष्य का जीवन पूर्ण होता है या शून्य उस का विचार उसे अपने आप करना होगा। हमें उस का न्यायाधीश नहीं बनना चाहिए। उस का अनुभव उस को जो कुछ कहेगा वही सही। उस का जीवन-साधना हमें बाल-सी मालूम होती होगा अद्भुत होगा, अपार्थ होगा। कुछ भी हो उस में जाने की चर्चा छोड़ देना ही ठीक होगा।

हमारे यहाँ क्षत्रिय के आदर्श के रूप में पहचानी जाने वाली एक साधना है। आदर्श क्षत्रिय कहता है कि सुखोपयोग अगर मेरे हिस्से में आये तो सदाचार के अनुसार जो कुछ भी सुखोपभोग आयेंगे उन का मनःशक्ति बन कर स्वीकार करूँगा। मात्र इतनी सावधानी जरूर बरतूँगा कि वह मुझे घेर न बैठें, मुझ पर हावी न हो जायें।

उसी प्रकार कितना ही दुःख मुझ पर क्यों न आ पड़े और वह मुझे दीर्घकाल तक क्यों न सहना पड़े मैं उस से नहीं दबूँगा। दारुण दुःख के सामने भी मेरा चारित्र्य अभंग रहे तो ही मैं सच्चा क्षत्रिय हूँ। तपस्वी बन कर मैं दुःखों को व्यर्थ न्योता नहीं दूँगा। तपोवृद्धि के नाम से दुःख को ही सुख मानने की साधना मैं नहीं अपनाऊँगा। दुःख को दुःख मानूँगा और सुख को सुख। लेकिन दुःख के कारण मेरे कर्तव्य-पालन में थोड़ा भी फर्क नहीं आयेगा और सुख-सेवन के कारण मेरे चारित्र्य में ढिलाई पैदा नहीं होगी इस बात की सावधानी मैं अखण्ड रखूँगा।

यह आदर्श जो सम्पूर्ण रूप से सांगोपांग समझा है और जिसे वह मान्य है उस से विशेष कुछ कहने का बाकी रहता ही नहीं। जितना त्याग और संयम वह इष्ट समझता है उतना ही उस के लिए इष्ट है। त्याग और संयम का आदर्श वैरागी के पास से नहीं, बल्कि सच्चे वीर के पास से—सच्चे क्षत्रिय के पास से सीखना चाहिए।

दूसरे चन्द लोग कहते हैं कि वैरागियों का संन्यास युग जिस तरह बीत चुका उसी तरह कमर में तलवार लटका कर अनाथों का रक्षण करने के लिए देश भर में भटकते रहने वाले क्षत्रियों का युग भी अब बीत चुका है। हम अब आप का क्षात्र-युग मानते ही नहीं हैं। वह आदर्श ही गलत है। मुट्ठीभर लोग दुःख निवारण का धंधा करें और अधिकांश जनसमाज अनाथ बन कर ऐसे क्षत्रियों का मुँह ताकते रहें यह हमें मान्य नहीं है। हरएक को अपना रक्षण करना सीखना चाहिए। अगर यह मुमकिन न हो तो सब मिल कर सब का रक्षण करें। यही सच्चा धर्म है। एक के लिए जिस तरह दूसरा कोई भोजन नहीं कर सकता (पितरों के लिए ब्राह्मण भोजन करते हैं उन को क्षमा है), एक के लिए दूसरा सो नहीं सकता उसी तरह प्राणोपासना और आत्मरक्षण के बारे में दूसरों पर निर्भर रह कर स्वयं इस महत्त्व के क्षेत्र में अकर्मण्य रहना ठीक नहीं है।

इसलिए हम अपने सामने केवल प्रामाणिकता का आदर्श रखते हैं। न तो क्षत्रिय का, न संन्यासी का ही।

इन धर्मों के साथ हमारा कोई झगड़ा नहीं है। प्रामाणिकता का मार्ग बिल्कुल साफ और सीधा मालूम हुआ तो भी उस में सब कुछ आ जाता है।

प्रामाणिक मनुष्य को इतना ही पूछना होगा कि अगर आप के पुरखों ने पाँच-पचास लोगों को ठग कर धन-संग्रह किया हो और उस का हिस्सा आप को मिले तो वह पाप का पैसा आप हजम कर बैठेंगे या उस का त्याग करेंगे? और आज भी आप के व्यवहार में अगर चार लोगों के सहकार से आप को धन प्राप्ति हुई या प्रतिष्ठा मिली तो उस का योग्य हिस्सा—प्रामाणिक हिस्सा अपने साथीदारों को देंगे या नहीं? प्रामाणिक मनुष्य को जो अनासक्ति कमानी पड़ती है वह वैरागी से कम दर्जे की नहीं होती और उस की तेजस्विता शक्तियों से कम हो तो भी काम नहीं चल सकता। सभी सद्गुण एक ही हैं। मूल रूप में उन के नाम और भूमिकाएं भिन्न भिन्न हों तो भी सब का मूल एक ही होता है। दुनिया में जो वैरागी होते हैं वैसे आप मत बनिए। व्रत, नियम मत कीजिए। क्षणिक मन कर अन्याय का पीछा करने का व्रत चाहे आप मत लीजिए। लेकिन जहां कहीं भी हों, प्रामाणिकता से जीना प्रारम्भ करते ही हर रोज, कदम-कदम पर संयम और त्याग के प्रसंग उपस्थित होने ही वाले हैं।

शुद्ध जीवन आसान जीवन नहीं है। मन में उठने वाली भिन्न भिन्न असामाजिक वासनाओं को दबाये बिना समाज में प्रामाणिकता से बरतना मुमकिन नहीं होता। और ऐसी वासनाएं केवल दबाने से काम नहीं चलता। उन का पूरा नाश करने से ही हम निश्चिन्त होकर समाधान पा सकते हैं। अर्थात् संयम स्वाभाविक और सुन्दर होने पर ही प्रामाणिकता की साधना सिद्ध हुई ऐसा कह सकते हैं।

और समाज रूपी कुटुम्ब में सब व्यक्तियों के हित का महत्त्व पहचान कर न्याय से हरएक का हिस्सा हरएक को देना ही तो त्याग है।

वैसे देखा जाय तो आजकल के लोगों के मन में त्याग और संयम शब्दों के बारे में ही घृणा पैदा हुई है। इन शब्दों की बुनियाद में जो शुद्ध तत्त्व है उन के लिए सज्जनों के मन में आदर भाव की कमी नहीं है। और जिस का कारण भी स्पष्ट है। संन्यासी वैरागियों ने और साधुओं बाबाओं ने त्याग और संयम का ठेका अपने पास रखा और वह आदर्श बरबाद किया। परम्परागत रूढ़ियों की छिछली और अर्थविहीन निरुपयोगी नहर में से इन सद्गुणों का प्रवाह उन्होंने पहले बहने दिया। आगे चल कर यह प्रवाह बहना भी बन्द हो गया। और उसे एक छोटे से डाबर का रूप मिला। फिर लोगों को उस में से बदबू न आये तो और क्या होगा?

जो सच्चे समाजसेवी त्यागी और संयमी हों उन को चाहिए कि वे दुनिया से अलिप्त न रहें। अपनी रहन-सहन दुनिया से भिन्न बना कर अपनी एक अलग जाति पैदा न करें। ऐसे लोगों को सिन्दूर लगा कर देव बना कर अपने समाज में से एक तरफ़ रखने की कला समाज को साध्य है। हम आप को पूज्य कहेंगे, आप का आदर करेंगे, लेकिन आप हमारे व्यवहार में दखल मत दीजिए' इस तरह समाज बड़ी नम्रता से लेकिन साफ़ साफ़ कहता रहता है। "आप ठहरे महात्मा लोग। आप के लिए जो सम्भव है वह हमारे लिए कैसे सम्भव होगा?" इस तरह बार-बार कह कर समाज यही चाहता है कि ये लोग सामाजिक आदर्श सुधारने की कोशिश न करें। भक्ति करेंगे आप के आदर्श की, लेकिन आचरण होगा भिन्न आदर्श का इस तरह के बर्ताव का समाज आदी हो गया है। इस लिए समाज-सेवक को चाहिए कि वह अपनी शुद्धि की रक्षा कर समाज में दस लोगों में घुल मिल कर रहने की कोशिश करे। और दस लोगों में रह कर भी त्याग और संयम का पालन किस प्रकार चुपचाप हो सकता है यह बतावे। इसी तरह ये आदर्श समाज में घुस कर समाजव्यापी बनेंगे और आखिर सारे समाज का उद्धार होगा।

त्याग और संयम को आप आदर्श कहिए या सामाजिक वृत्ति कहिए, समाज की बुनियाद ही उन पर आधारित है। इतना ही नहीं बल्कि जीवन का सच्चा आनन्द भी इन पर ही निर्भर है।

कबीर ने एक जगह कहा है कि त्याग शीतल होना चाहिए आक्रोशयुक्त नहीं। त्यागी मनुष्य का मुखभाव भूखे मनुष्य की तरह न हो, बल्कि अपने बच्चे के लिए सब तरह का त्याग कर के सन्तोष मानने वाली माता के समान प्रसन्न होना चाहिए। सच्चे त्याग संयम के यह एक कसौटी ही है।

(१२ अगस्त १९४८)

नया वानप्रस्थ

हमारे चार आश्रमों में से वानप्रस्थ आश्रम का चिन्तन इन दिनों नहीं हो रहा है। कहीं भी देखें गृहस्थाश्रमी लोग तो सब जगह होते ही हैं। सन्यासी इन दिनों पहले की अपेक्षा कम पाये जाते हैं। लेकिन वे भी हैं सही। वानप्रस्थाश्रम, गृहस्थ और सन्यास का बीच का एक विष्कम्भक है। उस जीवन का वर्णन

अनेक स्मृतियों में और इतिहास-पुराणों में पाया जाता है। लेकिन उस का पूरा चिंतन इस दिनों नहीं हो रहा है।

गुजरात में सेवानिवृत्त प्रचारकों के लिए वानप्रस्थ नाम यहीं के जिज्ञासा ने चला कर देखा, लेकिन वह चला नहीं।

स्मृतियों में और पुराणों में वानप्रस्थ जीवन के बहुत बड़े महत्त्व आते हैं। उस पर से जो अनुमान निकलते हैं उस का हम पहले विचार करें।

ब्रह्मचर्य आश्रम विद्या और संस्कृति की पूर्व तयारी के तौर पर है। वानप्रस्थ आश्रम संन्यास की तयारी के लिए है। बाकी मनुष्य के सामाजिक जीवन का और सब पुरुषार्थ का प्रधान समय गृहस्थाश्रम ही है। जब शरीर निरोगी और मजबूत होता है, इन्द्रियाँ सक्षम और सतेज होती हैं, उसी समय मनुष्य को चाहिए कि वह सब तरह का पुरुषार्थ करे। आयु के इस समय प्रभावशाली काल को संस्कृत में 'कल्यवयस्' कहा है। इस उम्र में धन, कीर्ति प्रतिष्ठा आदि पा कर और बच्चों को उच्च शिक्षा और संस्कार दे कर जब मनुष्य कृतार्थ होता है, तब स्वाभाविकतया वह आराम तलब बनता है इस तरह के सुख प्राप्त कर के सन्तुष्ट होता है समाज की सेवा कर के प्रतिष्ठा पाता है और बाकी के दिन सुख, सन्तोष और निश्चिन्त अवस्था में व्यतीत करना चाहता है।

जिस तरह यौवन का उन्माद होता है वैसा ही पुरुषार्थ पराक्रम का भी उन्माद होता है जिसे महत्त्वाकांक्षा कहते हैं। जब इन का अवसर पूरा होता है, तब मनुष्य आराम ढूँढ़ने बैठता है, कुछ शिथिल भी होता है। लेकिन यह अवस्था काफी दिन तक मनुष्य को पसन्द नहीं आती। आराम और सुख अच्छे हैं, लेकिन शिथिलता अच्छी नहीं है। मनुष्य जरा-सा नाजुक बदन होते ही घबड़ा जाता है और चाहता है कि मैं फिर से हट्टा-कट्टा और सहनशील बनूँ।

सुखोपभोग की मात्रा बढ़ने पर कुछ तंग हो कर मनुष्य चाहता है कि अब मैं फिर से सन्तोष की ओर मुड़ जाऊँ। और तीसरी बात इस से भी अधिक महत्त्व की है। मनुष्य सोचता है कि अब जब मैं धन नहीं कमाता हूँ तब घर वालों की और समाज की सेवा लेने का मुझे अधिकार क्या है? जिस ने धन कमाना छोड़ दिया उसे चाहिए कि वह अपना खर्चा भी कम कर दे और लोगों की सेवा लेने की अपेक्षा स्वावलम्बन से ही अपना शेष जीवन व्यतीत करे।

ये तीनों आदर्श मन में रख कर सामाजिक जीवन से मुक्त हो कर निवृत्त जीवन का अनुभव करने की मनुष्य को इच्छा होती है जिसे हमारी संस्कृति ने संन्यास का नाम दिया है।

संन्यस्त जीवन आसान नहीं है। बुढ़ापे में यात्रा करते रहना, भिक्षा माँग

कर पेट भरना और मन का सांसारिक खाता में से खींच लेना आसान काम नहीं है। इस की पूर्व तयारी करनी ही होती है। वही है वानप्रस्थ आश्रम।

जब लोग बारह-बारह बरस चार वेद और छह वेदांग का रटन करते थे, गृहस्थाश्रम में घर में अग्नि रख कर हवन करते थे, तब का वानप्रस्थ आश्रम अलग था। आज उसे कोई भी सजीवन नहीं कर सकता। यज्ञ-संस्था अब हमारे सामाजिक जीवन में से हट गयी है। ऐसी हालत में वानप्रस्थ आश्रम को नया ही रूप देना होगा।

जब मनुष्य इस तीसरे आश्रम में प्रवेश करता है तब वह अपने को धन कमाने के भार से मुक्त करता है। साथ-साथ घर का व्यवहार चलाने का भार अथवा अधिकार उस छोड़ देना चाहिए। उस की आजीविका चलाने का कर्तव्य समाज का है और उस का कर्तव्य है समाज का हित करने वाली संस्थाएँ चलाने का और जब समाज माँगेगा, उसे सलाह देने का। वानप्रस्थ आदमी का आर्थिक भार किसी एक संस्था पर न रखते हुए अगर सारे समाज ने उस का प्रबन्ध कर दिया तो ज्यादा अच्छा होगा। फिर उस की योग्यता और समाज की गरज के अनुसार समाज उस से काम ले सकता है अथवा वह स्वयं अपनी अभिरुचि के अनुसार समाज-सेवा का कोई-न-कोई कार्य पसन्द कर सकता है।

समाजसत्तावाद (Socialism) में अक्सर सम्पत्ति की मालिका समाज की होती है। वानप्रस्थ आश्रम में प्रवेश करने वाले सब लोगों का जीवन समाज को अर्पित होता है।

इस तरह से व्यक्तिगत जीवन का पूरा संकोच कर के जब मनुष्य अपने जीवन के द्वारा पूरा-पूरा सामाजिक बनता है, तब सामाजिक संस्कार चलाने के लिए जो नैतिक भूमिका आवश्यक होती है समाज को आसानी से मिलती है।

अपने शरीर द्वारा और परिपक्व अनुभव द्वारा समाज की सेवा करते-करते जब मनुष्य का शरीर और मन थक जाते हैं और चित्तवृत्ति अलिप्त हो कर निवृत्त जीवन की इच्छा करती है तब मनुष्य चाहे तो संन्यास आश्रम में प्रवेश करे और सब सामाजिक बन्धन छोड़ कर दुनिया के सब मनुष्यों को और प्राणी मात्र को अपनी ओर से अभयदान दे कर ऐसी भूमिका पर आरूढ़ हो कि मानो वह सब प्राणियों के दादा का दादा है। मन में वह कहे कि 'ये सब मेरे ही बच्चे हैं। इन में अपना और पराया ऐसा भेद कैसे करूँ? मैं न किसी का न्याय करूँगा, न किसी को सजा। मेरा हृदय विश्व हृदय बन गया है। सब के लिए क्षमा सब के लिए करुणा और सब के प्रति आत्मीयता अखिल मनोभावना यही अब हो गयी है मेरी चित्तवृत्ति।

वानप्रस्थ आश्रम ऐसे 'वसुधैव कुटुम्बकम्' वाली संन्यस्त वृत्ति की पूर्व तैयारी होगी। उस में निष्काम कर्मयोग परिपक्व होगा।

(२५ जून १९६४)

संन्यास : आश्रम या वृत्ति ?

महात्मा गांधी ने संन्यास-आश्रम और संन्यासी वृत्ति की ओर ध्यान खींचा और कहा कि संन्यास-आश्रम को हिंदू धर्म में महत्त्व का स्थान है। विश्व कल्याण की योजना में संन्यास-आश्रम अपना महत्त्व रखता है। लेकिन सत्याग्रहाश्रम की स्थापना चार आश्रम की व्यवस्था के लिए नहीं है। गीता में जनक आदि राजाओं की जिस वृत्ति की प्रशंसा की है वही वृत्ति आश्रम को अभीष्ट है। संन्यास-आश्रम में जिस ने प्रवेश किया उस से हर तरह की सेवा लेते हिंदू समाज संकोच करता है, इस लिए आश्रमवासी के लिए गेरुवा वस्त्र पहनना इष्ट नहीं है। सेवा धर्म में जो चीज बाधक होती है, उस से दूर रहना चाहिए— यह थी गांधीजी की मान्यता।

गांधीजी की दृष्टि को स्वीकार करने पर भी संन्यास-आश्रम में प्रवेश करने की पुरानी इच्छा मर नहीं गयी थी। जब अंतर्मुख हो कर चित्तशुद्धि का प्रयत्न किया तभी निश्चय हुआ कि संन्यास आश्रम के लिए आवश्यक त्याग, वैराग्य और उपशम की साधना अधूरी है। इस लिए भी संन्यास की बात छोड़ देनी चाहिए।

साधक के रूप में रहना, जीवन के तरह-तरह के प्रयोग करते रहना और जीवन विषयक तत्त्वज्ञान परिपक्व होने देना यही सच्चा मार्ग है। इस के लिए जितनी स्वतंत्रता आवश्यक है उतनी स्वतंत्रता रखकर ही मनुष्य प्रगति कर सकता है।

यह भी अनुभव हुआ कि जिस तरह समुद्र में ज्वारभाटा का कुदरती नियम है उसी तरह जीवन में भी नियतकालिक नहीं किन्तु किसी अज्ञात प्रकार से साधना में भी ज्वारभाटा आ जाता है। साधनाक्रम कभी उत्कट होता है, कभी ढीला होता है। उन्नति की दृष्टि से दोनों के लिए स्थान है। अगर जल्दबाजी से आगे बढ़े तो कच्चापन दूर करने के लिए कुछ पीछे भी जाना पड़ता है। जितनी प्रगति पक्की हुई, उतनी ही जीवन विकास की सच्ची बुनियाद मानी जा सकती है।

वन-वनस्पति को जिस तरह कुदरत मदद करती है उसी तरह उम्र भी मनुष्य को उस की साधना में मदद करती है। ऋतु चक्र के परिवर्तन के अनुसार जिस तरह हम दिनक्रम में आहार विहार में और कपड़े बिस्तर में परिवर्तन करते हैं, उसी तरह बचपन, जवानी, बुढ़ापा आदि अवस्था के अंतर के अनुसार हम जीवन के आदर्श और प्रवृत्ति में परिवर्तन करते जायें तो वह हर तरह से सहायक और पोषक होता है और चित्तवृत्ति हमेशा के लिए प्रसन्न रहती है।

जवानी के दिनों में जैसे प्रवृत्ति, पराक्रम और पुरुषार्थ का विस्तार बढ़ाया जाता है, उसी तरह उत्तरावस्था में भी मनुष्य को अपनी प्रवृत्ति का यथाक्रम संकोच करना चाहिए और वह सब इतनी सुंदरता से और प्रसन्नता से करना चाहिए कि जब दुनिया से विदा होने का क्षण आयेगा, मनुष्य को सूखी खारिक के समान आसानी से गिर जाना चाहिए। (यह अन्तिम उपमा महात्माजी के मुख से सुनी हुई थी।) भारतीय आदर्श भी इसी ढंग का है और वैज्ञानिक है।

निवृत्ति समय पर लेना इसी में बुद्धिमानी है। लेकिन मनुष्य को उस की पहचान आसानी से नहीं होती। निवृत्त होने में कभी जल्दबाजी होती है, कभी देरी होती है। और उस की कीमत देनी पड़ती है।

आजकल के कर्मप्रधान जमाने में कहा जाता है, कि जब तक हम जिन्दा हैं, कुछ-न-कुछ सेवा करनी चाहिए। निवृत्त होने का मनुष्य को अधिकार ही नहीं है। काम करते करते जब मनुष्य मरता है तब अंगरेजी में उस की कदर करते हुए कहते हैं—He died in harness —अंत तक काम करते रहने का आदर्श अच्छा है। हाथ-पैर चलते दुनिया से उठ जाना भाग्य का लक्षण है। लेकिन किसी ने कहा है कि जीन कसी हुई हालत में मरना घोड़े के लिए ही अच्छा है। असली बात यह है कि हरेक अवस्था का कार्य अलग होता है। पहलवान भी बुढ़ापे में कुश्ती के अखाड़े में नहीं उतरता, लेकिन दूसरों को कुश्ती की खूबियाँ सिखाने लगता है। गायक भी किसी दिन महफिल में गाना छोड़ देता है। इसी तरह सेवा के क्षेत्र में भी समयोचित परिवर्तन करना आवश्यक होता है। नहीं करने से काम बिगड़ता है। उत्तराधिकारियों को यथासमय मौका नहीं मिलने से उन में मायूसी आती है मनुष्य की उत्तरावस्था जो सौरभमय होनी चाहिए कलुषित हो जाती है।

रघुवंश के प्रारम्भ में ही कालिदास ने भारतीय राजाओं का जीवनक्रम सुंदर रूप में प्रस्तुत किया है। उन्हें बचपन में विद्याध्ययन की लालसा रहती थी। यौवन-काल में तरह-तरह के विषय जीवन के क्षेत्र और नये नये प्रदेश बढ़ाने की महत्त्वाकांक्षा वे रखते थे। वृद्धावस्था में राजा मननशील हो कर

निवत्ति का सेवन करते थे और सादगी से रह कर समाज पर अपना बोझा कम करते थे। और अन्तकाल नजदीक आने पर योगयुक्त हो चोला छोड देते थे।

इस तरह जीवन परिवर्तन करते रहने से सारी जिंदगी सुलभ, प्रसन्न और सुवासित होती है और समाज को एसे व्यक्ति से पूरा-पूरा लाभ मिलता है।

वदिक काल में चार आश्रम की जीवन रचना कब शुरू हुई यह कहना मुश्किल है। बीच में सन्यास आश्रम की कठिनाई ध्यान में ले कर और कच्चे सन्यास से जो विकृति पैदा होती है, उसे सोच कर भारत के मनीषियों ने सन्यासाश्रम को कलिवर्ज्य कह कर बंद कर दिया था। बौद्ध जैन आदि सम्प्रदायों ने भिक्षु जीवन का महत्व बढाया और श्री शंकराचाय को भी सन्यासाश्रम की पुनःस्थापना करना आवश्यक मालूम हुआ। गौराग प्रभु ने भी भक्तिमार्ग के साथ सन्यास को चलाया। हमारे जमाने में स्वामी विवेकानंद ने सन्यास-आश्रम की प्रतिष्ठा बढायी और सन्यासी-जीवन में सेवा करते रहने का आदश खूब उत्साह से प्रचलित किया। महात्मा गाधी ने सन्यास आश्रम के प्रति आदर व्यक्त करते हुए सन्यास आश्रम की अनावश्यकता बतायी और सन्यस्त वृत्ति से रह कर अनासक्त भाव से विचारमय जीवन लोक सेवा में व्यतीत करने के आदश को प्रतिष्ठित किया है।

गाधीजी ने पुराने आदर्शों का आदरपूवक स्वीकार कर के उन में जो परिवर्तन किये उस में सन्यास-आश्रम और सन्यस्त वृत्ति का जीवन इस का भी जिक्र होना चाहिए।

(११ माच १९६०)

सन्यासिनी आश्रम

'राजा जनक आदि गृहस्थाश्रमी लोगों ने जिस सन्यासयोग का अनुपालन किया और जिस सन्यास योग को श्री गीता ने भी प्रतिष्ठित किया है वह तो एक सावभौम वृत्ति अथवा साधना है। वह चीज ही अलग है। हम आप से प्रश्न करना चाहते हैं कि चार वण के साथ चार आश्रम की जो व्यवस्था हिन्दू सस्कृति में पायी जाती है उस को मान्यता आप देते हैं या नहीं? आज तक आप ने इस बारे में जो लिखा है उस पर से हम इतना ही समझे हैं कि सन्यास आश्रम के

बारे में आप के मन में सामान्यतया आदर है किन्तु सन्यास आश्रम की आज की परिस्थिति में आप आवश्यकता देखते नहीं। क्या यह बात सही नहीं है?

"सवाल इस लिए उठा कि आप ने स्वामी विवेकानन्द के बारे में लिखते कहा है कि इन दिनों स्त्री-सन्यासिनी के स्वतन्त्र वर्ग की आवश्यकता है।"

प्रश्नकर्त्ता ने ठीक ही पूछा है। मैं ने गांधीजी का अभिप्राय स्पष्ट बताया है। उन के मन में सन्यास आश्रम के बारे में आदर था। तो भी वे नहीं चाहते थे कि समाजसेवक गेरुआ वस्त्र धारण कर समाजसेवा करने निकलें। क्योंकि गेरुआ लिबास सेवा में विघ्नकारक है। सामान्य लोग गेरुआधारी से सेवा नहीं लेते। सन्यासी की सेवा लेने में अधर्म समझते हैं। समाज की सेवा परिणीत भी कर सकते हैं और अपरिणीत भी कर सकते हैं। मानसिक सन्यास कोई ले तो कोई उसे मना नहीं करेगा। किन्तु सेवक सन्यास आश्रम की पोशाक न पहनें तो अच्छा।

जीवन के अनुभव से मेरी भी राय वही है। लेकिन मैं ने यह भी देखा है कि वृत्ति में त्याग वैराग्य आने के बाद उसे दृढ करने में गेरुआ कपडे का उपयोग बहुत कुछ है। मनुष्य के सकल्प में दृढता होनी चाहिए। खास कर के वैराग्य में। लेकिन मनुष्य में कभी-कभी शिथिलता आ जाती है। वैराग्य में ज्वार भाटा पाया जाता है। ऐसे समय गेरुआ कपडे की सामाजिक प्रतिष्ठा मनुष्य को मजबूत रखती है।

शीतकाल के दिनों में जिस तरह घर का वायुमण्डल गरम रखने के लिए अँगीठी की जरूरत होती है उसी तरह समाज में चारित्र्य की मात्रा उज्ज्वल रखने के लिए सन्त सत्पुरुष, महात्मा और साधु का वर्ग जरूरी है। हम ने देखा है कि आश्रम में ब्रह्मचारी, सयमी, गृहस्थी और सन्यस्त वृत्ति के लोग तो थे ही, किन्तु ऐसे कोई अलग अलग वर्ग बँधे हुए नहीं थे। युवा ब्रह्मचारी आजन्म ब्रह्मचर्य का सकल्प करने के बाद भी अगर देखे कि उस के लिए दाम्पत्य जीवन आवश्यक है तो वह वैसा कर सकता था। कोई कहता नहीं उस का उस में पतन हुआ है। सयमी गृहस्थाश्रमी के बारे में भी आश्रम में यही वृत्ति रहती थी। इस का एक लाभ यह था कि आश्रम के व्रतों का पालन सदस्यों के लिए सहज था और आश्रमों की प्रतिष्ठा का बोझ ले कर किसी को चलना नहीं पडता।

इस मुक्त वातावरण के कारण शिथिलता के खिलाफ कोई दीवाल नहीं रहती थी। इसे आश्रम जीवन का दोष भी कह सकते हैं और गुण भी।

ऐसे सारे अनुभव के परिणामस्वरूप मेरा अभिप्राय अब तटस्थ है। कोई

आदमी ठीक समझे तो गेरुआ वस्त्र धारण करे और उसे निभाने की पूरी-पूरी कोशिश करे। कच्चे वैराग्य के साथ संन्यास लेना और फिर पछताना चारित्र्य सिद्धि के लिए अच्छा नहीं। कहते हैं कि भर्तृहरि ने कई बार संन्यास लिया और अपने को दुर्बल पा कर गृहस्थाश्रम में लौटे।

बौद्धों में संन्यासियों को अपने गुरु से आज्ञा पा कर संन्यास आश्रम छोडने की इजाजत है। उन का प्रधान सिद्धान्त है कि अगर दिल से वैराग्य समाप्त हो गया तो गेरुआ वस्त्र धारण करने में उस आश्रम का उपहास ही है।

हमारे जमाने में बौद्ध साधु श्री धर्मानन्द कोसम्बी अपने गुरु से इजाजत ले कर फिर से गृहस्थाश्रम में आये थे। राहुल सांकृत्यायन ने भी रशिया जा कर विवाह किया था। दोनों के बारे में समाज ने तनिक भी क्षोभ नहीं प्रकट किया।

मैं समझता हूँ सनातन हिन्दू समाज के लिए इन दिनों कोई निश्चित नीति तय नहीं हो सकती। रामकृष्ण मिशन के संन्यासी समाजसेवा का और धर्मप्रचार का कार्य करते ही हैं। दूसरे भी करते हैं।

एक बात स्पष्ट है। स्वामी विवेकानन्द जैसे उज्ज्वल उदाहरण के साथ जब कोई मिशन या संघ संन्यास आश्रम को चलाता है तब संन्यासियों की प्रतिष्ठा भी रहती है और परम्परा का तेज भी रहता है। बाकी संन्यास का और संस्था का तरतम सम्बन्ध बैठ नहीं सकता। चन्द संन्यासी किसी भी संस्था या मठ के साथ सम्बन्ध न रखते हुए अपनी तेजस्विता कायम रख सकते हैं और समाज की अच्छी सेवा भी करते हैं। और चन्द संन्यासी तो गेरुआ कपडे का नाम आगे कर के भिक्षा मांगते संकोच अनुभव नहीं करते। अपने तीन लडकों को गुरुकुल में या ऋषिकुल में दाखिल कराने की अर्जी ले कर आये हुए ब्रह्मचारी भी मैं ने देखे हैं।

यह हो गया पुरुष संन्यासी के बारे में। स्त्री संन्यासिनी का वर्ग हो या नहीं इस बारे में प्राचीन काल से दो मत हैं। एक मत कहता है कि स्त्री स्वभाव में आत्यन्तिक वैराग्य नहीं है। कुदरत ने ही स्त्री को ऐसा काम दिया है जिस के कारण उस के स्वभाव में पुरुषावलम्बिता हमेशा पायी जाती है। लोग बडी-बडी प्रभावशाली स्त्रियों का उदाहरण देते हैं और कहते हैं कि उन को किसी न किसी ढंग से पुरुषों का प्रोत्साहन अथवा सहारा आवश्यक हुआ था।

बुद्ध भगवान् खुद मानते थे कि स्त्रियों को निर्वाण प्राप्ति का उतना ही अधिकार है जितना पुरुषों को है। तो भी वे स्त्रियों को प्रव्रज्या देने को राजी नहीं थे। स्त्रियों का संघ में प्रवेश में खतरा देखते थे। शिष्योत्तम आनन्द के आग्रह के कारण उन्होंने स्त्रियों का संघ में लिया अवश्य, लेकिन आज सालोन

में हम देखते हैं बौद्ध भिक्षुणियों का संघ नहीं है। पूछने पर कहते हैं कि स्त्रियों को दीक्षा कोई स्त्री ही दे सकती है और हमारे यहाँ इस वक्त कोई बौद्ध भिक्षुणी नहीं है।

स्वामी विवेकानन्द ने बड़े उत्साह के साथ संन्यास आश्रम को नये ढंग से चलाया। उन की शिष्या भगिनी निवेदिता से प्रेरणा पा कर रामकृष्ण मिशन ने संन्यासिनियों का आश्रम चलाया है। मैं मानता हूँ कि स्त्री-जाति के लिए ऐसे आध्यात्मिक प्रोत्साहन की विशेष आवश्यकता है। पुरुष के ऊपर तनिक भी आश्रित हुए बिना और संसार चक्र में फंसे बिना निष्काम सेवामय जीवन व्यतीत करने का मौक़ा स्त्री-जाति को मिलना चाहिए। और ऐसे जीवन को समाज की ओर से बाक़ायदा मान्यता भी मिलनी चाहिए।

यूँ देखा जाय तो जिन स्त्रियों ने आजन्म वैधव्य का पालन करना स्वीकार किया है वे सब एक तरह से संन्यासिनियाँ ही हैं। हिंदू समाज में ऐसी कई विधवाएँ हैं जिन्होंने अपने तेजस्वी शीतल वैराग्य के द्वारा अपने वैधव्य को उज्ज्वल कर के दिखाया है। समाज के अनेक स्त्री-पुरुषों को उन के द्वारा आश्वासन, प्रोत्साहन और प्रेरणा मिले हैं। लेकिन अधिकांश विधवाएँ तो बेचारी समाज की और कुटुम्ब की उपेक्षित आश्रिता ही हैं।

इन से भिन्न अपने त्याग वैराग्य की शीतल तेजस्विता के द्वारा और समाज शुद्धि के लिए समाजसेवा के नियमित कार्यक्रम चलाने वाली संन्यासिनियों की समाज को आज आवश्यकता है। सौ दो सौ बरस इस का प्रयोग करने के बाद समाज फिर से विचार कर सकता है कि संन्यासिनियों का आश्रम लाभदायक है या नहीं।

इस प्रयोग के लिए कोई समाजमान्य नियम बनाना ज़रूरी होगा। स्त्री संन्यासिनी की पोशाक कैसी हो, रहन सहन कैसा हो, उन के रहने का और आजीविका का प्रबन्ध क्या हो? यह सब पूर्ण रूप से सोच कर समाज को तय करना होगा जिस से उस आश्रम की दुर्दशा न हो।

जिन का अधिकार है वे ही इस दिशा में प्रारम्भ कर सकते हैं।

(१ जुलाई १९६१)

●

श्रद्धा और विवेक

श्रद्धा, भोला विश्वास और पाखण्ड

विज्ञान (Science), तत्त्वज्ञान (philosophy) और अध्यात्म (Spirituality) तीनों सत्य की खोज करने के लिए निकले हुए यात्री हैं। तीनों के प्रस्थान अलग-अलग हैं। लेकिन तीनों का प्राप्तव्य एक ही है। एक ही क़िले पर चढ़ाई करने वाली लेकिन भिन्न भिन्न दिशा से प्रारम्भ करने वाली ये तीन क़िस्म की सेनाएँ हैं। इन की दिशा भिन्न हो सकती है। चढ़ाई का तरीका अलग-अलग हो सकता है। लेकिन तीनों का उद्देश्य और तीनों का प्राप्तव्य तो एक ही होना चाहिए।

जिस तरह युद्ध में मिलिट्री, समुद्री बेड़ा और वायु-सेना तीनों के महकमे अलग अलग होते हैं उन की लड़ाई की पद्धति भी अलग अलग होती है तो भी तीनों एक ही युद्धमन्त्री के इशारे से चलती हैं। तीनों का परस्पर सहयोग होता है। तीनों एक दूसरे की पूर्ति करती हैं। विजय तो तीनों के पुरुषार्थ के समुच्चय से ही होती है।

अगर इन तीनों अलग अलग दलों के नेता आपस में ईर्ष्या करने लगें और कहने लगें कि सारा सामर्थ्य हमारा ही है, औरों की कार्य-पद्धति ग़लत है तो उन का कहना हास्यास्पद होगा। तीनों की परस्पर होड़ ख़तरनाक साबित होगी। और विजय तो दूर की दूर ही रह जायेगी।

पिछली शताब्दी में विज्ञान ने बहुत ज़ोरों से प्रगति कर दिखायी और उस के अभिमान में विज्ञान कहने लगा कि सत्य तो हमें ही प्राप्त है। धर्म और तत्त्वज्ञान सिर्फ़ ढकोसले हैं। उन दिनों पदार्थविज्ञान (Physics) को natural philosophy कहते थे। एक विज्ञानशास्त्री ने कहा कि फ़िलॉसफ़ी-तत्त्वज्ञान दो क़िस्म के होते हैं—natural philosophy और unnatural philosophy, प्राकृतिक तत्त्वज्ञान और अप्राकृतिक तत्त्वज्ञान। Physics है natural philosophy है। बाक़ी जो कुछ philosophy गिनी जाती है वह सब unnatural philosophy है। फेंक देने के योग्य है।

समाजशास्त्र की यूरोप में नींव डालने वाले Auguste Comte की यही भूमिका थी। उस ने धर्म, अध्यात्म और दार्शनिक तत्त्वज्ञान तीनों को भ्रामक बता कर सिर्फ विज्ञान को ही सत्यसमर्थ बताया। और विज्ञान की पद्धति को positivism का नाम दिया।

अठारहवीं और उन्नीसवीं शताब्दी का यह अभिमान, यह ज्ञानज्वर बहुत कुछ उतर गया है। विज्ञान की प्रगति के कारण ही विज्ञान शास्त्री अब कहने लगे हैं कि हमारी विजय की मर्यादा है। विज्ञान ने अपनी अज्ञानमूलक सर्वज्ञता अब छोड़ दी है। अब गहरे ज्ञान के कारण उस में अपनी मर्यादा का भान हुआ है। और उस में नम्रता आयी है। उस की ज्ञान-मूलक अनेकवादिता अब उसे शोभा ही नहीं किन्तु बल दे रही है।

जो हालत विज्ञान की हुई वही हालत इन दिनों अर्थशास्त्र यानी सम्पत्ति शास्त्र की है। यह शास्त्र कहता है कि मनुष्य के समस्त इतिहास का रहस्य अर्थशास्त्र से ही मालूम हो सकता है। मनुष्य का इतिहास, उस का धर्मविकास, साहित्य और कला की निर्मिति इतना ही नहीं, किन्तु मनुष्य का जीवनोद्देश्य भी उस की आर्थिक परिस्थिति का फल है। उसी का परिणाम है।

जीवनशास्त्री कहते हैं कि मनुष्य का जीवन एक अत्यन्त गूढ़ तत्त्व है। जिस तरह संगीत में सा, रे, ग, म, प, ध, नि, सा ऐसे उत्तरोत्तर चढ़ते हुए स्वर हैं और मानव संगीत उसे सीढ़ी सप्तक का बना हुआ है, इसी तरह जीवन के तत्त्व को पहचानने वाले कहते हैं कि एक ओर बिल्कुल जड़ सृष्टि और दूसरी ओर मनुष्य हृदय में रहने वाला अन्तर्यामी और सारे विश्व में पाने वाला परमात्मा या परब्रह्म तत्त्व और इन दोनों के बीच पायी जाने वाली असंख्य सीढ़ियाँ मिल कर के यह सारी सृष्टि बनती है। इन में अनन्त प्रकार की विविधता होते हुए भी सब में अद्वैत याने अखण्ड अद्वैत भरा हुआ है।

अब सवाल यह आता है कि सब से नीचे का स्तर जो जड़ विज्ञान का है उसी को हम बुनियाद मानें या सब से ऊपर का स्तर जो परब्रह्म परमात्मा है उसे ऊर्ध्वमूलम् अधःशाखम् के हिसाब से बुनियाद मानें। जड़ विज्ञान के सिद्धान्तों को सही मानकर उन्हीं के अनुसार वनस्पतिविज्ञान, प्राणीविज्ञान, मनोविज्ञान आदि शास्त्रों के सिद्धान्त सिद्ध करने का एक मार्ग है। दूसरा मार्ग इस के विपरीत है। मानव जीवन में जो अध्यात्म पाया जाता है वही सुप्त रूप में प्राणि जगत में भी पाया जाता है या नहीं, और प्राणि जगत में जो अध्यात्म हम पा सकते हैं वही जड़ जगत में अनुमान से हम सिद्ध कर सकते हैं या नहीं यह देखने का दूसरा तरीका है। सच्चा ज्ञानोपासक दोनों रास्ते जाना पसन्द करेगा।

ऊपर से नीचे और नीचे से ऊपर। दोनों ढंग से आने-जाने से ही ज्ञान सर्वांगीण होगा।

जो लोग जड़ विज्ञान के मामूली सिद्धान्तों की कसौटी बना कर आध्यात्मिक अनुभव कस कर देखते हैं वे कहते हैं कि आध्यात्मिक अनुभव केवल भ्रम है। तर्कशास्त्री, विज्ञानशास्त्री और वैद्यकशास्त्री अक्सर यही कहते हैं कि हमारा न आत्मा पर विश्वास है न परमात्मा पर। न धार्मिक सिद्धान्तों पर। आप के आत्मा और परमात्मा दोनों अगर हमारे प्रयोगशाला में आ जायें और टेस्टट्यूब में बैठने को तैयार हो जायें तब हम उन के बारे में सोच सकते हैं।

जब विज्ञानवादियों की यह भूमिका खालिश साबित हुई तब अध्यात्मवादी भोले भक्तों ने दुन्दुभी बजाना शुरू किया कि देखिए विज्ञान हार गया है। जिन आध्यात्मिक चमत्कारों का ये सायंटिस्ट इनकार करते थे वे सब सच्चे हैं, भ्रममूलक नहीं हैं इस की गवाही नये वैज्ञानिक ही दे रहे हैं। अब किस की हिम्मत है कि हमारे दैवी चमत्कारों को कोई अस्वीकार करे?

जहाँ जड़ विज्ञान की पहुँच नहीं है ऐसे चमत्कार इस सृष्टि में हो सकते हैं इस बात को मानने को हम तैयार हैं। मानव मन और जड़ सृष्टि दोनों एक ही दुनिया के तत्त्व हैं। इन दोनों में द्वैत नहीं है। मानसिक जगत और पार्थिव जगत परस्पर विरोधी, एक दूसरे से भिन्न और पृथक अलग दुनिया नहीं है इतना तो सब को मान्य करना ही पड़ता है। लेकिन अगर जड़ विज्ञान को आध्यात्मिक अनुभव और उन पर से बने हुए आध्यात्मिक सिद्धान्त मानने ही पड़ते हैं तो आध्यात्मिक अनुभव और उन पर से बनाये हुए आध्यात्मिक सिद्धान्त इन दोनों को जड़ विज्ञान की सामान्य कसौटी भी माननी चाहिए। अगर जड़ विज्ञान सिद्ध करे कि कोई एक खास अनुभव भ्रममूलक है तो उस का यह निर्णय कबूल करना चाहिए। लेकिन अगर जड़ विज्ञान कहे कि अमुक अनुभव को हमारी कसौटी पर कसते हम इस निर्णय पर पहुँचे हैं कि हमारी कसौटी ही अपर्याप्त है, अमुक आध्यात्मिक अनुभव को कसने में हम असमर्थ हैं तो उस चीज की कसौटी मनोवैज्ञानिक और आध्यात्मिक क्षेत्र में जा कर करनी होगी।

माता मरियम के प्रताप से लूर्द के झरनों में कोई लोकोत्तर शक्ति आयी है और वहाँ पर असाध्य भौतिक रोग भी देखते-देखते दूर हो सकते हैं ऐसा बयान नोबल प्राइज विजेता डा० अलेक्सिस कॅरल ने दिया है। उस के साथ हमारा झगड़ा नहीं है। लेकिन हम अभी भूले नहीं कि कुछ दिन के पहले ओरिसा में अनुगूल के पास एक नेपाली युवक प्रकट हुआ था जिस ने जो हाथ में आयी वह जड़ी बूटी दे कर कई लोगों के रोग मिटाये थे। नेपाली बाबा की कीर्ति

हिन्दुस्तान में सब जगह फैल गयी। भोले विश्वासी, श्रद्धालु मरीजों का वहाँ तांता लगा। सचमुच वहाँ कुछ शक्ति है या नहीं, किसी ने देखा भी नहीं। लोगों की भीड़ बढ़ी हुजे का प्रादुर्भाव हुआ और कई लोग देखते-देखते मर गये।

भोली जनता हर चीज पर विश्वास करने की आदी होती है। श्रद्धा अच्छी चीज है। अश्रद्धा की अपेक्षा श्रद्धा अच्छी है। लेकिन बेवकूफी की अपेक्षा तो अश्रद्धा ही अच्छी है। और जहाँ बुद्धू लोगों को ठगने की तरह-तरह की युक्तियाँ धूर्त लोग चलाते हैं, वहाँ पर श्रद्धा का दुरुपयोग होने की सम्भावना भूलनी नहीं चाहिए। जड़विज्ञान, मनोविज्ञान और अध्यात्म तीनों का सतत सहयोग ही तारक है।

(अप्रैल १९१२)

श्रद्धा और विवेक

मामूली किताब और धर्म-ग्रन्थ में बड़ा अन्तर रहता है। मामूली किताब हम चाव से भले पढ़ें, विशेष आदर से नहीं पढ़ते। मन कहता है कि देखें तो सही इस में क्या लिखा है। अच्छा हो तो ग्रहण करेंगे, नहीं तो रख देंगे, और अच्छा लगा तो भी ग्रहण करने का संकल्प उठना ही चाहिए ऐसा भी नहीं।

धर्म ग्रन्थों की बात अलग है। हम उसे पढ़ते ही श्रद्धा से हैं। मन की तैयारी रहती है कि इस की सब बातें अच्छी ही हैं। हम ऐसा नहीं सोचते कि इस में कुछ अच्छा हो तो लेंगे। हम इतना ही सोचते हैं कि इस में से जो बात जँचे उस का स्वीकार करने की तयारी या योग्यता हम में है या नहीं। ऐसे ग्रन्थों में जो बात नहीं जँचती उस के बारे में भी हम तुरन्त नहीं कहते कि यह बात बुरी है। हम कहते हैं कि इस की खूबी ध्यान में नहीं आयी। हमारी ही कुछ अपूर्णता होगी। या कहते हैं कि जिस जमाने में यह सब लिखा गया उस के लिए यह अच्छी होगी। अब जमाना बदल गया। अब ये बातें काम की नहीं हैं।

काश! कि हम सब के सब अच्छे ग्रन्थों के बारे में ऐसी ही मन की अनुकूलता अथवा उदारता रख सकें। किसी ने सही कहा है कि धर्म ग्रन्थ उसी सद्भाव से पढ़ना चाहिए जिस सद्भाव से वह लिखा गया। मैं तो कहूँगा कि केवल धर्म-ग्रन्थ के बारे में ही नहीं किन्तु सब के सब गम्भीर या अच्छे ग्रन्थों के बारे में हमारी यही वृत्ति रहनी चाहिए।

अब एक दूसरी बात है कि धर्म ग्रन्थ हम श्रद्धा से पढ़ें यह तो अच्छा और जरूरी है ही। लेकिन श्रद्धा के साथ विवेक भी होना ही चाहिए। अन्ध-श्रद्धा अश्रद्धा से कम खतरनाक नहीं है। और दोनों में मूल में सत्य निष्ठा की कुछ कमी पायी जाती है।

अभी एक संस्था की संचालिका से मेरी बातचीत हुई। उन के यहाँ धार्मिक वायुमण्डल स्थापित करने के लिए 'तुलसी रामायण' की पढ़ाई होती है। मैं ने कहा कि शिक्षा की दृष्टि से बढ़ कर दूसरा कोई ग्रन्थ मैं सोच ही नहीं सकता। लेकिन इस से पढ़ाते समय श्रद्धा और विवेक दोनों की मदद एक सी लेनी चाहिए।

अपनी बात समझाने के लिए मैं ने एक उदाहरण दिया। मैं ने कहा कि न आप ईसाई हैं न मैं ईसाई हूँ। तो भी हम दोनों के मन में ईसा मसीह के प्रति और उन के उपदेश के प्रति आदर है। अगर हम अपनी संस्था में बायबल या उस के कुछ हिस्से पढ़ाने बैठें, तो हम अपने विद्यार्थियों को कह सकते हैं कि इस में से इतनी बातें अच्छी हैं। हम खुशी से ले सकते हैं। बाकी की अमुक बातें उन के समाज की दृष्टि से लिखी हैं। हम वैसी की-वैसी नहीं ले सकते। हमारे जीवन के अनुकूल वे नहीं हैं क्योंकि हमारी संस्कृति का रंग अलग है।

पूरी श्रद्धा रखते हुए हम इस तरह से विवेक से काम लेते हैं। तो क्या तुलसी रामायण पढ़ाते हम यही दृष्टि कायम नहीं रख सकते? तुलसी रामायण में जो उपदेश हैं वे सामान्य तौर पर ग्राह्य हैं ही। जिस ढंग से वे रखे गये हैं सीधे हृदय तक पहुँचते हैं। तुलसी रामायण को हम ने अपना धर्म ग्रन्थ बनाया है। क्योंकि उस में मर्यादा पुरुषोत्तम श्री रामचन्द्र की उपासना बतायी है। तो भी हम कह सकते हैं कि स्त्रियों के बारे में तुलसीदास ने जो लिखा है वह सब का सब हमें वैसा ही नहीं लेना है। बन्धु भक्ति का जो आदर्श राम चरितमानस में पाया जाता है वह रामचन्द्र के प्रति भले ही ठीक हो, लेकिन दो भाइयों के बीच इस आदर्श को हम निभा नहीं सकेंगे। हम पसन्द भी नहीं करेंगे। नौकरों के लिए तुलसीदास ने जो आदर्श पेश किया है उस के बारे में भी आज हम यही कहेंगे।

गरज यह कि तुलसीदास ने राम के इर्द गिर्द जो वायुमण्डल तैयार किया है उस वायुमण्डल के साथ हम उस के सब वचन धर्मवचन के तौर पर शायद पसन्द कर सकते हैं। लेकिन आजकल की दुनिया में तुलसी के वचन हम वैसे के-वैसे नहीं ले सकते। हमारे बच्चों को भी यह बात समझानी चाहिए। नहीं तो हमारे बच्चे उन के मुग्धकाल में इन सब बातों को अक्षरशः ठीक समझेंगे

और कहेंगे कि हमारे शिक्षक तो ऐसे नही चलते। हमारे माँ-बाप भी नही चलते। समाज में जो लोग अच्छे गिने जाते हैं उन का भी आचरण तुलसीदास की नसीहत से भिन्न दीख पडता है।

ऐसा सोच कर उन के मन में ग्रंथों के बारे में, बडो के बारे में और आदर्शो के बारे में अश्रद्धा पैदा होती है जो बच्चों की निष्ठा के लिए खतरनाक है। जिस नतीजे पर उन का आना ही पडता है, उस के बारे में हम अगर साफ-साफ अपना अभिप्राय पहले से कह दें, तो उन के मन की परेशानियाँ टल जाती हैं और नैतिक जीवन की जडे सुदृढ बनती है।

(जुलाई १९५८)

श्रद्धा बनाम भोलापन

मेरे एक आदरणीय व्यक्ति ईश्वरनिष्ठ थे। ईश्वरनिष्ठा के कारण उन में चारित्र्य की दृढता और तेजस्विता तो आयी ही थी, लेकिन साथ साथ अत्यन्त नम्रता और निराग्रहीता भी। स्वभाव भोला था। जरा भी अनुकूल घटना हो गयी तो कहते थे कि ईश्वर कितना अनुकूल है, कृपालु है। बाद में जब पता चला कि घटना का बयान ही गलत था, कहने वाला गलत समझा था और सचमुच घटना अनुकूल नही थी, तब वे तुरन्त कहने लगे कि ईश्वर प्रतिकूल दीख पडता है। हमारी कुछ गलती हुई होगी, इस वास्ते घटनाचक्र हमारे खिलाफ हो गया है।

मैं ने उन से कहा कि अनुकूलता प्रतिकूलता हम अपनी दृष्टि से तय करते है। कोई चीज हमें पसन्द न आये दुखदायक भी हो, लेकिन वही हमारे हित की हो और ईश्वर ने वह दुख हमारे हित के लिए ही दिया हो। और वह हमारे किसी दोष के कारण नही हमारे कल्याण के लिए ही आया होगा। हम निर्णय कैसे कर सकते हैं? जहाँ हमारी जानकारी ही अल्प है वहाँ हम कार्यकारण सम्बन्ध भी कैसे पहचान सकते है?

कोई चीज हमें मिले हमारा काम सफल हुआ हम राजी हुए तो क्या उस में ईश्वर की अनुकूलता ही है? ईश्वर की भेजी हुई चीज अगर हमारे हित की न हो ईश्वर ने केवल कसौटी के लिए ही भेजी हो हमारी धर्मबुद्धि न्यायबुद्धि शिथिल हुई हम भगवान की भेजी हुई चीज देख कर प्रसन्न हुए, हम ने उसे

भगवान् की अनुकम्पा माग ली और चोज को स्वीकार कर के हम गिरे, हमारे चारित्र्य में शिथिलता आ गयी और आग आ कर उस पतन के लिए हमें भुगतना पड़ा। भुगतने के लिए जो सजा भगवान् ने भेजी उस में भगवान् की कीमत हमें गुजारनी भी हो तो उस में भगवान् की अनुकम्पा ही हम देखनी चाहिए।

यह सारा घटनाचक्र गूढ़ है। इस में कुल्ल कार्यकारण सम्बन्ध हम देख नहीं सकते और उस पर से अनुमान भी नहीं लगा सकते। आखिरकार हमें इतना ही कहना है कि परिस्थिति हमारे लिए हमारी दृष्टि से, अनुकूल हो या प्रतिकूल, हमें श्रद्धा कायम रखनी चाहिए कि ईश्वर जो कुछ भी करता है, हमारे भले के लिए ही।

हमारा धर्म परिस्थिति के न अनुकूल बनने का है न प्रतिकूल। धर्मबुद्धि जागृत रख कर जिस वक्त जो आचरण योग्य हो सदाचार के लिए अनुकूल हो, वही करना चाहिए। कदम-कदम पर ईश्वर की अनुकम्पा की कसौटी करते हम न बैठें। अगर हम पाप में से बच गये तो वह ईश्वर की कृपा है। अगर हम लालच में फंस गये तो यह हमारी गलती है। उस के लिए ईश्वर से हम क्षमा माँगें और हमें चारित्र्य की दृढ़ता देने के लिए भगवान् से प्रार्थना करें।

हम ने सुना है कि जब आगाखान महल में पू० कस्तूरबा का देहान्त हुआ और उन के देह को अग्निसंस्कार दिया गया तब तीन दिन के बाद देखा गया कि चिता की अग्नि से उन की काँच की चूड़ियाँ न टूटी थीं न गली हुईं। वैसी-की वैसी थीं। इसे हम चमत्कार कह सकते हैं। चन्द लोग कहने लगे कि कस्तूरबा के सतीत्व की यह निशानी है। हो सकता है।

लेकिन सवाल यह उठता है कि हरेक सती के चिताभस्म में काँच की चूड़ियाँ ऐसी अक्षत ही क्यों मिलेंगी या मिलनी चाहिए?

अथवा जिन जिन स्त्रियों के चिताभस्म में से उन की काँच की चूड़ियाँ सलामत नहीं निकलीं, उन के सतीत्व के बारे में कुछ खामी या कमी समझनी चाहिए?

ऐसा त्रिकालाबाधित नियम होता तो लोगों ने उस का कब का निरीक्षण किया होता और इतिहास में लिख कर रखा होता।

जब शरीर से प्राण निकल जाता है तब हम कसौटी कर के मान लेते हैं कि प्राण सचमुच शरीर को छोड़ गया है। हम साँस देखते हैं। नब्ज चलती है या नहीं यह देखते हैं। शरीर गरम है या ठंडा है यह भी देखते हैं। जरूरत पड़ने

पर दूसरी भी कसौटियाँ आजमाते है और निर्णय पर आते हैं कि अब शरीर को प्राण छोड गये हैं।

क्या इसी तरह काँच की चूडियों का सलामत रहना या न रहना सतीत्व या असतीत्व की निशानी है?

अगर ऐसा नही है तो ऐसे किस्सो की चर्चा कर के हम लोगो को भ्रम मे क्यों डालते है?

महाराष्ट्र में मगळवेढा गाव में रहने वाले सन्त दामाजीपत की कथा प्रचलित है। मगळवढा के बहुत से अकालग्रस्त लोग दामाजी के पास आये। दामाजी बिजापुर के बादशाह के कर्मचारी थे। उन के पास सरकारी अनाज की कोठिया भरी हुई थीं। उन्होंने किसी से पूछे बिना कोठियो का सब अनाज अकालग्रस्तों को बाट दिया। शिकायत बिजापुर के बादशाह तक पहुँची। दामाजीपत को सख्त सजा देने के लिए बिजापुर बुलाया गया। दामाजी चले। जानते थे कि मृत्यु दण्ड मिलेगा।

इतने में भगवान ने हरिजन क़ासिद का रूप ले कर बिजापुर के बादशाह को एक चिट्ठी दी और साथ-साथ धन भी भेजा। चिट्ठी में लिखा था कि सरकारी कोठी में इतना अनाज था। उस के पैसे इतने होते है। पैसे ले कर रसीद कासिद के पास दीजिए और दामाजी को मुक्ति का खत दीजिए। दोनों चिट्ठियाँ मिल गयी। इधर दामाजी रास्ते में दुपहर को नहा कर गीता पढने बैठे तो पुस्तक में बादशाह की दोनों चिट्ठियाँ उन्हें मिल गयी। दामाजी समझ गये कि भगवान ने ही मेरे कारण हरिजन कासिद का रूप धारण किया। उन्होंने बिजापुर जा कर बादशाह को सब हाल सुनाया और नौकरी से इस्तीफा दे दिया। बादशाह को बडा अफ़सोस हुआ कि वे भगवान को पहचान न सके।

सन्त दामाजी की यह कथा पीढ़ी दर-पीढ़ी हम सुनते आये है।

अब ऐतिहासिक संशोधन से पता चला कि इस में कोई चमत्कार नहीं था। एक हरिजन जमींदार ने दामाजी का सकट सुन कर अपनी तरफ़ से सरकार को पैसा दे दिया और दामाजी को बचाया। इस के बारे में उस समय के दफ़्तर में जो खतपत्र हुए थे वे भी अब मिल गये हैं।

इस ऐतिहासिक घटना से हमारी श्रद्धा दृढ होती है कि सज्जनो का सकट देख कर दूसरे सज्जनों की उदारता जागृत होती है और वह सकट के समय दौड कर मदद करता है। श्रद्धा के लिए ऐतिहासिक घटना काफ़ी है। उसे

चमत्कार का रूप देने से अद्भुत रस जरूर मिलता है, लेकिन धर्मश्रद्धा मजबूत नहीं होती।

क्या हर एक संत इतनी अपेक्षा रखे कि दामाजी को जैसे मदद मिली वैसी उसे मिलेगी ही? क्या अनुमान निकालें कि सच्चे संतों को मदद मिलनी ही चाहिए? न मिलने पर उस का संतपन कच्चा है? अथवा भगवान जब जी में आता है तब किसी की मदद करता है, जो मैं नहीं आया तो नहीं करता है? भगवान् को चंचल मन का भक्तवत्सल बनाना काव्य की दृष्टि से आसान है, सुंदर है, लेकिन धर्मश्रद्धा के लिए पोषक नहीं है। संकट के समय अकल्पित ढंग से मदद मिलने पर भोले लोग जो अनुमान निकालते हैं, धर्मश्रद्धा के लिए हमेशा मददगार ही होते हैं, ऐसा नहीं है।

(२१ जुलाई १९६९)

धर्म-ग्रन्थों का प्रामाण्य किस लिए?

माँ-बाप बच्चे को जन्म देकर परिवार में उस की स्थापना करते हैं। धीरे धीरे उस का सम्बन्ध आस पास के समाज से बढ़ने लगता है। सभी से उसे ज्ञान, कौशल्य और संस्कार मिलते हैं। और वह इस सारे सम्बल को लेकर जीवन जीने का अनुभव और आनन्द लेता है और नये-नये प्रयोग भी करता है।

पुराने अनुभव से बँध न जाना, नये-नये प्रयोग आजमाना और अज्ञात के क्षेत्र में आगे बढ़ने की हिम्मत करना मनुष्य का स्वभाव है।—व्यक्ति का भी और समुदाय का भी। इसी को प्रगति कहते हैं।

सारे समाज के अनुभवों को मनुष्य अगर समझ नहीं लेगा, उस को स्वीकार नहीं करेगा और केवल अंधे प्रयोग करेगा तो प्रगति नहीं होगी। पुराने अनुभवों के बाहर जाना ही नहीं, अनुभवों के प्रति ही निष्ठा रख कर के केवल जीवन यापन करना, ऐसा अगर तय किया तो भी प्रगति नहीं होगी। जड़ता ही आयेगी। जड़ता में स्थिरता नहीं होती, किंतु परागति और विकृति आ जाती है। इस लिए मानव के कल्याण के लिए और समाज के हित के लिए धर्य और प्रगति दोनों को यथाप्रमाण अवकाश (गुंजाइश) होना चाहिए।

समाज की व्यवस्था सँभालने के लिए बाहरी जीवन में क़ानून बनाये जाते हैं और आंतरिक और बाह्य दोनों तरह के जीवन के विकास के लिए धर्मशास्त्र

रचे जाते ह। एक दफा बने हुए क़ानूनों में और धर्मशास्त्रों में बार-बार परिवर्तन नहीं हो सकता। और हर किसी को परिवर्तन करने का अधिकार भी नहीं होता। मामूली समाज जब एक व्यवस्था का आदी बनता है, तब वह राज्य के क़ानूनों में, समाज की रूढ़ि में और धर्मशास्त्र के विधि निषेध में परिवर्तन चाहता भी नहीं। सूक्ष्म रूप से परिवर्तन होते जाते ह उन्हें वह बरदाश्त करता है। क़ानूनों के क्षेत्र में समय-समय पर क़ानून बनाने का अधिकार जिन का ह, उन के मन में क्या था यह सोचने का काम न्यायाधीश का नहीं। क़ानूनों का जो भी अर्थ होता हो, उस के अनुसार ही उसे चलना ह। क़ानूनों की भाषा स्पष्ट न हो, अथवा उस के अर्थ होते हो तो उस से लाभ उठाने का अधिकार न्यायाधीश अपने हाथ में लेता ह। और उसे कोई रोक नहीं सकता। क़ानून की भाषा का अर्थ कभी व्यापक, कभी सकुचित कर के थोड़ी-बहुत प्रगति करना व्यक्ति के लिए और समाज के लिए अपरिहार्य बनता ह और समाज में अक्सर वसा किया भी जाता ह।

क़ानून बनाने का अधिकार या तो राजा को होता है या उस के नियुक्त अधिकारी को अथवा प्रजा की ओर से नियुक्त प्रतिनिधियों से बनी हुई ससद्सभा को। राजा अथवा ससदसभा क़ानून के बारे में सर्वसमर्थ होते हैं। क़ानून बनाना, बदलना या रद्द करना—सारे अधिकार उन्हीं के होते ह।

(कर्तुम् अकर्तुम् अन्यथाकर्तुम् सर्व-समर्थं ।)

अब धर्मशास्त्र की बात कुछ अलग होती है। पुराने ज़माने म समाजमान्य ऋषिमुनि ही धर्म का विधान करते थे। राजा अगर सर्वसमर्थ माना गया तो धर्मकार ऋषिमुनियों को सर्वहितकारी और सर्वज्ञ मानना ज़रूरी हो गया। उन्होंने जो कहा ह वही योग्य है, उस का उल्लंघन नहीं हो सकता, ऐसा जब समाज स्वीकार करता ह, तभी समाज का धार्मिक जीवन सम्पन्न होता ह। धर्मकार ऋषिमुनि की भी आदत थी कि समाज के नियन्त्रण के लिए नियम बनाते हुए पुराने बड़ों के वचनों का आधार देना अथवा जो रूढ़ि सनातन काल से चलती आयी ह उसी का समर्थन करना।

धर्म के दो हिस्से माने गये। समाज की उन्नति के लिए अभ्युदय और निःश्रेयस् के लिए जो हितकर है वह बताने वाला धर्म स्मृतियों में पाया जाता था। और जन्म मरण के बन्धन से छूट कर निर्वाण या मुक्ति पाने की साधना को मोक्षधर्म कहते ह। ऐसा मोक्षधर्म बताने वाले के बारे में कहा जाता ह कि या तो वे सर्वज्ञ थे, या प्रत्यक्ष भगवान् ने ही, उन के द्वारा ये आदेश दिये हैं।

जो भी हो, व्यक्ति और समाज अपने को एसे श्रुति-स्मृति ग्रथो से और उन के वचनों से बँधे हुए मानते थे। सब ईसाई बायबल के वचनो से बँधे हुए है। सब मुसलमान कुरान की आज्ञा से बँधे हुए। सब हिन्दू श्रुति स्मृतियो से बँधे हुए—ऐसा रिवाज शुरू हो गया। हरएक धर्म और पथ के लोग मानते हैं कि उन का धर्म ईश्वर की प्रेरणा से ही चला है। अब अगर सब का ईश्वर एक ही है तो ईश्वर की प्रेरणा परस्पर विरोधी नहीं हो सकती। ईश्वर को प्रत्येक जमाने का, हरएक देश की परिस्थिति का और हरएक समाज की सास्कृतिक योग्यता का बराबर खयाल होने से वह अपनी प्रेरणा बदलता रहेगा। हमेशा के लिए और सब के लिए एक ही प्रेरणा भगवान् क्यों देगा? निरपाधिक परिपूर्ण सत्य भले ही एकरूप और सार्वभौम हो, लेकिन धर्मों के सिद्धान्त, रस्मरिवाज और आग्रह समय समय पर बदलते ही रहेंगे। जिन धर्मों में एसे परिवर्तनो की गुजाइश नहीं है उन में शास्त्राथ के झगडे चलेंगे और शब्दच्छल को बढावा मिलेगा। कानून में भी यदि शब्दच्छल चलता है तो धर्मशास्त्र में अधिक चलेगा।

इग्लैड मे पहले Case Law चलता था। यानी क़ानून न बनाते हुए, पुराने न्यायाधीशो ने जो निर्णय दिये होगे उन्ही में सब कानून आ जाते है, ऐसा माना जाता था। न्यायाधीश के सामने कोई विवाद आया तो पुराना कौन-सा 'केस' यहाँ लागू होता है, यह देखने का काम न्यायाधीश का था। (उस की भूमिका यह रहती थी कि 'मैं कोई नया कानून नही बना रहा हूँ। जिस किसी पुराने केस के साथ यह विवाद नजदीक का हो, उसी का निर्णय यहाँ लागू करता हूँ।' परस्पर विरोधी दो 'केस' सामने आने पर न्यायाधीश को कहना पडता था कि 'इस विवाद में वह केस नही किन्तु यह केस लागू है।' इस में सूक्ष्म शब्दच्छल को और तक वितर्क को जगह रहती ही थी। विवाद का निर्णय होने के बाद यह नया निर्णय स्वतन्त्र और प्रमाणभूत माना जाता है। अंगरेजी मे इसे Legal fiction कहते हैं।)

अब धर्मशास्त्र की बात लीजिए। ईसाइयों के लिए तौरात और इंजिल (Old Testament and New Testament) प्रमाणग्रन्थ हैं। तौरात हिब्रू भाषा में है और इंजिल ग्रीक भाषा मे। इन के अनुवाद चाहे जितने हो सकते हैं। प्रमाणभूत तो मूल ग्रन्थ। अनुवाद नही। इग्लैंड के राजा जेम्स ने विद्वान् धर्मगुरुओ को बठा कर बायबल का अनुवाद करवाया तब इग्लैंड की धर्मसस्था चर्च ने मान लेने का निश्चय किया कि अनुवाद करते समय अनुवादक ईश्वर प्रेरित थे इस लिए यह अनुवाद प्रमाणभूत माना जाये और मूल ग्रन्थ को पर रख कर, अंगरेजी अनुवाद को ही ईश्वर प्रेरित ग्रन्थ माना जाये। अब अनुवाद

शुद्ध है या नही यह देखने की भी बात न रही। बायबल के उस अनुवाद को Authorised Version कहते हैं।

हमारे यहाँ भगवदगीता वैदिक धर्म का एक पौराणिक प्रकरण है जिस में वेदवाद के प्रति आदर नही है। सन्यस्तवृत्ति का तो समादर है किन्तु सन्यास आश्रम की उपेक्षा ही है। इस प्राचीन पौराणिक ग्रन्थ को हम ने अपना प्रधान ग्रन्थ बनाया। वेदान्तियो के लिए और आज के हिन्दुओ के लिए अधिक-से-अधिक मान्य ग्रन्थ यही है। इस गीता का सर्वोपरि, सर्वमान्य प्रामाणिक ग्रन्थ मानने पर उस का अर्थ समझने की बात महत्त्व की बनी। शाकर मत के अनुयायी कहेंगे "शाकर भाष्य का अर्थ ही सही है। दूसरे अर्थ मान्य नही हैं।"

महाराष्ट्र के पुराने-से-पुराने सन्त ज्ञानदेव ने शकराचार्य के भाष्य की मदद ले कर अपना काव्यमय विस्तीर्ण भाष्य मराठी में लिखा—जिस का नाम है 'भावार्थ दीपिका'। अब ज्ञानेश्वर के भक्त कहते है कि 'हमारे लिए मूल सस्कृत गीता नही किन्तु 'या ज्ञानेश्वरी श्रीमदभगवदगीता का भाष्य अवश्य है किन्तु हमारे लिए अन्तिम प्रमाण ज्ञानेश्वरी ही है। मूल गीता से भी बढ कर।"

हमारे जमाने की बात है। महात्मा गान्धी ने भगवदगीता का गुजराती अनुवाद तयार किया और आश्रमवासियो को दिखा कर उन की सूचना के अनुसार शुद्धि-वृद्धि कर के प्रकाशित किया। उस का नाम है 'अनासक्तियोग'। उस की भूमिका में गान्धीजी ने अपनी दृष्टि पेश की है और अनुवाद के बीच बीच में टिप्पणियाँ दी हैं, जिन में भी उन्होने अपनी दृष्टि विशद की है।

जब अनासक्तियोग के साथ मूल सस्कृत गीता छापने का प्रस्ताव आया तब गान्धीजी ने उसे पसन्द नही किया। उन्होंने मुझ से कहा कि 'गीता के उपदेश के अनुसार जीने के चालीस बरस के सतत प्रयत्न से जो जीवनदृष्टि बनी है वही इस अनासक्तियोग में दी गयी है। गीता का अनुवाद होते हुए भी इसे एक स्वतन्त्र ग्रन्थ मानना चाहिए। जो इसे पसन्द करते है उन के लिए यह एक मौलिक और प्रमाणभूत जीवनदर्शन माना जाये।

श्री विनोबाजी ने शकराचार्य, ज्ञानेश्वर और महात्माजी से प्रेरणा पा कर गीता का अपना स्वतन्त्र मराठी अनुवाद तयार किया और उस के साथ चिंतनिका और प्रवचन भी दिये। उस में उन का अपना जीवनदर्शन व्यक्त होता है। उन का कहना है कि "पूर्वाचार्यों से विरोधी नहीं किन्तु कई भिन्न वस्तुएँ उस में पायी जायेंगी। प्रगति की यह निशानी है।"

एक ही ग्रन्थ में से जीवनदर्शन की अनेक शाखाएँ निकल आती है। इन शाखाओ में से प्रशाखाएँ और उपशाखाएँ निकलेंगी ही।—जैसा वृक्ष में होता

है वैसा जीवनानुभव में भी पाया जाता है। ग्रंथ प्रमाण तो है ही। आत्मनिर्भर हर एक का उस की श्रद्धा, चिन्तन और अनुभव पर आधार रखना है। इस लिए हम केवल एक ग्रंथ या एक व्यक्ति पर आधार न रखते हुए प्रेरणा सब आप्त पुरुषों से और आप्त ग्रन्थों से लें। (यही आप्त का अर्थ होता है विश्वासपात्र और आदर के योग्य।) और अन्त में अपनी दृढ़ श्रद्धा, जीवन का प्रत्यक्ष अनुभव और उस पर का उत्कट चिन्तन—इस त्रयी पर आधार रखें। केवल ग्रंथ ही पर चलें तो जीवन उन्नत नहीं होगा। जड़ता और विकृति ही जीवन को घेर लेगी।

मैं ने नमूने के तौर पर चार छः उदाहरण लिए हैं। लेकिन जीवन के तमाम क्षेत्रों में यही बात है। जीवन है ही मौलिक प्रयोगों के लिए। एक भी आदमी का जीवन व्यर्थ नहीं है। भगवान् ने विश्वास रख कर जीवन प्रयोग का मौका हर एक को दिया है। उस विश्वास के योग्य बन कर हमें अपना जीवन पारमार्थिक बनाना चाहिए। पारमार्थिक यानी गम्भीर—जीवन उपहास नहीं है हँसी-मजाक अथवा क्षुल्लक कामों में बरबाद करने के लिए नहीं है। 'क्षुद्रकामाय नेष्यते'। तुच्छ हेतु के लिए नहीं है।

(१२ सितम्बर १९६१)

व्यक्तिनिष्ठा बनाम तत्त्वनिष्ठा

व्यक्तिनिष्ठा बनाम तत्त्वनिष्ठा यह सवाल बहुत पुराना है। और उस की संस्कृति देखते यह सवाल दीर्घकाल तक चलनेवाला है। जिस सवाल का हल केवल सिद्धान्त की दृष्टि से न कभी हुआ है न होनेवाला है। व्यक्तिनिष्ठा और तत्त्वनिष्ठा दोनों पक्ष एक-से सबल हैं समर्थ हैं और मनुष्य मानस को हमेशा घेरे हुए हैं।

बुद्धि कहती है 'सत्य तो तत्त्वनिष्ठा का ही अनुकूल है। जो चीज सत्य है, ज्ञानानुकूल है, सर्वकल्याणकारी है न्यायमूलक है उसी को तत्त्व कहते हैं। तत्त्व वही है जो सत्य है सारभूत है। बुद्धि हृदय और भावना ने सदा के लिए जो पसन्द किया है मान्य किया है वही तत्त्व है। उस के प्रति निष्ठा रखना मनुष्य का धर्म है। इस तरह की तारीफ व्यक्तिनिष्ठा के लिए हो नहीं सकती। माता पिता के प्रति आदर, बड़ों के प्रति आदर मनुष्य के लिए स्वाभाविक है। बुद्धि का असाधारण तेज देखकर मनुष्य हृदय बुद्धिमानों के प्रति आदर से झुकता ही

है। जिस के हाथ के नीचे काम करने के लिए हम तैयार हुए हैं उस की आज्ञा का पालन करना हमारा स्पष्ट धर्म है ही। वही आज्ञापालन जब हम उत्साह से, आदर और भक्ति से करते हैं तब उस को व्यक्तिनिष्ठा कहते हैं। अपनी बुद्धि की अल्पता ध्यान में आने से मनुष्य नम्र हो कर दूसरे की बुद्धि, होशियारी और व्यापक दृष्टि के सामने झुक जाता है। इसी में से व्यक्तिनिष्ठा पैदा होती है। लेकिन किसी भी व्यक्ति के सर्वज्ञ, सर्वसमर्थ और पूर्ण पुरुष होने की सम्भावना नहीं है। इस लिए व्यक्तिनिष्ठा में हमारी साधारणतया समृद्धि होने की सम्भावना मान कर भी व्यक्तिनिष्ठा को हम सर्वश्रेष्ठ नहीं कह सकते। दस में से नौ दफे व्यक्तिनिष्ठा लाभदायी हुई तो भी दसवी दफे व्यक्ति की अपूर्णता के कारण हम खतरे में आ सकते हैं। और खतरे की बात परे रख कर भी हम कह सकते हैं कि अपूर्ण व्यक्ति को, स्खलनशील व्यक्ति को अपने लिए शिरोधार्य बनाना, आत्मा का अपमान करना है। केवल तत्त्व ही, सम्पूर्ण, सर्वहितकारी न्याय्य सत्य ही हमारी निष्ठा का आधार और भाजन बन सकता है। इस से कम किसी भी चीज के सामने सिर झुकाना जड़ता है, जड़ता है और सच पूछो तो गुलामी है। इसलिए व्यक्तिनिष्ठा को गौण बना कर तत्त्वनिष्ठा को ही श्रेष्ठ और ग्राह्य मानना चाहिए।"

तत्त्वनिष्ठा के पक्ष में की हुई यह दलील अकाट्य है। बुद्धि, हृदय और भावना तुरंत इस दलील को और इस के पीछे की शुद्ध दृष्टि को स्वीकार करता है।

तत्त्वनिष्ठा के पक्ष में और भी एक दृष्टि या दलील है।

अपूर्ण मनुष्य अपनी बुद्धि से पूर्ण सत्य को अथवा अंतिम तत्त्व का प्राप्त करता आया है ऐसा अनुभव नहीं है। जिस चीज को आज हम सत्य मानते हैं वह कल असत्य अर्धसत्य या विकृत और कलुषित सत्य साबित हो सकती है। इस से डरने का कोई कारण नहीं है। जिस क्षण जो चीज हमें अंतिम सत्य मालूम होती है उसी के पीछे हिम्मतपूर्वक हम चलें। जिस क्षण मालूम हुआ कि हमारा सत्य पूर्ण सत्य नहीं है उसी क्षण, उस सदल सत्य को छोड़ कर नवप्राप्त शुद्ध सत्य को अपनी निष्ठा अर्पण करते जब तक हम हिचकिचाते नहीं तब तक हमारी सत्यनिष्ठा और तत्त्वनिष्ठा अबाधित है। (एक राजनिष्ठ मतलबी मनुष्य ने ऐसी ही दलील की थी। वह कहता था, मेरी राजनिष्ठा व्यक्तिनिष्ठ नहीं है। *जिस क्षण राजा राजपद से हटाया जाय उसी क्षण मेरी राजनिष्ठा उसे छोड़* देती है और उस की जगह जो भी व्यक्ति राजगद्दी पर विराजमान हो जाय उस के प्रति मेरी निष्ठा अर्पित हो जाती है। इसलिए हम लोग कभी कभी अपनी निष्ठा को राजनिष्ठा न कह कर गद्दी निष्ठा कहते हैं।)।

सच्ची तत्वनिष्ठा में ऐसा मतलबीपन नहीं होता। क्योंकि नहीनिष्ठ मनुष्य अधिकार का सावेन्नर होता है। और अधिकार में नैतिक श्रेष्ठता होनी है एसा कोई कह नहीं सकता। तत्वनिष्ठा में जो सर्वोन्यी मत्यनिष्ठा होती है वह नैतिकतम होती ह। इसीलिए संतों ने सत्य को ही धम कहा है और परब्रह्म भी कहा ह। (सत्या परता नाहीं धम सत्य तेचि परब्रह्म। सत्यापाशीं पुरुषोत्तम, सर्वकाळ तिष्ठत—एकनाथ।)

यह हो गयी तत्वनिष्ठा की बात। अब व्यक्तिनिष्ठा को दृष्टि भी समझनी चाहिए। व्यक्तिनिष्ठा कहती ह—

जिस सत्य की बात हम करते हैं जिस की खोज में हम हैं और जिसे हम अपनी निष्ठा अपण करना चाहते हैं वह २ + २ = ४ जसा गणित-सत्य नहीं होता। गणित का सत्य तटस्थ तत्व का सत्य और पदार्थविज्ञान शास्त्र (फिजिक्स) जसे तथ्यकथन भौतिक विज्ञान के सत्य अलग होते हैं। उन के प्रति सय की निष्ठा अपरिहाय होती ह। इसी को मान कर के श्री आद्य शंकराचाय ने कहा था कि अग्नि शीतल है एसा सौ-सौ वेदवचन भी अगर हमें कहें तो भी हम उसे मान नहीं सकते। वही शंकराचार्य जरूर यह कहते हैं कि श्रुति का वचन (वद का वचन) अन्तिम प्रमाण ह। बुद्धि और तर्क का आश्रय ले कर वेदवचनो की मीमांसा करने बठना नास्तिकता ह।

व्यक्तिनिष्ठा का प्रतिनिधि कहता ह कि हम चाहे जसे तुच्छ व्यक्ति के प्रति निष्ठा रखने की बात करते ही नहीं। हमारी व्यक्तिनिष्ठा में सुयोग्य व्यक्ति के प्रति निष्ठा रखने की ही बात ह। इतना स्पष्ट करने क बाद हम कहेंगे कि तत्वनिष्ठा भी अततोगत्वा किसी-न किसी व्यक्ति के निणय पर ही आधार रखती ह।

अब अगर कपिल कणाद, जैमिनी जैसे महान् ऋषियो को सत्य का दशन अलग अलग हुआ और सोच विचार कर निणय कराने की आकलन शक्ति ऋषियो की जसी हमारी न रही तो हम क्या करें? इन ऋषियो के विवाद सुन कर बुद्धि दिङमूढ होती ह और जीवन में कुछ-न-कुछ निर्णय पर आना ही पडता ह। ऐसी हालत में हम अल्पज्ञ और विकासहीन लोग अपनी बुद्धि को अंतिम निणय करने का अधिकार दें तो वह तत्वनिष्ठा नहीं किन्तु स्वव्यक्तिनिष्ठा (आत्मनिष्ठा) ही होगी।

इसलिए हम कहते आये ह कि सामान्य तौर पर व्यक्ति के निणय को महत्व नहीं देना चाहिए समाज के अभिप्राय को ही प्रमाणभूत मानना चाहिए। अनेक जमाने में मानव व्यक्तियो ने जो अनुभव प्राप्त किया उसी को निर्णायक

सत्य मानना मनुष्य के लिए हितकर है। किसी भी हालत में व्यक्ति की अपेक्षा समाज श्रेष्ठ है ही। (इसी को व्यष्टि समष्टि न्याय कहते हैं।)

यह हुई सामान्य व्यवहार की बात। किन्तु कभी-कभी कोई लोकोत्तर विज्ञानवेत्ता अथवा अध्यात्म का अधिकारी जब कोई नयी बात लाता है तब उस की बुद्धि का, उस के अनुभव का और उस की लोकोत्तर श्रद्धा का नाप हमारे पास न होने से हम केवल उस की व्यक्तिगत महानता का आदर करते हैं और उसी को अपनी निष्ठा समर्पित करते हैं।

गणित का सत्य सवशुद्ध होते हुए भी यान्त्रिक होता है। उस का सवाल हम दोनों, एक ओर रख दें। किन्तु जीवन का सत्य लचीला होता है, प्राणपूर्ण होता है, परिस्थिति बदलने पर अपना रूप भी बदलता है। उसे न पहचानना जड़ता है। जो लोग केवल तर्काधीन रहते हैं उन को बाज़ दफ़े समाज तक परतन्त्र अथवा तकजड़ कहता है। ऐसे लोगों के हाथ में समाज अपने को सुरक्षित नहीं मानता। (क्या हम नहीं जानते कि इस युग के महापुरुष गांधीजी हर एक सिद्धान्त को व्यवहार की शुद्ध कसौटी पर कसने में मानते थे? और एक दफ़े व्यवहार को मान लिया तो या तो बड़ों के वचनों पर आप को आधार रखना पड़ता है अथवा हर एक व्यक्ति को अपने निर्णय के अनुसार चलने का अधिकार दे कर समाज विघातक अराजकता माननी पड़ती है।)

जब हम सुयोग्य व्यक्ति के प्रति अपनी निष्ठा अर्पण करते हैं तब उस की धार्मिकता, न्यायपरायणता और सर्वहितकारिता की ओर ही देखते हैं। जिस चीज़ को हम जीवन का सत्य मानते हैं उस में परस्पर विरोधी अनेक तत्त्वों के बीच समझौता करना पड़ता है, लाभ हानि का विचार करना पड़ता है, जिसे अँगरेज़ी में balance of expediency कहते हैं। (कुत्ते ने पानी से भरे हुए मिट्टी के बरतन में मुँह डाला तो पानी फेंक कर बरतन को तोड़ डालने की बात शास्त्र ने बतायी है। उसी जगह धातु का बरतन हो तो पानी फेंक कर बरतन माँजने पर शुद्ध होता है ऐसा कहा है। और बरतन में अगर घी रहा और उस में कुत्ते ने मुँह डाला तो ऊपर-ऊपर का घी निकाल कर फेंक देना और बाक़ी का शुद्ध समझ कर खा लेना ऐसा शास्त्रों का विधान है। इस में केवल एक ही दृष्टि है कि कितनी हानि सहन हो सकती है और कितनी नहीं। सर्वनाश होने का प्रसंग प्राप्त होने पर मनुष्य आधे को छोड़ देता है, खाने को तैयार होता है। सर्वनाश सहन करना मुश्किल है।)

ऐसी-ऐसी बातों को व्यवहार की बातें कहें या शास्त्रवचन कहें वे व्यक्ति निष्ठा की ही बातें हैं। फिर मन मनाने के लिए हम इष्ट व्यक्ति का प्रामाणिक

और सवन कहते है, निवालन कहते हैं, पूण पुरुप कहते हैं और आखिरकार उसे ईश्वर की विभूति अथवा अवतार भी कहते हैं। शास्त्रा म सत्य जानने वाले सर्वहितकारी, निष्पक्ष व्यक्ति को आप्त कहा ह। आप्त याने विश्वासपात्र, अपने अमीन।

धर्मशास्त्रकारो ने और आज के न्यायालयो ने भी अंतिम निणय ज्युरी के यानी आप्त व्यक्ति के हाथ में रखा ह। व्यवहार में बहुत सी चीजें हम अनिर्णीत नही रख सकते निणय कर के ही आगे बढना पडता ह। इसी लिए शास्त्रा न धर्मतत्त्वो का विवेचन करने के बाद कहा ह कि कम-से-कम दस ब्राह्मणो को अथवा विद्वानो को इकट्ठा कर के उन से निणय मांग लेना। यह कोरम का रिवाज था। कम-से-कम दस की परिषद् को दशावरा परिषद् कहते थे। दस न मिलने पर कम-से-कम तीन व्यक्तियो के कोरम (Quorum) को त्र्यवरा परिषद् कहते थे।

क्या यह सब व्यक्तिनिष्ठा के नमूने नही ह? हम कहेंगे कि व्यक्ति यानी अनेक अच्छे मान्य सिद्धान्तों का जीवित स्वरूप। व्यक्ति में केवल बुद्धि नही होती केवल न्यायबुद्धि से वह निणय नही देता न्याय के साथ कल्याण-बुद्धि भी मिला देता ह जिसे अंगरेजी में Equity कहते ह संस्कृत में इसे समम कहते है। व्यक्ति निणय करते समय बुद्धि, भावना उदारता, दया क्षमा, सर्वहित कारिता और माध्यस्थ्य आदि सब तत्त्वो का एक साथ प्रयोग करता ह। सर्वमान्य शास्त्रो का भी अथ तो पूज्य व्यक्तियो से ही हम मांग लेते ह। इस लिए यह स्पष्ट ह कि प्राणधारी, शरीरधारी मनुष्य समाज के जीवन के लिए सत्य का और सारभूत तत्त्व का निणय व्यक्ति पर ही छोडना पडता ह। अन्य न्यायनिष्ठा से धर्मन व्यक्ति का निणय अधिक शुद्ध होता ह। इस लिए हम निणय तो आखिर-कार व्यक्ति पर ही छोडेंगे और अपनी सारी शक्ति ऐसे व्यक्ति को पसन्द और मान्य करने में खच करेंगे।

लेकिन यह भी हमेशा सम्भव नही होता। भारत और पाकिस्तान का जब बटवारा हुआ तब कौन सा मुल्क किस राज्य के पास जाय इस का मुख्य निणय होने के बाद बाकी का विवादास्पद निणय दोनो पक्षो ने एक अंगरेज के हाथ में सौंप दिया और उस का निणय जो भी हो मान्य करने का प्रथम वचन दिया। मनुष्य-व्यवहार में ऐसा करना ही पडता ह।

और इस के आगे जा कर निणय तत्त्व और सिद्धान्त पर नही व्यक्ति पर भी नही किन्तु रुपया या पैसा हवा में उछाल कर वह जमीन पर जैसे पडेगा उस के अनुसार किया जाता ह जिसे अंगरेजी में toss कहते ह। बडे बडे राष्ट्रीय और

आन्तरराष्ट्रीय महत्त्व के सवालों का निर्णय इसी तरह दबाधीन करना पडता है।

यह सारा विवेचन इस लिए किया है कि इस के बाद जो चर्चा हम करेंगे इस में दोनों पक्षों का खयाल हमारे सामने है, दोनों पहलुओं का महत्त्व हम जानते है, स्वीकारते है सो तो है ही लेकिन यह भी है कि समस्त मनुष्य जाति भी दोनों पक्षों का अनुभवसिद्ध महत्त्व मजूर कर के ही चलती है।

साधारणतया सोचने वाला कोई भी आदमी कहेगा कि "व्यक्तिनिष्ठा गौण चीज है तत्त्व ही श्रेष्ठ है। व्यक्ति आज है, कल नही होगा। व्यक्ति में अनेक तरह के दोष होते हैं कमजोरियाँ होती है, स्वार्थवश हो कर या अभिमान से व्यक्ति पाप करने को प्रवृत्त होता है। ऐसे व्यक्ति के प्रति निष्ठा रखना किस काम की ? व्यक्तिनिष्ठा में गुलाम-वृत्ति को ही पोषण मिलता है। डरपोक, कायर या मतलबी मनुष्य ही व्यक्तिनिष्ठा के वश होगा। मनुष्य के लिए तत्त्वनिष्ठा ही योग्य है, इत्यादि।" लेकिन मनुष्यजीवन केवल तत्त्वों का बना हुआ नही रहता है। कभी कभी व्यक्तिनिष्ठा ही जीवन का सार सर्वस्व बनती है। स्त्री की पतिनिष्ठा व्यक्तिनिष्ठा ही है। लेकिन उसी के आधार पर गृहस्थाश्रम चलता है, दाम्पत्य-जीवन सुखी होता है और उसी में से पति पत्नी की अपत्यनिष्ठा फलित हो कर कौटुम्बिक जीवन कृतार्थ होता है। फौज में सेनापति की आज्ञा का पालन करना एक तरह से व्यक्तिनिष्ठा है, दूसरी तरह से उसे हम तत्त्वनिष्ठा भी कह सकते हैं। वचननिष्ठा—अपने शब्दों की कदर कर के दिये हुए वचन के लिए जरूरत पड़ने पर सर्वस्व का त्याग करना—व्यक्तिनिष्ठा भी है और तत्त्वनिष्ठा भी।

हर राष्ट्र का अपना स्वभाव होता है। भारत के लोग स्वामी निष्ठा के लिए शुरू से मशहूर हैं। दूसरे किसी राष्ट्र के लोग अपनी तत्त्वनिष्ठा पर नाज रखते हैं।

अँगरेजों के बारे में कहा जाता है कि वे होते हैं समय साधु—अवसरवादी। अपने स्वार्थ के लिए बडे जागरूक होते है। लेकिन ऐसे चतुर होते है कि हर समय किसी न किसी सिद्धांत को आगे करते हुए अपने को तत्त्वनिष्ठ घोषित करते है। उन्हीं के लेखक बरनार्ड शा ने अंगरेजों के इस स्वभाव का मजाक उडाया है।

गहराई से सोचने पर लगता है कि किसी भी राष्ट्र जाति या जमात के बारे में सार्वत्रिक सिद्धान्त बनाना खतरनाक है। हर एक समाज में तरह तरह के व्यक्ति होते है। समाज का स्वभाव भी एक सा नही रहता। अँगरेज लोग बंगालियों को वाचाल और कायर कह कर उन की खिल्ली उडाते थे। लेकिन

बगभग के बाद बगालियो ने ऐसी वीरता दिखलायी कि अँगरेज स्वय प्रभावित हुए और उन्होंने पुरानी निन्दा छोड दी।

साररूप यही कह सकते हैं कि व्यक्तिनिष्ठा और तत्त्वनिष्ठा दोनो मे आयता होते हुए भी उन का अतिरेक पागलपन बन जाता है। एक राजा अच्छा हो तो उस का कार्य सिद्ध करने के लिए मनुष्य स्वामिनिष्ठा के नाम पर चाहे सो बलिदान दे सकता है। लेकिन उसी के लडके के लिए वसी ही निष्ठा रखना और अन्ध हो कर उसी के पीछे चलना कभी कभी राष्ट्रद्रोह बन जाता है। व्यक्तिनिष्ठा हो या तत्त्वनिष्ठा हो, उस का भाव अक्ल होशियारी से समझना चाहिए। निष्ठा मे अन्धत्व के लिए गुजाइश नही होनी चाहिए। बडे बडे काम तो साथियों की परस्पर निष्ठा से ही सफल हो सकते हैं। किन्तु हमारे देश में हर एक निष्ठा को अन्ध हो कर पकड रखने की आदत हो गयी है। धर्मनिष्ठा अच्छी चीज है। किन्तु वही जब रूढिनिष्ठा अथवा अभिमान का रूप धारण करती है तब वह दोषरूप बनती है। शास्त्रग्रन्थ के वचनो को पकड कर चलने का अन्धत्व दुनिया के सब देशो में और सब धर्मों में पाया जाता है। इसी के कारण झगडे चलते रहते हैं और असली मानव हित का द्रोह होता है और सच्ची तत्त्वनिष्ठा ही गायब हो जाती है। परिस्थिति को समझना और जिस वक्त जो बात योग्य है उसी को दक्षता से करना यही है सच्चा रास्ता। मनुष्य की समझशक्ति जब दुबल होती है तब कोई भी नियम उस के लिए घातक बन जाता है। हर एक समाज के नेताओं का अनुभव है कि लोगों में समझ कम और अन्धापन अधिक होता है। और ऐसा अन्धापन बहुत बार निष्ठा का रूप और नाम धारण करता है।

व्यक्तिनिष्ठा निष्ठा के रूप में चाहे जितनी अच्छी और उन्नतिकर भले ही क्यों न हो उस में एक बडा दोष आता है। व्यक्तिनिष्ठ आदमी स्वय सोचता नही। व्यक्तिनिष्ठ राष्ट्र तो अन्धा बन कर किसी एक आदमी के पीछे चलता है। इस से लाभ हुआ या हानि यह सोचने का होश भी उस में नही रहता और जिसे निष्ठा अर्पण की उस के चले जाने के बाद सारा राष्ट्र किंकर्तव्यविमूढ बनता है स्वय सोच नही सकता और बाज दफे ऐसे राष्ट्र के टुकडे हो कर हर एक टुकडा अपने अपने नेता के पीछे चल कर राष्ट्र का ही नाश कर देता है। राष्ट्र के हर एक व्यक्ति में सोचने की शक्ति तो होनी ही चाहिए, दूसरा इलाज नहीं है।

(१८ मार्च १९६०)



मन्दिरों का सुधार

मन्दिरों का सुधार–१

हमारे देश में मन्दिर, मस्जिद और गिरजाघर बहुत हैं। पता नहीं कि अन्य देशों में इन की तादाद हम से अधिक है या कम। लेकिन इतना तो हम महसूस करते ही हैं कि हमारे यहाँ पूजा और इबादत के ऐसे मकान हद से ज्यादा हैं। हमारे लोग पहले जितने मन्दिर बनाते थे उतने अब नहीं बनाते हैं, यह बात सही है। लेकिन पहले मन्दिरों की जितनी हिफ़ाज़त होती थी गिरे हुए मन्दिरों का जितना जीर्णोद्धार होता था उतना अब नहीं होता है इस लिए बेकार मन्दिरों की संख्या बढ़ती जाती है। गाँव के लोग उत्सव के समय अथवा ऐसे ही किसी मौक़े पर मन्दिर में इकट्ठा अवश्य होते हैं लेकिन हमारे मन्दिर अब पहले के समान सामाजिक जीवन के केन्द्र नहीं रहे हैं।

जब अँगरेज़ों का राज्य था तब उन की नीति थी कि महत्व की बातों में हमारा स्वातन्त्र्य छीन लिया जाये लेकिन गौण बातों में हमारे प्राचीन रिवाज, संस्था या प्रणाली का बड़ी ही तत्परता से रक्षण किया जाये। धार्मिक और सामाजिक जीवन में कोई सुधार करने निकले तो सनातनी लोग उस का विरोध करते थे लेकिन अँगरेज़ भी हमारे जीवन में हस्तक्षेप नहीं करने के अपने सिद्धान्त की दुहाई देकर रूढ़िवादियों की ही मदद करते थे।

इस कारण संस्था के तौर पर मन्दिरों में कोई सुधार नहीं हो सकता था। अब रूढ़िवाद का रक्षण करने वाली कोई पराई सरकार नहीं रही है। अब हरेक समाज के नेता लोग लोकमत तैयार कर के जरूरी सुधार कर सकते हैं। इस लिए अब मन्दिर सुधार की बात हमें सोचनी चाहिए। जो बात मन्दिरों के बारे में सोची जायेगी वही बात मुसलमान समाज अपनी मस्जिदों के बारे में सोच सकेगा।

मेरा पहला सुझाव यह है कि क्योंकि मन्दिर आदि संस्थाएँ आबादी की महत्त्व की जगह रोकती हैं इस वास्ते उन पर टैक्स लगाना चाहिए। यह टैक्स दो प्रकार का हो। मन्दिर कितनी जगह रोकता है मन्दिर बनाने के

लिए कितना खर्च हुआ है और मन्दिर चलाने के लिए कुछ मिला कर वार्षिक खर्च कितना होता है यह सब सोच कर एक टैक्स लगाना चाहिए जिसे, हम वास्तु कर या Site tax कह सकते हैं। और दूसरा कर मन्दिरों की कुल आय पर होना चाहिए। जिस मन्दिर की कोई आय ही नहीं और जिस का उपयोग भी जनता नहीं करती है और जिस के लिए लोग Site tax भी देने को तयार नहीं हैं उस मन्दिर को या तो तोड़ देना चाहिए या कोई एतिहासिक या कलात्मक महत्त्व होने पर सरकार के पुरातन वस्तु संरक्षण विभाग को सौंप देना चाहिए और यह जाहिर करना चाहिए कि उस पर अब उस धर्म पन्थ के लोगों का कोई अधिकार नहीं रहा है। जो मन्दिर रहदारी के रास्ते पर हैं और वाहनादि व्यवहार को रोकते हैं उन पर ज्यादा tax लगाना चाहिए और उस आमदनी से राहगीरों को सहूलियतें देनी चाहिए। अगर जनता ऐसा टैक्स देने को तयार नहीं है तो ऐसे मन्दिरों की जगह बदलने का हक म्युनिसिपालिटी का रहना चाहिए।

बनारस प्रयाग गोकुल आदि स्थानों पर छोटे-छोटे मन्दिरों की इतनी तादाद है कि बनारस में कहीं कहीं निर्माल्य का उपयोग कुत्तों को करते मैं ने देखा है। ऐसी लज्जाजनक स्थिति को सुधारने के लिए समाज को चेतावनी देनी चाहिए कि मन्दिरों की हिफाजत समाज नहीं कर सकता है तो उन को हटाया जायेगा और मन्दिर की विडम्बना बन्द की जायेगी। अगर समाज ऐसे मन्दिरों की भी रक्षा ही चाहता है तो उस के खर्च के लिए उस समाज के पास से योग्य टक्स लेने का सरकार को अधिकार होगा। हिफाजत के लिए कम से कम क्या क्या करना होगा यह बताने का अधिकार सरकार के हाथ रहेगा। जिस मन्दिर की व्यवस्था अच्छी नहीं होगी उसे जुरमाना किया जायेगा। पूर्व अफ्रिका में मैं देख आया हूं कि वहां के शहरों में मकान के इर्दगिर्द का बगीचा अगर अच्छी हालत में न रखा तो म्युनिसिपालिटी तुरन्त मकान में रहनेवालों को या मकान मालिक को दण्ड करती है। दण्ड छोटी मात्रा में रहता है और वह भी तुरन्त देना पड़ता है। अगर हम अपने शहरों का और गांवों का स्वच्छ निरोगी और सुन्दर रखना चाहें तो हमें भी ऐसे कानून बनाने ही चाहिए। यह तो मानी हुई बात है कि केवल कानून से कुछ नहीं होता है। समाज के नेताओं को ही इस बात में ऊंचे आदर्श रखने चाहिए। जहां जहां नयी बस्ती तयार की जाती है, वहां-वहां आदर्श के नियम बना कर स्पष्ट करना चाहिए कि जो लोग इन नियमों का पालन करने को तयार हों उन्हीं को वहां जगह मिलेगी।

मन्दिर प्रवेश के कानून तो सरकार ने बनाये ही हैं। साथ साथ सामाजिक

शांति के नियम भी बनाने चाहिए। जिस से सारी रात भजन के नाम से मन्दिर में कोलाहल न चले और पड़ोसियों की निद्रा का भंग न हो। हमारा सामुदायिक धार्मिक जीवन नियमबद्ध होना चाहिए।

(सितम्बर १९५०)

मन्दिरों का सुधार-२

मन्दिरों के सुधार के बारे में लिखे मेरे लेख को पढ़ कर भागलपुर से श्री गोपालकृष्ण मल्लिकजी ने कुछ सुझाव भेजे हैं। उन का सारांश नीचे दिया जाता है।

"(१) अगर किसी मन्दिर, देवालय या पोखरे पर किसी व्यक्ति या परिवार का ही अधिकार हो और उसे अच्छी हालत में रखने की हैसियत उस व्यक्ति या परिवार की न हो तो उस की सारी व्यवस्था वहां के समाज के सुपुर्द करने के लिए उन्हें बाध्य किया जाये।

(२) जिस पुराने मन्दिर और मसजिद की व्यवस्था का संतोषजनक प्रबन्ध न हो उस के लिए कानूनन कुछ तुरंत प्रबंध करना या करवाना चाहिए।

व्यवस्था सम्बन्धी सुधार के साथ नैतिक सुधारों का भी आग्रह रखना चाहिए।

(३) जिन महान् मन्दिरों की प्रतिष्ठा के कारण दर्शकों की संख्या हमेशा बहुत रहती है उन मन्दिरों के प्रवेशद्वार बड़े करने चाहिए। अन्दर हवा और प्रकाश पूरी मात्रा में मिल सके इस के लिए भी खिड़कियों का प्रबन्ध करवाना चाहिए।

(४) जगन्नाथपुरी, भुवनेश्वर कोणार्क, बेलूर, हलेबीड आदि मन्दिरों में जो बीभत्स मूर्तियाँ जगह जगह पर पायी जाती हैं उन को नष्ट करवा देना चाहिए (मैं इस सुझाव से पूर्णतया सहमत नहीं हूँ। बीभत्स मूर्तियों को न तोड़ते हुए वहीं के वहीं मिट्टी या चन्दन आदि के नीचे दबा देना चाहिए जिस से समाज के स्त्री-पुरुषों की नजर उन पर न पड़े। एक जमाने के पतन का यह सबूत बिलकुल नष्ट हो जाये यह शायद समाजशास्त्रियों को पसन्द नहीं होगा। बेहतर तो यह होगा कि कई मूर्तियों के फ़ोटो ले कर बाद में उन को नष्ट किया जाय।)

(५) केवल कुतूहल की दृष्टि से जो लोग मन्दिर में जाना चाहते हैं उन पर वह टक्स नहीं लगाया जाये जो यात्रा के हेतु मन्दिर जानेवाले भक्तों से लिया जाता है।

(६) 'जो बात मन्दिर के लिए है वह मसजिदों के लिए भी है।'

इस तरह के कई सुझाव पेश किये जा सकते हैं। स्वराज सरकार का यह आवश्यक कर्तव्य है कि मन्दिर, मसजिद, गिरजाघर और कब्रस्तान आदि जगहों के बारे में सोचने के लिए उन उन समाजों की एक एक समिति वह नियुक्त करे और उन को सरकार की सामान्य नीति बतायी जाये। जिन स्थानों की हिफाजत नहीं हो सकती और जिन का महत्त्व अब कुछ रहा नहीं है उन्हें समाप्त कर देने का काम उस समाज का है। जो स्थान सँभाल कर रखने हैं उन की सुरक्षा के लिए समाज अपनी ओर से चन्दा इकट्ठा करे और इस बारे में सरकार के जो कानून हों उन का पालन करे। स्वच्छता, सदाचार, शिष्टाचार और आवश्यक शान्ति की दृष्टि से सारा प्रबन्ध सुधारने का काम समाज के नेताओं के सुपुर्द किया जाये।

जिन जिन स्थानों के प्रति समाज की विशेष श्रद्धा है उन के प्रबन्ध के नियम बनाये जायें और सब धर्मों के प्रतिनिधियों की एक समिति बनायी जाये जो सब सामान्य नियम बनाये और उन के पालन पर अपनी निगरानी रखे।

अगर ऐसी समिति में मतभेद पैदा हुआ तो सरकार का निर्णय सब को मान्य करना ही चाहिए।

मेरा सुझाव है कि मन्दिरों में भात रोटी आदि ऐसी चीजें नहीं चढ़ायी जायें जिन में स्पर्शास्पर्श या दृष्टि-दोष का सवाल उठ सके।

(अक्तूबर १९५७)

जीर्णोद्धार या विसर्जन

जैसा कि और प्रान्तों में भी हो रहा है, महाराष्ट्र में चन्द सेवक अपनी बुद्धि-शक्ति के अनुसार सच्ची ग्रामसेवा कर रहे हैं। अभी एक भाई मिले जिन्होंने अम्बर चरखे का और मद्य-पान निषेध का अच्छा काम किया है। युवकों के मन पर प्रभाव डाल कर वे उन से तरह-तरह के अच्छे काम कराते हैं। कहीं उन्होंने

देखा होगा कि नदी किनारे एक मंदिर और घाट बहुत बुरी हालत में हैं। उन्होंने नवयुवकों की सहायता से घाट पर का और इर्द गिर्द का कूड़ा करकट दूर किया। लोगों को नहाने की अच्छी सहूलियत हुई। उन्होंने मंदिर भी साफ करवाया और किसी से पैसा माँग कर मंदिर की दीवारों को चूना भी लगवाया।

अपने ऐसे अच्छे अनुभव के बल पर उन्होंने एक सम्मेलन में प्रस्ताव रखा कि अगर इस तरह अपने अपने विभाग में स्वयंसेवक मंदिरों का जीर्णोद्धार करें तो बहुत बड़ी सेवा होगी। सैकड़ों मंदिरों की दशा सोचनीय है। अगर नवयुवक सोचें, तो सब के सब मंदिर स्वच्छ हो सकेंगे।"

जब कभी मंदिरों के जीर्णोद्धार की बात आती है तब कई सनातनी आत्मा ऐसे कर्मों के प्रति आकर्षित होते हैं और चन्दा दे कर उत्साह के साथ कार्यक्रम अपनाते हैं।

मैं ने देखा कि इस कार्यक्रम के बारे में कुछ स्पष्ट बात करना जरूरी है। जिस भाई ने नदी किनारे का मंदिर और घाट नवयुवकों की मदद से साफ किये उन का अभिनन्दन करते मैं ने कहा कि जिन मन्दिरों के प्रति उपासकों की भक्ति जागृत है अथवा जो मंदिर स्थापत्य कला की दृष्टि से मनोहर और रक्षणीय हैं ऐसों की सूची बना कर देश के सामने सुधार के लिए रखनी चाहिए। लेकिन सब के सब, भले-बुरे मंदिरों की हिफाजत का बोझा हम नहीं उठा सकते।

भक्त-हृदयों के उत्साह के कारण और पुण्यलोलुप या कीर्तिलोलुप धार्मिकों के छोटे बड़े पुरुषार्थ के कारण देश में मंदिरों की संख्या इतनी बढ़ी है कि सब के सब मंदिरों के जीर्णोद्धार का कार्यक्रम हम बनावें तो समाज सेवा के सब काम छोड़ कर पचास-साठ बरस तक यही काम करना पड़ेगा। और तब तक सुधरे हुए मंदिर भी फिर से जीर्ण होने लगेंगे और फिर से मरम्मत के अधिकारी बनेंगे।

जब अँगरेज राज्यकर्ता इस देश को छोड़ गये, तब उन्होंने इस देश में जगह-जगह पायी जाने वाली गोरों की श्मशानभूमि (cemetery) का भी विचार किया। उन्होंने तय किया कि सब की सब श्मशान भूमियों की हिफाजत करना नामुमकिन है। इस लिए महत्त्व की चन्द श्मशान भूमियों की हिफाजत का उन्होंने प्रबन्ध किया और बाकी के सब कब्रस्थान कुदरत को लौटा देने का उन्होंने निश्चय किया। इस तरह जिन कब्रस्थानों का विसर्जन किया गया, वहाँ की दीवालें टूट जायें उन के पत्थर और स्मारक पत्थर भी कोई उठा कर ले जाये तो कोई शिकायत नहीं करेगा।

सारे समाज को इकट्ठा कर के हम लोग कभी ऐसा निर्णय नहीं करते।

सर्वनाश का इतना माद्दा तैयार करने के बाद देश में अगर परतन्त्रता आ जाये तो इस में आश्चर्य ही क्या है ?

मन्दिर प्रवेश की ही बात हम सोचें। उन्होंने पूजा का अधिकार सिर्फ़ ब्राह्मणों और पुजारियों के हाथ में ही रखा। हरिजनों को तो मन्दिर प्रवेश निषिद्ध ही कर डाला। लेकिन मैं ने एक ऐसा भी सनातनी मन्दिर देखा है जिस में मन्दिर में प्रवेश पानेवाले सवर्ण हिन्दुओं को आज भी शर्म नहीं है कि जहां ये सवर्ण पुरुष दर्शन के लिए जा सकते हैं वहां तक उन की माताओं को, बहनों को, पत्नियों को और लड़कियों को प्रवेश का अधिकार नहीं है। क्योंकि वे स्त्री जाति हैं।

दुर्बलों का दमन करने वाले इस रूढ़िवाद की विदेशी राज्यकर्ताओं के सामने कुछ न चली। भिन्न धर्मी राजाओं के राजकर्मचारी इन सनातनी रूढ़िवादियों की मर्यादा थोड़े ही मान्य रखनेवाले थे ! कई बार भिन्नधर्मी राजकर्मचारियों ने मन्दिरों में जा कर तहकीकात की है। तब ये निर्वीर्य रूढ़िरक्षक असमंजस में पड़े कि अब क्या किया जाये। गाय की विष्ठा और मूत्र से मन्दिर को पवित्र कर सकते थे। लेकिन अगर इस से भी चिढ़ कर राज्य कर्मचारी सजा करें तो ?

रूढ़िवाद का बुद्धिबल कभी हारा हुआ नहीं है। उस ने धर्मशास्त्र की मदद ली और कहा— ना विष्णुः पृथिवीपतिः ' पृथ्वीका मालिक राजा मनुष्य होते हुए भी प्रत्यक्ष विष्णु ही है। इस वास्ते वह तो मन्दिर में आ ही जायेगा।

राजा का यह अधिकार मान्य करने के बाद इन कायरों ने युक्तिवाद चलाया कि राजा नाम में राजा के सब कर्मचारी भी आ जाते हैं। यहाँ तक कि कोई पुलिस भी आ जाये तो वह भी राजा का प्रतिनिधि होने के कारण सशरीर राजा रहने वाला वह एक बड़ा देवता ही है।

इस तरह चाहे किसी भी धर्म का हो राजा उस के कर्मचारी और उस की पुलिसों को मन्दिर प्रवेश की इजाज़त धर्मशास्त्र से ही सिद्ध हुई। राज्यकर्त्ता के साथ राज्यसत्ता व धर्म के सब शास्त्रों का भी एक तरह की प्रतिष्ठा देने का इलाज सनातन रूढ़ि के पास है।

गुजरात में अगर कोई धर्म मानक ब्राह्मण हरिजन को छू जाय तो इस महापाप का प्रायश्चित्त रूढ़िवाद के अनुसार दो तरह से हो सकता है। या तो [illegible] सनातनी धर्मनिष्ठ पुरुष अपने कपड़े उतार कर भिगा ले और स्वयं स्नान [illegible] कर ले या अगर इतनी तकलीफ बरदाश्त न हो सके तो किसी मुसलमान को आ कर छू ले। सब पाप उतर जाता है। जब महात्मा गांधी शुरू-शुरू के दिनों में अस्पृश्यता निवारण के लिए गुजरात में दौरा करते थे तब

कभी-कभी उन के साथ मुहमदअली शौकतअली भी जाते थे। सनातनियों ने यह अच्छा मौका पाया। सभा में सब आने लगे। जब तक सभा में अलीबन्धु जैसे विशालकाय मुसलमान हैं तब तक अस्पृश्यता का डर बिलकुल नहीं था। जब यह बात महात्माजी के ध्यान में लायी गयी तब उन्हें इस का स्पष्टीकरण करना पड़ा।

सनातनियों की एक दूसरी खूबी है। अगर किसी कुत्ते ने मिट्टी के घड़े के पानी में मुँह डाला तो वे कहेंगे कि पानी फेंक दो और घड़ा तोड़ दो। मगर धातु के बरतन में कुत्ते ने मुँह डाला तो कहेंगे कि पानी फेंक दो और बरतन आग पर रख कर गरम करो तो शुद्ध हो जायगा। लेकिन अगर किसी कुत्ते ने घी के कनिस्तर में मुँह डाला या थोड़ा चाट भी लिया तो ऊपर-ऊपर का थोड़ा सा घी फेंक देने से काम चल जायेगा। कनिस्तर और कनिस्तर का घी अशुद्ध नहीं माना जायेगा। इसी तरह अगर बड़े मेले में सकड़ों और हजारों लोग इकट्ठा हुए और उन में अनजान में हरिजन आये और उन का स्पर्श हुआ तो ऐसे समय पर 'स्पृष्टास्पृष्टिन विद्यते,' छुआछूत है नहीं।

ऐसा कह कर वे रोजमर्रा के जीवन में छुआछूत कायम रख देते हैं। अगर किसी ब्राह्मण को लाचारी से किसी ब्राह्मणेतर के साथ एक पंक्ति में बैठना पड़े तो पंक्तिभोजन का दोष टालने के लिए वह चुपचाप कोयले की एक लकीर दोनों के बीच खींचेगा। और कहेगा कि लकीर के कारण एक पंक्ति की दो पंक्तियाँ हो गयी। इस वास्ते पंक्तिदोष नहीं रहा। भोजन करते करते अगर पड़ोस के आदमी का स्पर्श हुआ तो गुस्से में आकर ब्राह्मण थाली छोड़ कर चला जायेगा, लेकिन अगर ऐसा नहीं कर सकता है तो पानी का स्पर्श अपनी दो आँखों से कर के शुद्ध हो जायेगा और आराम से खायेगा।

यह सब कहने का अर्थ इतना ही है कि आचरण में रूढ़िवादी से चाहे जितनी तबदीली करवाइए छुआछूत का भेद वह दिल से हटने नहीं देगा। अगर बिहार के मुख्य मन्त्री श्रीबाबू हरिजनों को ले कर देवगढ़ के मन्दिर में गये तो सनातनी कहेंगे कि वे तो राजपुरुष हैं—प्रत्यक्ष विष्णु के अवतार। उन के साथ जितने भी लोग आयेंगे उन के दर्शन और स्पर्श से उस वक्त के लिए पवित्र होंगे।

ऐसी लचीली रूढ़ि को तोड़ना आसान नहीं है। मन्दिर के पंडे-पुजारी अकसर इतने लोभी और अवसरवादी होते हैं कि उन को दबाने से वे दब तो जाते हैं, लांगूलचालन करने के लिए भी तैयार होते हैं। लेकिन मौका मिलते ही अपनी पुरानी चाल कायम रखते हैं।

इस लिए सच्चा उपाय यही है कि जिस तरह सिख लोगों ने गुरुद्वारा शिरोमणि प्रबन्धक सभा कायम कर के सत्याग्रह के बल पर अपने अपने गुरुद्वाराओं का कब्ज़ा ले लिया उसी तरह शुद्ध सनातनियों को इन मंदिरों का कब्ज़ा रूढ़िवादियों से छीन लेना चाहिए और मंदिरों की व्यवस्था में आमूलाग्र परिवर्तन करना चाहिए।

स्वराज्य के दिनों में सत्याग्रह करने की आवश्यकता नहीं है और शिरोमणि सभा के जैसी किसी एक जमात के हाथ में मंदिर का कब्ज़ा देने की ज़रूरत नहीं है। जिस तरह मद्रास की ओर Temple's Endowment Act हुआ है और मंदिरों की ओर से होने वाले खर्च का प्रबन्ध मुकर्रर किया है इसी तरह सारे देश में मंदिरों की सम्पत्ति का विनियोग सुव्यवस्थित हो जाये ऐसा इलाज करना चाहिए।

सब से पहले यह तय होना चाहिए कि मंदिरों पर किसी व्यक्ति विशेष का स्वामित्व न रहे। सारे समाज का स्वामित्व रहे। इस में हरिजन भी शुमार हों। और मंदिर की प्रबन्धक समिति में चमार या भंगी में से कोई-न-कोई एक सदस्य अवश्य हो।

दूसरी बात यह तय हो कि मन्दिर में कोई पुजारी न हो। भक्त लोग पहले से इजाज़त ले कर अपना क्रम और समय तय करें। और उस समय जा कर मन्दिर में पूजा करें। मंदिर की साफ सफाई का और उत्सवों का प्रबन्ध प्रबन्धक समिति के द्वारा हो। मूर्ति को अभिषेक करने का और नैवेद्य चढ़ाने का अधिकार हरिजन आदि सब जातियों को रहे।

मन्दिर में जो नैवेद्य या भोग चढ़ाया जाता है उस में भात रोटी आदि कच्चा रसोई के पदार्थ बिलकुल न हों। सूखामेवा ताज़ामेवा और मिठाई आदि सर्वग्राह्य चीज़ों का ही भोग लगाने का नियम हो।

मंदिर में नामस्मरण या कीर्तन के नाम शोरगुल और कोलाहल करने की इजाज़त किसी को न हो। मंदिर में शान्त, गम्भीर पावन और प्रसन्न वायुमण्डल रखा जाये और वहाँ पर अगर संगीत का प्रबन्ध रहा तो वह भी सात्त्विक ढंग का हो। मंदिरों में रणभेरी आदि जंगी वाद्यों के लिए अवकाश नहीं होना चाहिए।

उत्सवों के दिन सब लोगों को मंदिरों में बुलाया जाये और शुद्ध सात्त्विक भक्ति का और मानवोचित सदाचार का उपदेश भी हो या सन्त साहित्य का पारायण चले।

मंदिरों की सम्पत्ति में से संस्कृत भाषा का अध्ययन बिना किसी भेदभाव

के सब लोगों का सुलभ किया जाय। सस्कृत में पाली अघमागधी आदि भाषाएँ भी आ जाती हैं। मंदिर के साथ एक पुस्तकालय भी अवश्य हो जिस में लोगों को घम का ज्ञान और धार्मिक पुस्तकें पढ़ने का अवसर मिले।

मंदिर के साथ एक पशु चिकित्सालय भी अवश्य होना चाहिए। जिस के ज़रिये गाय, बैल, घोडा, कुत्ता आदि सब ऐसे पशुओ की सेवा हो जिन की सेवा मनुष्य हमेशा लेता आया है।

इस तरह मंदिरो के द्वारा धर्मोचित समाज सेवा के अनेक प्रकार हम चला सकते ह। आजकल मंदिरो में जो अनाचार चलता है देवदासियों को मंदिरों में रखा जाता है वह सब तुरत बन्द होना चाहिए। सब के सब मंदिर धम प्रधान सस्कृति क जीवित केन्द्र बनने चाहिए।

हमारे मंदिरों में जहाँ तहाँ घमवचन लिखने या खुदवाने का प्रयत्न नही होना चाहिए। ऐसे वचना से मंदिरो का वायुमण्डल जसा चाहिए वसा नही रहता। घमवचनों के लिए एक अलग कमरा या कक्ष रखना चाहिए जिस में घमवचन की अनेक शिलाएँ पारी-पारी से रखी जा सकती हैं।

मंदिर जो आज जड जरठ रूढिवाद के किले बन गये ह उन्हें जीवित, प्रगतिशील मानवता के विकास के केन्द्र बनाना चाहिए। और उन का प्रबन्ध समाजमान्य सदाचारी लोक सेवको के हाथ में रखना चाहिए।

श्री विनोबा के ऊपर जो घातक आक्रमण हुआ उस के फलस्वरूप अगर मंदिरो की व्यवस्था में इतना परिवतन हो जाय तो वह एक बडा लाभ ही होगा। सन्ता के कष्टा का लाभ समाज को पूरा-पूरा मिले यही इष्ट ह।

(नवम्बर १९५३)

खानगी मंदिरों को हम ठीक करें

जब से अस्पृश्यता निवारण के कानून देश में सर्वानुमति से स्वीकृत होने लगे तब से जगह-जगह मंदिरो के ट्रस्टी लोग कानून की बारिकियाँ ढढ़ने लगे ह कि बचने का कोई उपाय है या नही।

वे क्यों नही जानते कि जहाँ महात्माजी जसे पुण्यपुरुषा की और घमप्राण व्यक्तियों की प्रेरणा से सारे राष्ट्र ने और समस्त हिन्दु समाज ने तय किया है

कि अस्पृश्यता का कलंक दूर करना ही है तब कानून की खामियाँ ढूँढ़ना मिथ्या प्रयत्न है समय का, धन का और बुद्धि का केवल दुरुपयोग है ?

वकीलों को और बॅरिस्टरों को लड़ने पर दोनों तरफ से लाभ ही है। वे तो "स्वस्ति रामाय, स्वस्ति रावणाय" कहेंगे ही।

मंदिर के अयलोभी ट्रस्टी लोग डरते होंगे कि हरिजनों के मंदिर में आने से रूढ़िप्रिय सनातनी लोग मंदिर में कम आयेंगे और मंदिर की आमदनी कम होगी। कई मंदिरों का अनुभव इस से उल्टा ही हुआ है। दक्षिण में मदुरा की तरफ के एक मंदिर के बारे में मैं जानता हूँ कि वह मंदिर हरिजनों के लिए खुला होते ही चन्द ब्राह्मणों ने उस मंदिर में जाना छोड़ दिया। जब ब्राह्मणेतरों को इस बात का पता चला तब वे खुसूसन इसी मंदिर में दर्शन के लिए जाने लगे। वहीं पर दक्षिणा देने लगे। फल यह हुआ कि इस मंदिर पर जो पुराना कर्जा था वह तो नयी आमदनी से दूर हो ही गया, मंदिर के ट्रस्टियों ने मंदिर के इर्द गिर्द नये मण्डप और कमरे बना दिये और आज उस मंदिर की हालत ईर्ष्या करने लायक है।

जहाँ देखें मंदिर के ट्रस्टी कहते हैं कि हमारा मंदिर सार्वजनिक नहीं है। मुट्ठीभर खानगी लोगों के स्वामित्व का यह खानगी मंदिर है। इस में कानून हरिजन प्रवेश की जबरदस्ती नहीं कर सकता।

ऐसी परिस्थिति में हमारा सुझाव है कि हम कानून का अर्थ स्पष्ट करने के लिए मुकदमा तैयार कर कोर्ट में न जायें। ऐसा नया कानून बनाने की कोशिश भी हम न करें कि मंदिर—सार्वजनिक हो या खानगी—जहाँ बहुत सी जनता या कोई बड़ा वर्ग दर्शन के लिए जा सकता है उस मंदिर में हरिजनों का प्रवेश होना ही चाहिए। हम इस से एक आसान रास्ता सुझाते हैं। सरकार निम्नलिखित योजना अमल में लावे—

१ सरकार सब मंदिरों के ट्रस्टियों से पूछे कि आप का मंदिर सार्वजनिक है या खानगी ? खानगी मंदिरों का एक रजिस्टर बना कर सरकार स्पष्ट करे कि इतने मंदिर आज से खानगी गिने जायेंगे।

२ इस के बाद सरकार स्पष्ट करे कि जो मंदिर खानगी हैं उन को Charitable Endowment Act जैसे कानूनों का लाभ नहीं मिलेगा। याने ट्रस्ट रजिस्टर बनाना होता है तब रजिस्ट्रेशन फी माफ होती है या कम ली जाती है इस का लाभ उन को नहीं मिलेगा। शहर नगरपालिका की तरफ से पानी का बिजली का अथवा ऐसी दूसरी सेवा का टैक्स अगर मंदिरों को कम देना पड़ता हो तो ऐसी सहूलियत भी बंद की जाय।

जब हम अस्पृश्यतामूलक भेदभाव मिटाने पर तुले हैं तब ईसाई, मुसलमान आदि समाजों में भी देखना चाहिए कि किस हद तक भेदभाव अब भी जारी है और उसे दूर करने की प्राणपण से कोशिश होनी चाहिए। समाजनेता और राष्ट्रीय सरकार दोनों संकल्प करें कि इस एक दोष को हम पाँच बरस के अंदर समूल दूर करेंगे।

(१९ मार्च १९६१)

साधु और समाज

साधु और समाज

किसी ने कहा कि हमारा साधु हमारे समाज का आदर्श पुरुष नहीं है। इस बात को सुन कर हमारे एक मित्र कुछ घबरा गये और उन्होंने मुझे लिख कर पूछा कि इस में मेरी राय क्या है।

यह जमाना अर्ध सत्य का है। लोग थोड़ा कुछ सोचते हैं, कुछ नतीजे पर आते हैं और अपने खयाल को ऐसे शब्दों में रखते हैं कि मानो वही परम सत्य है। अगर मैं जवाब दूँ कि हमारे साधु हमारे समाज के लिए आदर्श है भी और नहीं भी तो इस से क्या बोध होगा?

हिंदुस्तान में सब तरह के साधु हैं। जितने लोग साधु का वेश पहनते हैं। साधु की भाषा बोलते हैं साधु की गद्दी चलाते हैं, वे सब के सब साधु होते ही है ऐसा नहीं है। लेकिन सवाल यह नहीं है। सवाल यह है कि क्या समाज उस आदर्श को अपना सकता है जो साधुओं के लिए बताया गया है? अगर सारा समाज उन्हीं के ढंग पर चलेगा तो क्या समाज का हित होगा? थोड़ी मिसालों को हम सोचें।

मैं ने एक साधु देखा है जिस ने अपना दाहिना हाथ सूर्य भगवान् को सौंप दिया था। उस हाथ को वह हमेशा अपने सिर पर ही रखता था। सारा काम बायें हाथ से ही करता था। नतीजा यह हुआ कि उस का दाहिना हाथ करीब-करीब सूख गया था। अगर उसे हिलाने को चाहता तो भी हिला नहीं सकता। व्यक्ति को हमारी दुनिया साधु ही कहेगी। मैं उस उग्रमागुणा भक्त और प्रयोगवीर कहूँगा। प्रयोगवीर में परिणाम देखने की और जाँचने की शक्ति होनी चाहिए। वह उस में होती तो वह अपने प्रयोग को पूरा आजमाने के बाद छोड़ देता। बुद्ध भगवान सच्चे प्रयोगवीर थे। उन्होंने कई बातें आजमायीं और छोड़ दीं। रामकृष्ण परमहंस भी प्रयोगवीर थे। प्रयोजन पूरा होते ही वे अपने जीवन में परिवर्तन करते गये।

तितिक्षा—इंद्रियों द्वारा सब तरह की कठिनाइयाँ सहन करनी और अपनी

सब कमज़ोरियाँ हटाकर इंद्रियों पर विजय पाना—यह है साधुता का प्रथम लक्षण। मामूली आदमी में जो सहन शक्ति नहीं होती है वह साधुओं में पायी जाती है। लेकिन वही शक्ति उच्च समाज सेवकों में और शूरवीरों में पायी जाती है। जो लोग साधु का वेश ले कर बैठते हैं वे शायद तितिक्षा का अतिरेक करते हैं लेकिन उन के पास से समाज इतना तो सीख ही सकता है कि सादगी, संयम और परोपकार के बिना हम जीवन के आदर्श तक नहीं पहुँच सकते हैं। जो लोग औरों को बचाने के लिए अपनी जान खतरे में डालते हैं वे भी तो साधु पुरुष हैं। जो लोग समाज सेवा करते करते अपनी सारी ज़िन्दगी गला डालते हैं वे अगर साधु नहीं तो साधु है कौन?

अकसर साधुओं की तीन बातें सारा समाज ग्रहण नहीं कर सकता है। साधुओं को धन का लोभ नहीं होता है। उन की ज़िन्दगी बिलकुल सादी होती है। जीने के लिए उन्हें बहुत थोड़ी चीज़ें काफ़ी होती हैं। ऐसी हालत में साधु लोग अपनी रोज़ी कमाने में समय नहीं खरचते हैं। साधुओं के द्वारा समाज की सच्ची या मानी हुई इतनी सेवा होती है कि साधुओं को वह खिलाना पिलाना समाज के लिए बोझ रूप नहीं होता है। बेशक, सच्चे और अच्छे साधु की यह बात है। दूसरे साधु भी होते हैं जो झुकने वाली दुनिया को झुकाने में बड़े उस्ताद होते हैं।

साधु लोग समाज की सेवा कर के—नैतिक और सबोधी सेवा करके—थोड़ा कुछ दान लेते हैं और वे समाज के आश्रित माने जाते हैं। इधर डाक्टर भी समाज की भली-बुरी सेवा कर के मनमानी फीस लेते हैं वे आश्रित नहीं माने जाते हैं। वे तो स्वाश्रयी ही नहीं किन्तु कमाने वाले समाज के उद्धारक माने जाते हैं।

सच्चा साधु गाँव के लड़ने वाले दो भाइयों को बुला कर उन के बीच समझौता करा देता है और दिल सफ़ाई भी कर देता है। वकील और बॅरिस्टर अदालत में जा कर भाइयों के झगड़े में मदद करता है। समझौता नहीं लेकिन कोरे इंसाफ़ की बात वह सोचता है।

तो भी इतना तो कहना चाहिए कि साधु जिस तरह अपनी आजीविका के लिए समाज पर निर्भर रहता है वैसे मामूली लोग नहीं रह सकते। इस दरजे साधु समाज का आदर्श नहीं बन सकता।

मेहनत कर के अपनी रोज़ी कमाने वाले साधु कभी नहीं थे सो बात नहीं। कबीर जुलाहा था। गोरोबा कुम्हार था। रैदास चमार था। सदन कसाई था। ख्रिस्ती धर्म को व्यवस्थित रूप देने वाला सेंट पॉल तम्बू बना कर अपना पेट

भरता था। इतना ही नहीं किन्तु अपनी मेहनत से अपने हिजरती शिष्यों को भी खिलाता था।

हमारे देश में हमारे साधु समाज सेवा करने के लिए बाध्य नहीं थे। समाज भी उन से सेवा लेते सकोच करता है। लेकिन सच्चे साधु हमेशा किसी-न किसी प्रकार की समाज-सेवा करने में लगे ही रहते हैं। ऐसी हालत में अगर हम साधुओं के आदर्श में इतना सुधार करें तो काफी है कि साधु अपनी रोजी कमाने के लिए या समाज सेवा करने के लिए मेहनत-मजदूरी करें तो वह अच्छा ही है। जो साधु मेहनत मजदूरी कर सकते हैं उन्हें ऐसी मजदूरी से रोकना और दान पर ही जीने के लिए उन्हें ललचाना, पुण्य का काम नहीं है इतना अगर हमारे लोग समझ जायें तो हमारे साधु समाज के लिए आदर्श पुरुष बन सकते हैं।

हमारे देश में ही नहीं किन्तु दुनिया भर में हर धर्म के साधुओं में ब्रह्मचारी और गृहस्थी ऐसे दो भेद हैं। रोमन कैथालिक मंक और हमारे संन्यासी ब्रह्मचर्य का व्रत लेते हैं। कई समाज-सेवक धार्मिक प्रेरणा से नहीं किन्तु समाज-सेवा की उत्कटता के कारण अविवाहित रहते हैं। बड़े बड़े संशोधक और ज्ञानोपासक भी एकाग्रता बढ़ाने की दृष्टि से अविवाहित रहते हैं। सारा समाज इन का अनुकरण नहीं कर सकेगा। लेकिन इस लिए हम यह नहीं कह सकते हैं कि ब्रह्मचर्य का जीवन समाज के लिए आदर्श नहीं है। आदर्श तक हर आदमी नहीं पहुँच सकता है यह तो मानी हुई बात है। लेकिन क्या इस लिए हम कह सकते हैं कि सामान्य कोटि का जीवन आदर्श है?

कम से-कम हिन्दूधर्म ने तो आदर्श ब्रह्मचर्य और आदर्श गृहस्थाश्रम ऐसे दो आदर्श समाज के सामने रखे हैं और भारपूर्वक कहा है कि दोनों एक से श्रेष्ठ हैं। आदर्श गृहस्थाश्रमी भी समाज के लिए आदर्श पुरुष हो सकता है। और आदर्श ब्रह्मचारी भी।

महात्मा गांधीजी के मत के अनुसार अखिल मनुष्य जाति के लिए एकमात्र आदर्श ब्रह्मचर्य का ही है। मनुष्य जाति का जीवन मोक्ष के लिए है। पूर्ण निर्विकारिता के बिना मोक्ष प्राप्ति असम्भव है। इस लिए मनुष्य विवाहित हो या अविवाहित उसे पूर्ण निर्विकारिता के लिए ही कोशिश करनी चाहिए। आगे जा कर उन्होंने ऐसा भी कहा है कि केवल संतान उत्पत्ति के एकमात्र उद्देश्य से ही गृहस्थाश्रमी, धर्म के अनुसार सम्भोग करें तो उसे भी ब्रह्मचर्य ही समझना चाहिए। लेकिन मोक्ष के मान ही निर्विकारिता है। यही उन की भूमिका थी। उन की साधना भी वही थी।

समाज के आदर्श में और साधुओं के आदर्श में और भी एक फर्क है। साधु कहते हैं कि "भले ही हमारा जीवन एकांगी गिना जाये, किन्तु हम सिर्फ नैतिक उन्नति के प्रयत्न में ही दिलचस्पी रखेंगे। अपनी सारी शक्ति अपनी निजी व समाज की नैतिक व आध्यात्मिक उन्नति के लिए ही लगायेंगे। सांसारिक ज्ञान की खोज में और उस के विस्तार में हम अपना समय व्यतीत नहीं करेंगे। दवा दे कर रोग का निवारण करना हमारे में से चन्द लोगों की प्रवृत्ति बन गयी है। लेकिन सचमुच वह हमारे क्षेत्र के बाहर की चीज है।" संगीत, चित्रकला, कविता आदि कलाओं में कई साधुओं की दिलचस्पी होती है। धर्म व नीति के प्रचार में उन की बहुत कुछ मदद हो सकती है इसलिए साधु लोग कभी-कभी इन कलाओं का अनुशीलन भी करते हैं। लेकिन वह भी उन का क्षेत्र नहीं गिना जाता है।

सामाजिक आदर्श कहता है कि मनुष्य का विकास सर्वांगीण और प्रमाणबद्ध होना चाहिए। ऐसे अनेक साधु हो गये हैं जिन्होंने जीवन विकास के एक भी अंग की उपेक्षा नहीं की है। भविष्य में ऐसे साधु को ही सच्चे और सर्वश्रेष्ठ साधु कहा जायेगा।

साधु को चाहिए कि वह परलोक परायण हो बने, इस लोक के बारे में उस के मन में उपेक्षा ही रहनी चाहिए—यह था साधुओं का पुराना आदर्श। सब साधुओं ने इसे मान्य नहीं रखा था। आज भी इस बारे में दो मत हैं।

सारांश यह कि साधुओं के आदर्श अनेक हैं। सामाजिक जीवन के आदर्श भी अनेक हैं। आध्यात्मिक क्षेत्र में जो साधु नये नये प्रयोग करते हैं उन में कम या अधिक एकांगिता रहेगी ही। तो भी हम कह सकते हैं कि आदर्श सामाजिक पुरुष का चित्र और आदर्श साधु का चित्र दिन पर दिन एक दूसरे के नजदीक आ रहे हैं।

(दिसम्बर १९५०)

सार्वजनिक जीवन और साधु

स्वतन्त्रता, समता और बन्धुता ये मानव के लिए इस युग के महान् आदर्श हैं। इन तीनों में बन्धुता सर्वश्रेष्ठ है। बन्धुता अगर सिद्ध हो गयी तो स्वतन्त्रता और समता का द्रोह नहीं [illegible] सकेगा।

अब हम समता के बारे में सोचें। पश्चिम की, युरेप अमेरिका की गोरी जाति ने माना और दावा किया कि गोरो का वश ही श्रेष्ठ वश है। बाक़ी के वश उन से हीन होने के कारण उन के मातहत ही रहने चाहिए। उन्हाने सारी दुनिया में अपना राज्य और अपना आतक फैलाया। उन के मन मे कुछ भी हो, आज उन्होने अपना पुराना भाव छोड दिया है। सफेद, पीले, काले और गेहुँवे तथा लाल रग के सब वश शिक्षा-दीक्षा में कम-ज्यादा होते हुए भी तत्वत समान हैं और एक से न्याय के अधिकारी है यह बात आज दुनिया में सवमान्य हुई है।

एक जमाना था जब स्त्रियो को पुरुषों से गौण और हीन माना जाता था। स्त्रिया को राजनीतिक अधिकार नही मिलते थे। शिक्षा-सस्था में प्रवेश नहीं मिलता था। आध्यात्मिक क्षेत्र में भी उन्हें बिलकुल ही हीन या गौण मानते थे। अब स्थिति सुधर गयी है। स्त्री-पुरुष के अधिकार सम-समान हो गये है। जहाँ अधिकार समान नही है, वहाँ पर भी तत्वत उन की समानता का कोई विरोध नहीं करता।

धर्मों के बारे में तो हरएक धम ने अपनी श्रेष्ठता का दावा जोर शोर से चलाया, इतना ही नही, हरएक धम दुनिया के सामने घोषित करता आया है कि 'पूण सत्य मेरे ही पास है। लोकोद्धार की शक्ति सिफ़ मुझ ही में है। बाक़ी के धम असत्य से भरे हुए और भ्रान्त हैं।'

धर्मों की यह अहमहमिका होड अभी तक चालू ही है। लेकिन अब वे मानने लगे हैं कि धर्मों के आपस के झगडो से लाभ उठा कर अधम आगे बढ रहा है और सब के सब धम दिन पर दिन क्षीण हो रहे हैं। इस लिए धम अब सोचने लगे है कि बेहतर तो यह होगा कि अपनी-अपनी श्रेष्ठता का बाजा बजाना छोड कर और परस्पर ईर्ष्या को भूल कर सहयोग का वातावरण पैदा करना चाहिए। सब धम मिलकर अधम के खिलाफ मोर्चा बाँधें यही आत्मरक्षा का उपाय है।

हमारे देश में हम लोगों ने चार वण की समाज-व्यवस्था चलायी। तीन वण मिल कर अपने को द्विज कहलाने लगे और शूद्रों को सब से निचला स्थान दे कर उन्हें सब अधिकारो से वचित किया। आगे जा कर तीन वर्णों में भी उच्च-नीच भाव घुस गया। इस का दुर्दैवी इतिहास यहाँ दोहराने की जरूरत नहीं। अब जनतायुग स्थापित होने के कारण और चुनाव म सख्याबल का महत्त्व बढने के कारण चार वण समान हो गये है। ज्ञानबल तपोबल, शरीरबल शौर्य और द्रव्यबल इन सब बातो में भिन्नता होने पर भी सब वण एक समान भूमिका पर आ गये हैं। सब की मानवता एक है सब के अधिकार एक हैं।

सभी को हर तरह की शिक्षा और उन्नति के हर तरह के मौके तब से प्राप्त होने चाहिए, इस को स्वीकृति मिल चुकी है। अस्पृश्यता निवारण के प्रचण्ड आन्दोलन के कारण भी व्यक्ति मात्र की समानता सिद्ध हो चुकी।

हमारे यहाँ की जाति-व्यवस्था ऊँच-नीच भेद की बुनियाद को मान्य रखती आयी है। लोगों में वर्णभेद से भी अधिक आग्रह रहा है जातिभेद का। और जातिभेद एक ऐसी सामाजिक सीढ़ी है, जहाँ पर चढ़ना उतरना करीब-करीब असम्भव सा है। लेकिन यहाँ पर भी मानवता-युग ने अपना असर डाला ही है। अब सब जातियाँ तत्त्वतः एक ही दर्जे की हो गयी हैं। वर्णों की और जातियों की समानता महाभारतकालीन ऋषि मुनियों ने भी भक्ति की बुनियाद पर स्वीकृत की थी। भारतीय संस्कृति के लिए जितना उच्च-नीच भाव स्वाभाविक है उतना ही स्वाभाविक है सब का समानभाव।

अब रहा चार आश्रमों का सवाल। ब्रह्मचारियों का आश्रम तो करीब खतम हुआ है। वानप्रस्थ भी अब कम पाये जाते हैं। बाकी रहे गृहस्थी और साधु। इन साधुओं में संन्यासी, भिक्षु सन्त, महन्त, महात्मा बाबा, बैरागी, गद्दीपति और आध्यात्मिक गुरु सब आ जाते हैं। समाज इन को अपने से श्रेष्ठ मानता है क्योंकि ये लोग अक्सर शादी नहीं करते, धन नहीं कमाते धर्म का अध्ययन कर के उस का पालन करने की कोशिश करते हैं। लोगों को उपदेश करने का ठेका उन्हीं का होता है। ऐसे लोगों को समाज आदर की निगाह से देखे यह स्वाभाविक है। लेकिन जब ये लोग स्वयं समाज में अपनी श्रेष्ठता ले कर घूमते हैं, अपना विशेष अधिकार चलाने का आग्रह रखते हैं और अन्दर अन्दर ईर्ष्या असूया से जलते रहते हैं तब उन का उच्चता का दावा हास्यास्पद होता है। हरएक के नाम के सामने श्री कितनी बार लिखा जाय यह भी उन के मन महत्त्व की बात होती है। कोई होता है श्री १०८ तो कोई होता है श्री १००८। राजा महाराजा, राजाधिराज ऐसी श्रेणी जैसी पायी जाती है अथवा उपाध्याय महोपाध्याय, महामहोपाध्याय और आचार्य की तरह विद्वानों में श्रेणी होती है वैसी ही साधुओं में पायी जाती है। ऐसे भेद के कारण झगड़े और खून तक हुए हैं। ब्रह्मर्षि क्षत्रियर्षि का भेद ले कर वसिष्ठ विश्वामित्र के बीच जो बड़ा झगड़ा हुआ था सो तो सब जानते हैं। भगवान् बुद्ध और भगवान महावीर स्वामी के दिनों में भी श्रेष्ठता का यह झगड़ा काफी पाया जाता है।

अब वे दिन आ गये हैं जब गृहस्थी और संन्यासी दोनों में समानता स्वीकार की जाये। विलायत में House of Lords में शिकार और विलास

के शौकीन सरदार लोग और धर्माचार्य बिशप आदि धर्ममार्तण्ड एक सदन में बैठते हैं और अपने को House of Commons से ऊँचा मानते हैं। लेकिन यह भेद भी अब कृत्रिम-सा हो गया है। हमारे यहाँ वर्णभेद तो बहुत-सा मिट गया है। जब कोई ब्राह्मण वैश्य के घर पर रसोई बनाने का काम करता है, तब उसे घर के लोग महाराज भी कहते हैं और नाराज होने पर गालियाँ भी देते हैं। अन्नक्षेत्र में भिक्षा पाने वाले संन्यासियों को नारायण कहने का रिवाज है। जब वे खाते हैं तब कहा जाता है कि स्वामीजी समाधि में पड़े हैं। लेकिन अन्नक्षेत्र के कर्मचारी ऐसी आदर की भाषा बोलते हुए भी अपना यथार्थ भाव प्रकट कर ही देते हैं।

व्यक्ति की श्रेष्ठता उस के चारित्र्य के कारण या प्रभाव के कारण स्वीकृत होती है, लेकिन कोई आदमी साधु दल का सदस्य है, इस लिए उस की महत्ता मानने के दिन अब नहीं रहे। जब साधु साधु है इस वास्ते ऊँचे मंच पर बिठाये जाते हैं और लोग उन्हें देख कर साधुओं के रेवड़ का जिक्र करते हैं तब स्पष्ट होता है कि यह आदरभाव बिलकुल कृत्रिम है। कम से कम साधुओं को तो इस का आग्रह नहीं रखना चाहिए।

और जब साधु लोग उच्चासन का आग्रह रखते हैं और अन्दर अन्दर तर-तम भाव से दरबारी भेद की अपेक्षा रखते हैं तब तो वह सारा प्रकार काल ग्रस्त होने से हास्यास्पद बनता है। पुरानी संस्कृति में से आदर के साथ संग्रह करने लायक़ दूसरी बहुत-सी चीजें हैं। ईर्ष्याजनक उच्च-नीच भाव को तो तिलांजलि ही देनी चाहिए।

इस धर्मविमुख कलिकाल में अपनी प्रतिष्ठा की और उच्च धार्मिकता की क़दर नहीं होती है, ऐसा देख कर कई साधुओं ने सार्वजनिक सभा-सम्मेलनों का त्याग ही किया था। कौन किसे पहले अभिवादन करे इस का निर्णय आसान नहीं होने के कारण कई संन्यासी और शंकराचार्य एक दूसरे से मिलते भी नहीं थे। लेकिन अब उन्होंने देख लिया है कि इस तरह स्वेच्छाबहिष्कृत होने से कुछ लाभ नहीं और समाज अपने रास्ते जाता ही है, तब साधु-संन्यासी, संत महंत, एक-दूसरे से मिलने लगे हैं, सहयोग की बात सोचने लगे हैं और संगठित भी होने लगे हैं। गृहस्थाश्रमी समाज नेताओं के साथ वे समान भाव से पेश आने लगे हैं और पार्लियामेंट के सदस्य भी होने लगे हैं। उन्होंने उच्च-नीच भाव बहुत कुछ छोड़ दिया है और मानवता के हिसाब से समानतामूलक प्रचलित शिष्टाचार का स्वीकार करने लगे हैं। यह सब अभिनन्दनीय है। जो लोग इस बदले हुए ज़माने को अभी तक समझ नहीं पाये हैं, उन को सँभाल लेना समाज

का कर्तव्य है। सार्वजनिक जीवन में हिस्सा लेने के लिए उन्हें प्रोत्साहन देना और उन के विफल जीवन को सफल बनाने में सहायभूत होना समाज का कर्तव्य है।

(२९ नवम्बर १९५७)

विकास की दिशा

साधु लोग संगठित होने लगे हैं, धर्म चर्चा और धर्मोपदेश के साथ कुछ सेवा का काय भी करेंगे, यह तो अच्छा है ही, लेकिन सब से बड़ा लाभ इस में यह है कि साधु लोग जो आज तक एक-दूसरे से अलग रहते थे एक-दूसरे से परिचय बढ़ायेंगे, सहयोग के लिए तयार होंगे, मतभेद को बर्दाश्त करने लगेंगे और शास्त्रार्थ के वायु मण्डल से ऊपर उठ कर उच्च भूमिका पर समन्वय करेंगे।

अहिंसा के उपासक अब संघटित होने लगे हैं, अहिंसा शोधपीठ अथवा विश्वधर्म संघ नाम से कुछ प्रवृत्ति करेंगे, इस से भी बड़ा लाभ होगा। आज तक शास्त्र वचन की चर्चा चलती थी। प्राणिहत्या टाल कर व्यक्तिगत जीवन निष्पाप बनानेकी अभिलाषा थी। साधु लोग अहिंसा का पालन कहाँ तक करें गृहस्थाश्रमी धर्मपरायण लोग किन नियमों का पालन कर संतोष करें इसी का बोल बाला था। अब समाजशास्त्र में अध्यात्म का वायुमण्डल ला कर उसे ध्येय परायण और सजीव करना पड़ेगा और ऐसे नवजीवन प्राप्त समाजशास्त्र की प्रेरणा से अहिंसा को सामाजिक जीवन में विकसित करना होगा। मनुष्य मनुष्य के बीच वर्ग-वर्ग के बीच और वंश-वंश के बीच जो ईर्ष्या, द्वेष और संघर्ष अनहद बढ़ रहा है उस से दुनिया के छोटे-बड़े सब राष्ट्र व्यथित और चिंताकुल हुए हैं। उन्हें रास्ता दिखाने का काम केवल राजनीति का नहीं है, अर्थशास्त्र का भी नहीं है। वह श्रेष्ठ काम तो समाजशास्त्र ही कर सकता है और समाजशास्त्र में यह शक्ति तभी आयेगी जब वह विश्वकल्याणकारी अध्यात्मदृष्टि से पुनीत होगा।

जब हमारे साधु पण्डित और आचार्य समाजशास्त्र का गहरा अध्ययन करेंगे और उस पर अपनी अध्यात्म-परम्परा का प्रकाश डालेंगे, तब उन में यह शक्ति आयगी। जब वे इस तरह नये क्षेत्र में पदार्पण करेंगे और एक ओर शिष्यभाव से इतिहास, लोकजीवन और समाजशास्त्र का अध्ययन करेंगे और

दूसरी ओर धर्मशास्त्र की संकुचित कालग्रस्त रूढियों से मुक्त होंगे, तभी वह संशोधन को दिशा समय सकेंगे।

और जब यह पूर्व तयारी होगी, तब भारतीय प्रतिभा के बल पर वे दुनिया को नया रास्ता दिखा सकेंगे।

इस काम के लिए पुराने ढंग के प्रगाढ़ पाण्डित्य की आवश्यकता कम है। बुनियाद में जा कर तत्त्व को पकड़ने की पैनी दृष्टि की आवश्यकता अधिक है। लोकसेवा के जो अनेक प्रयोग इतिहासकाल में हो चुके और आज भी देश विदेश में हो रहे हैं उन का अध्ययन किये बिना लोकहित का दृष्टि पूरी तरह से प्राप्त नहीं होगी।

इस काम के लिए केवल धर्मशास्त्र और दर्शनशास्त्र का बारह बरस का अध्ययन पर्याप्त नहीं है। तार्किक बुद्धि यहाँ पूर्णरूप से मदद नहीं दे सकेगी। मानसशास्त्र का गहरा अध्ययन इस में चाहिए। इतिहास के अध्ययन से बड़े-बड़े समाजों के जीवन परिवर्तन का खयाल नजर के सामने होना चाहिए। आधुनिक विज्ञान ने क्या-क्या शक्तियाँ मनुष्य के हाथ में रख दी हैं, इस का भी कुछ खयाल संशोधक को होना चाहिए। इतनी तैयारी के बाद ही, आध्यात्मिक आदर्श अपने तार्किक दार्शनिक कारावास से मुक्त होंगे और समाज हित की सेवा में प्रस्तुत होंगे।

इस में भी अनेक प्रस्थान हैं, अनेक पन्थ हैं, अनेक दृष्टियाँ हैं। उन का भी परिचय होना जरूरी है ताकि गलत रास्ते ले जाने वाली विचारधाराएँ संशोधक पहचान सके और उन्हें टाल सके। बुनियाद बहुत गहरी, बहुत ही व्यापक और मजबूत होने पर ही संशोधन की शक्ति प्रकट होगी और रास्ता दिखने पर लोगों को समझा कर उन के दिल में अनुकूलता पैदा करने की शक्ति और शैली संशोधक में और सेवक में आ जायेगी।

सुनता हूँ कि साधु संगठन के बाद अब योगियों का संगठन भी होने वाला है। यह भी इष्ट है। योगविद्या की परम्परा बहुत पुरानी है। उस की फलश्रुति बड़ी ही लुभावनी है। हर जगह आज भी ऐसे लोग पाये जाते हैं जिन्होंने इस विद्या में कमोबेश प्रत्यक्ष प्रयोग कर के कुछ अनुभव पाया है और कुछ उपयोगी या चमत्कृतिजनक शक्ति भी हासिल की है। लेकिन इस क्षेत्र में अनुभव बहुत कच्चा है। जितना दावा किया जाता है उस की पूरी-पूरी कसौटी हो नहीं पायी है। जो विशेष जानते हैं उन की गूढ़भाषा से पूरा बोध नहीं होता। और इन सब कारणों के लिए लोग असमंजस में पड़ जाते हैं। क्या सचमुच यह कोई उपयोगी विद्या है या सिर्फ ढकोसला ही है? यहाँ पर भी शरीरशास्त्र,

छली थी। वह बोल्न अपना स्वधर्म क्यों छोड़े? कई बार वह भाग गयी और उतनी ही बार ओल्स्टन कॉट निशानुबर उसे वापस ले आया। वेश्याधर्म और निशाधर्म के द्वन्द या समाजे में वह हारने को तैयार नहीं था।

हिन्द की सेवा करने वाले साधु लोग, भगवान् की प्रेरणा से पतितों का उद्धार करने वाले साधु लोग वेश्याओं को अपनी बहनें या अपनी लड़कियाँ समझ कर उन के उद्धार का काम अपने हाथ में ले सकते हैं। अपने ढंग से वे कोई रास्ता भी निकाल सकते हैं। इस काम में पतन का जो खतरा है उसे उठा कर भी यह पवित्र सेवा करने का संकल्प कर सकते हैं लेकिन हमारे उतावले सस्ते समाजशास्त्रियों के ढंग से नहीं।

(१ दिसम्बर १९११)



अवतारवाद

हम फिर से सोचें, हमारा अंतिम आदर्श कौन-सा ?

अवतारवाद हिन्दू संस्कृति का एक प्रधान अंग है। बौद्धों ने कल्पना की कि कोई मामूली जीव प्रयत्नपूर्वक उन्नतिकारी सद्गुणों में पारमिता प्राप्त करते-करते बोधिसत्व होता है और बोधिसत्व अपनी साधना चलाते चलाते जब सब तरह की पारमिताओं में प्रतिष्ठित हो जाता है, तब वह अर्हत अथवा बुद्ध बनता है। बुद्धों में भी चन्द तो अपने ही लिए बुद्ध बनते हैं जिन्हें प्रत्येक बुद्ध कहते हैं। ऐसे बुद्ध जब विश्व का उद्धार करने योग्य बनते हैं, तब वे तथागत बनते हैं सम्यग सम्बुद्ध बनते हैं।

जीव-दशा में प्रगति करते-करते जीव बुद्धत्व प्राप्त करता है।

अवतार की कल्पना इस से भिन्न है।

स्वयं परमात्मा मानवजाति के कल्याण के लिए जीव का रूप धारण कर के नीचे उतर आता है। उतर आने को ही अवतार कहते हैं। परमात्मा जीव का रूप ले कर मनुष्यों के बीच काम करता है और अपना अवतार कार्य पूरा होने पर वापस चला जाता है। बोधिसत्व में विकासवाद—Evolution की कल्पना है। अवतार की कल्पना में वह नहीं है।

शिव विष्णु देवी गुरु आदि सब देव दवियों के अवतार होते हैं। पुराणों में कहीं-कहीं विष्णु के चौबीस अवतार बताये हुए हैं। लेकिन पता नहीं क्या विष्णु के दस अवतार ही लोकप्रिय हुए। शिवजी के अवतार इतने लोकप्रिय नहीं हुए हैं। देवी के अवतारों का हिसाब हमारे पास नहीं है। गुरु के अवतार आज भी होते होंगे।

इस वक्त हम बुद्ध भगवान का चिन्तन कर रहे हैं। बौद्ध कल्पना के अनुसार सुमेध अथवा ऐसा ही कोई जीव प्रयत्न करते करते गौतम बुद्ध की स्थिति तक पहुँच गया। उस ने जगत उद्धार का रास्ता बताया। निर्वाण प्राप्त गौतम बुद्ध को फिर से जन्म नहीं लेना है। हम हिन्दुओं ने गौतम बुद्ध को अपनाया और उसे

विष्णु का प्रथम अवतार बताया। इस तरह बौद्ध और सनातनी दोनों के लिए बुद्ध भगवान् एक-से पूजार्ह बन गये।

भारत में समन्वय का जो पुरुषार्थ हम करना चाहते हैं, उस के लिए बुद्ध की यह उभयमान्यता स्थिति सब तरह से लाभदायी है।

विष्णु के दस अवतारों का जब चिंतन करता हूँ तब अनेक विचार मन में आते हैं। मत्स्य, कूर्म, वराह और नृसिंह—ये चार अवतार विकासवाद—Evolution के सूचक हैं।

विकासवाद कहता है कि पृथ्वी का गोला जब कुछ ठंडा हुआ तब पहले समुद्र बने। जीवसृष्टि का प्रारम्भ भी पानी में ही हुआ। आज हम पानी को जीवन कहते हैं यह सब तरह से उपपन्न ही है। पानी में जलचरों की जीवसृष्टि पैदा हुई, इसलिए हमारा प्रथम अवतार मत्स्य है। बाद में पानी के जीव पानी में रहते हुए जमीन पर भी आने लगे। हवा में साँस लेना उन के लिए जरूरी हो गया। जलचर और भूचर अवस्था का प्रतिनिधि है कछुआ। इसलिए हमारा दूसरा अवतार हुआ कच्छप—कूर्म।

पानी छोड़ जमीन पर कायमी वास्तव्य करने वाले पशुओं में उत्पन्न हुआ हमारा तीसरा अवतार वराह जो अपने दन्तशूल [redacted] पृथ्वी को ऊपर उठा सकता है। दन्तशूल मानो उस का हल ही है। सब से पहला हलधर वराह ही था।

अब पशुओं में अगर मनुष्य पैदा हुआ है तो आधा श्रेष्ठ पशु और आधा मनुष्य, ऐसा एक अवतार चाहिए ही। वह हो गया नृसिंह।

हमारे पौराणिक देव-देवियों के मण्डल में अथवा परिवार में हनुमान् है गरुड है, लेकिन किसी पक्षी को हम ने भगवान् का अवतार नहीं बनाया उस का वाहन बनाया। इस का कारण क्या होगा? पशुओं में मनुष्य श्रेष्ठ पशु है। लेकिन मनुष्य आसमान में उड नहीं सकता। मुर्गा बतख और मोर से ले कर गरुड तक सब खेचर आसमान में कमोवेश उड सकते हैं। कुदरत ने मनुष्य को यह शक्ति नहीं दी इसलिए क्या हम लोगों ने पक्षियों में से किसी को अवतार नहीं बनाया?

वामन, परशुराम राम और कृष्ण, ये सब मानव रूपधारी हैं और मानवी शक्तियों का उत्कर्ष बताते हैं। इन में बटु वामन की पूरी जीवनकथा हमारे पास नहीं है। वामन का रूप धारण कर के भगवान् विष्णु ने त्रिविक्रम किया। विष्णुस्त्रेधा विचक्रमे। वामन अवतार का यह एक ही कार्य पुराणों में पाया जाता है।

नृसिंह वामन, परशुराम, राम और कृष्ण ये पांच अवतार साधुओं का रक्षण करने के लिए और दुराचारियों का दमन करने के लिए हुए थे। मनुष्य समझ सके और उस से लाभ उठा सके ऐसे थे उन के जीवनकार्य अथवा अवतारकार्य।

राम और कृष्ण दोनों गृहस्थाश्रमी थे। दोनों की जीवनकथा में संन्यास का कोई स्थान नहीं है। वसिष्ठ और विश्वामित्र स्त्रीसंग से परे नहीं थे। वाल्मीकि के आश्रम में लड़के और लड़कियाँ साथ रहते थे और साथ पढ़ते भी थे। राजा जनक तो संन्यासी भी जिन से सबक सीख सकें ऐसे, आदर्श गृहस्थाश्रमी थे।

रामावतार पर कुछ विशेष विचार करें। राम ने स्वयं गुह के साथ दोस्ती की, शबरी की भक्ति की कदर करते हुए उस के चखे हुए जूठे बेर भी खाये। जटायु सुग्रीव, हनुमान् नल, नील, जाम्बवान आदि आदिवासियों के साथ आदर का व्यवहार रखा। समानभाव से उन से व्यवहार किया। सुग्रीव के साथ की दोस्ती निभाने के लिए उस के भाई वाली के साथ ऐसा व्यवहार किया जिस का बचाव करते रामभक्त थक जाते हैं। राम के मन में आर्य-अनार्य का भेद नहीं था। वनवास के दिनों में उन्होंने सब वन्यजातियों का जीवन व्यवहार सहानुभूति पूर्वक देखा था।

तो भी राम ठहरे मर्यादा-पुरुषोत्तम। उन्होंने जिस मर्यादा का पालन किया, वह उन की हृदय की बतायी हुई आत्म मर्यादा नहीं थी, किन्तु आर्य वर्ग ने संकुचित भाव से जो अपनी श्रेष्ठता मान ली थी, उस की मर्यादा थी वह। ऐसी मर्यादा की आज्ञा पालन करते हुए उन्होंने निरपराध, तापसी शम्बूक का वध किया गुरु के कहने से एक स्त्री की हत्या की और समाज की मर्यादा की रक्षा के लिए उन्होंने अपनी ऐसी स्त्री का त्याग किया जिस की पवित्रता से बड़े-बड़े तीर्थ भी अपने को पावन बनाते थे। उस समय का समाज भले प्रसन्न हो कर रामचन्द्रजी को पुरुषोत्तम कहे। पुरुषोत्तम तो बुद्ध और कृष्ण भगवान् थे जिन्होंने उत्तमता का खयाल और आदर्श समाज से नहीं किन्तु अपने आत्म हृदय से लिया। धर्माचरण का अंतिम प्रमाण है 'आत्मनस् तुष्टिरेव'। यह वे जानते थे।

मेरे मन में अवतार-परम्परा में बुद्ध को कहां रखें इस का निश्चय नहीं होता है। विष्णु का अवतार सृष्टि के पालन के लिए है, समाज-व्यवस्था सम्भालने के लिए है। और बुद्ध भगवान तो भिक्षुओं के संघ बना कर उन्हें निर्वाण का रास्ता बताने वाले हैं। संसार का नाश कर के मोक्ष का रास्ता दिखलाने वाले तो शिवजी हैं। तब हम बुद्ध को शिवजी का ही अवतार क्यों न मानें?

राजा भर्तृहरि शिव उपासक था। ऐसा भी माना जाता है कि वह बौद्ध भी

बिगाड़ा, सो कल्कि सुधार देगा। सृष्टि की घटमाल चलती रहती है। संसार और निर्वाण, जन्म और मृत्यु, पाप और पुण्य, सज्जनता और दुर्जनता, सत्ययुग और कलियुग सब कुछ इस दुनिया में रहेगा, रहना चाहिए। कायमी सुधार और अन्तिम निष्पाप पवित्रता कभी आने वाली नहीं, होने वाली नहीं। ऐसे शिथिल श्रद्धावादी लोगों ने ही पौराणिक संस्कृति के चित्र बनाये दीख पड़ते हैं। ऐसा नहीं होता तो, बुद्धावतार को भ्रमोत्पादक नहीं कहा जाता और बुद्ध के बाद कल्कि की अपेक्षा नहीं की जाती।

(१६ जून १९६१)

पुराने और नये अवतार

घर के बरतन काम में लाने से अथवा यूँही रखने से गन्दे हो जाते हैं। उन पर जंग भी चढ़ता है। इस लिए समय-समय पर बरतनों को माँजना पड़ता है। कभी सिर्फ पानी से धोते हैं, कभी मिट्टी या राख [redacted] साफ करते हैं। इतने से काम न चला तो इमली, नीबू आदि खटाई से जंग उतारते हैं और इतने से भी बरतन साफ न हुआ तो उसे तेजाब से साफ़ करते हैं। बरतन कैसे भी हों, समय समय पर उन्हें साफ करना ही पड़ता है।

बरतन की बात ही क्या? हमारा शरीर भी रोज रोज गन्दा होता है। चमड़ी के छेद पसीने से और मिट्टी से बन्द हो जाते हैं। शरीर की उपेक्षा की तो शरीर से दुर्गन्ध ही निकलती है। इस लिए स्नान कर के शरीर को साफ़ करना ही पड़ता है। गन्दा होना शरीर का स्वभावधर्म है जिसे प्रकृति भी कहते हैं। और गन्दे शरीर को स्नान के द्वारा साफ़ करना आत्मधर्म अथवा संस्कृति है। स्वभावधर्म याने प्रकृति और आत्मधर्म याने संस्कृति। दोनों मिल कर जीवनधर्म बनता है। प्रकृति की उपेक्षा की तो उस में से विकृति पैदा होती है। फिर तो बड़े प्रयत्न से विकृति को दूर कर के संस्कृति की ओर जाना पड़ता है।

समाज शरीर का भी ऐसा ही है। लोगों की जड़ता के कारण, आलस्य, उपेक्षा और अधोगामी प्रवृत्ति के कारण जब समाज में दोष आते हैं, सदाचार शिथिल होता है तब संस्कृति धुरीणों को और ऋषि मुनियों को समाज-शुद्धि के लिए मेहनत करनी पड़ती है। समय-समय पर नहाना जिस तरह मनुष्य शरीर

के लिए जरूरी ह, आत्मशुद्धि के लिए प्रयत्न करना समाज के लिए भी जरूरी होता ह।

मामूली नहाने के लिए पानी पर्याप्त है। चमडी के छेद अथवा रध्र साफ़ करने के लिए शरीर मलना जरूरी ह। ठंडे पानी से जब पूरी सफाई नही होती तब गरम पानी हम उपयोग में लाते हैं। इस के आगे जा कर तेल की मालिश कर के साबुन लगा कर गरम पानी से नहाते हैं। शरीर की चमडी मुलायम बनाने के लिए बेसन भी काम में लाते हैं।

इसी तरह समाजशुद्धि और समाज की उन्नति के लिए समाजसेवक, धम प्रचारक, सन्त महन्तो की सेवा काम में लानी पडती ह।

किन्तु जब मनुष्य के आदर्शों में ही सुधार करने की आवश्यकता होती ह, महान अन्यायो का इलाज करना पडता ह और युग-परिवर्तन का दिन आता ह तब जिन पवित्र, तेजस्वी मनीषियो के ऊपर समाज का नेतृत्व करने का भार आता ह उन की तरफ समाज विशेष आदर और श्रद्धा की नजर से देखता ह। उन के कार्य की और उन की दृष्टि की कमियाँ भी समाज बरदाश्त करता है और उन का कार्यकाल समाप्त होने के बाद उन को अवतार का इलकाब भी देता है। महात्मा गाधी ने अनासक्ति योग (गीता) की प्रस्तावना में लिखा है—'अवतार से तात्पय ह शरीरधारी विशेष पुरुष। जीवमात्र ईश्वर का अवतार ह, परन्तु लौकिक भाषा में सब को हम अवतार नही कहते। जो पुरुष अपने युग में सब से श्रेष्ठ धर्मवान् ह उसी को भावी प्रजा अवतार रूप से पूजती ह। जिस में धम जागृति अपने युग में सब से अधिक है वह विशेषावतार ह।"

भागवत में भी लिखा ह, 'हे नाथियो जसे अगाध सरोवर से हजारों छोटे छोटे स्रोत निकलते हैं वसे ही सत्त्वनिधि भगवान् के असख्य अवतार हुआ करते ह। ऋषि, मनु देवता, प्रजापति, मनुपुत्र और जितने भी महान् शक्तिशाली व्यक्ति हैं व सब के सब भगवान् के ही अश ह। (भागवत १ ३ २६ २७)

भगवान् की अवतार ग्रहणशक्ति की मर्यादा नहीं ह। अवतार हर जमाने में हर देशों में, हर तरह क धर्मामें होते आये ह और होत रहेंगे। भगवान् का ही वचन ह कि 'मेर एश्व विस्तार का अन्त नही ह। न अस्ति अन्तो विस्तरस्य मे।

यह मानना कि हमारे हिन्दू धम में ही अवतार होते ह, और धर्मो में हो नहीं सकते अवतार की कल्पना को बिल्कुल सकुचित करना ह। कुरान-शरीफ़ में साफ़-साफ़ कहा ह कि ऐसा एक भी देश नहीं और ऐसा एक भी जमाना

नहीं, जिस में लोगो को आगाह और खबरदार करने के लिए हम ने अपने नबी नही भेजे हैं।

कहते हैं कि ईसाई धम में भी ऐसे ही विचार को स्थान है।

हमारे हिंदू धम को हम सनातन धम कहते हैं। हिंदू नाम तो सिंधु नदी पर से आया है और यह नाम हमारे लोगो के लिए और हमारे धम के लिए विदेशी लोगों के द्वारा दिया हुआ ह। हमारे धम का अपना निजी नाम है—धम अथवा सनातन धम।

लेकिन सनातनधम, एक विशाल, व्यापक, जागतिक धम ह। आय धम, बौद्ध धम, जैन और सिख धम, शाक्त और वैष्णव धम ये सब सनातन धम की ही शाखाएँ ह। इतना ही नही इसलाम, यहूदी धम और ईसाई धम भी हिंदू धम जसो सनातन धम की शाखाए हैं। ईसाइयो का ख्रिस्ती धम और सिख धम सचमुच ही एक ही शाखा ह। यह कसे, इस पर हम जरा विचार करेंगे।

ईश्वर के नाम रूप अनन्त ह। दुनिया के लोगों ने जितने भी देव-देविया को माना ह, सब भगवान के ही अलग अलग रूप ह। देव-देवियों की सख्या चाहे जितनी हो, आखिरकार वे एक ही अद्वितीय भगवान् के रूप ही ह। असली भगवान् से अलग कोई भगवान नही ह।

हमारे यहा जो अनेकानेक देव देवियो की सख्या पायी जाती ह उस में कुछ व्यवस्था लाने के लिए हिंदू धम ने पाँच देव मुख्य माने। जितने भी देव देवियाँ हैं, इन पाच के ही अवतार है। अपने जिस किसी देव की पूजा करनी ह उसे केंद्र में रख कर बाकी के चार बगल में रख कर पाचो की एक साथ पूजा होनी चाहिए। इसे कहते ह पचायतन पूजा'।

पचायतन पूजा के द्वारा सब देवा का समन्वय हो गया। भगवान् की एकता समझ में आयी और कम से कम बड पाँच महान् पथ एकत्र आ गये। सामाजिक और सास्कृतिक एकता दृढ करने का काम सब से प्रथम पचायतन पूजा के द्वारा ही सिद्ध हुआ।

अब इन पाँच के पचायतन में भगवान् का एक छठा रूप दाखिल करना जरूरी हुआ। वह है 'ज्ञानदाता, मोक्षमाग बताने वाला गुरु'। इस तरह से पचायतन की जगह हमारे धम में षडायतन पूजा होनी चाहिए।

गुरु के द्वारा भगवान् को पहचानना और गुरु को ही भगवान् कहना यह भी सनातन धम की ही एक साधना है। इस तरह भगवान् जरथुस्त्र को मानने वाले पारसी नानक आदि दस गुरुओं को मानने वाले सिख और भगवान् ईसा

को मानने वाले सिक्खों छठे गुरु-आयतन के हैं। बौद्ध और जैन भी इसी के अन्दर आ सकते हैं।

जिस तरह हम कपिल महामुनि, नारायण, बुद्ध भगवान् को अवतार मानते हैं, उसी तरह भगवान् ईसा को भी हम ईश्वर का अवतार मान सकते हैं। हम इतना ही कहते हैं कि आदर बताना है तो सब भक्तों के परिवार की ओर इज्जत की निगाह से देखना चाहिए।

भागवत में जो बाईस अवतार बताये हैं उन में श्रीकृष्ण को अलग बताया है। बाकी मानव अवतारों में कपिल नारायण, परशुराम, बलराम, बुद्ध ये नाम प्राय: ध्यान खींचते हैं। ये सब ऐतिहासिक पुरुष माने जाते हैं। तब जरथुस्त्र, हजरत मूसा, इब्राहीम, गुरु नानक, ईसामसीह, रामानुजम, बसवेश्वर, महावीर आदि को भी हम अवतार क्यों न कहें? सनातनी मानस इस में आपत्ति नहीं उठायेगा। इन सभों ने जो धर्म या पन्थ चलाये वे सब सनातन धर्म की ही शाखाएँ हैं। जिस को जो पन्थ पसन्द आये उस की साधना करेगा और चलायेगा, लेकिन सब के प्रति आदर और पूज्यभाव रखेगा ही।

ऊपर की सूची में हम मुहम्मद पैगम्बर को भी रखना पसन्द करेंगे। लेकिन हमारे पुराने दोस्त मुहम्मदअली ने आपत्ति उठा कर कहा कि, "आप लोग अवतारी पुरुषों को ईश्वर कहते हैं हम किसी भी आदमी को ईश्वर के साथ शरीक नहीं करते। मुहम्मद पैगम्बर आदमी थे उन को भगवान् कहना हमें मंजूर नहीं है।" मैं ने उन से दलील करते कहा "आदम को खुदा मत कहो आदम खुदा नहीं लेकिन खुदा के नूर से आदम जुदा नहीं।" [redacted] भी उन्हें सन्तोष नहीं हुआ। अन्त में मैं ने चर्चा खतम करते उन्हें कहा कि, 'आप ने मुहम्मद पैगम्बर का ठेका लिया है वह मंजूर किये बिना चारा नहीं। इस लिए आप की मुखालिफत मैं नहीं करूँगा।'

हिन्दू धर्म की दृष्टि से सब नाम ईश्वर के ही हैं। हम सब ऋषिमुनि, अवतार, नबी, प्रोफेट आदि को मानते हैं। सब धर्म ग्रन्थों को पवित्र वाणी गिनते हैं, और सब धर्मों को इज्जत की निगाह से देखते हैं। हम जानते हैं कि मनुष्य अपनी योग्यता, प्रगति और अभिरुचि के अनुसार अलग-अलग साधनाएँ पसन्द करेगा। एक को जो साधना मदद करती है दूसरे को शायद मदद नहीं करेगी। एक के लिए अद्वैत मुफीद है, दूसरे के लिए द्वैत। कोई भगवान् को 'माँ' कहेगा, कोई कहेगा 'पिता', तो कोई कहेगा 'गुरु'। हमारे सनातन धर्म में सब साधनाओं के लिए अवकाश है।

अगर हरएक पन्थ को आप अलग अलग धर्म कहेंगे तो सार्वभौम सनातन

धर्म को हम धर्मकुटुम्ब अथवा धर्मपरिवार कहेंगे। इस सनातन धर्म में ईश्वर को मानने वालों के लिए भी जगह है और 'ईश्वर को हम पहचान नहीं सकते', ऐसा कहने वालों के लिए भी स्थान है। नास्तिकों के प्रति और संशयवादी लोगों के प्रति दया बता सकते हैं। किंतु उन को सनातन धर्म में से बहिष्कृत नहीं करेंगे। जो कोई अपने जीवन में उन्नति चाहता है और सब के प्रति आत्मीयता बढ़ाने की कोशिश करता है, उसे विराट और सार्वभौम सनातन धर्म में स्थान है ही।

किसी ने कहा, "अवतार तो दस हैं, आप बाईस और चौबीस अवतार कहां से ले आये?" मैं ने कहा, "अवतार दस और बाईस नहीं किंतु अनंत हैं। बाईस अवतारों की फेहरिस्त और वर्णन भागवत के पहले ही स्कन्ध में है।" दस अवतारों का श्लोक भी हमें मालूम है।

मत्स्यः कूर्मो वराहश्च नरसिंहोऽथ वामनः ।
रामो रामश्च कृष्णश्च बुद्धः कल्की च ते दश ॥

भारतभर में यही दस नाम और यही क्रम सर्वमान्य है। लेकिन श्रीकृष्ण को अवतार न कह कर अवतारी यानी परब्रह्म मानने वाले लोग कृष्ण की जगह बलराम को देते हैं और ऊपर के श्लोक में तीसरा चरण यों बनाते हैं 'रामो रामश्च रामश्च' पहला है परशुराम, दूसरा है दाशरथी राम और तीसरा है बलराम। भागवत में जहां बाईस अवतार दिये हैं वहां कृष्ण और बलराम दोनों अवतार माने गये हैं।

इन अवतारी नामों में और उन के क्रम में कोई खास व्यवस्था नहीं है। तो भी हम ने विकासवाद की खूबी इस में देखी है। विकासवाद के हिसाब से जीवसृष्टि का प्रारम्भ पानी में हुआ। प्रथम जीव सूक्ष्म कीट थे। बाद में जमीन पर और पानी में भी वनस्पति का प्रादुर्भाव हुआ। उस के बाद आये पशु और पक्षी। पानी के अन्दर की सृष्टि को अगर हम जलचर कहें तो जमीन पर की सृष्टि को कहेंगे 'भूचर' और आकाश में उड़नेवालों को कहेंगे 'खेचर'।

जलचर, भूचर, खेचर प्राणियों के बाद आया मनुष्य। जो बुद्धि के विकास के कारण कर्मकौशल्य के कारण और धर्मभावना के कारण ईश्वर की विशेष सृष्टि माना गया है। (और चन्द लोगों का कहना है कि, भगवान् ने मनुष्य को पैदा कर के हाथ धो नहीं डाले हैं। मनुष्य से भी अधिक योग्यता के प्राणी सृष्टि में आयेंगे अथवा आज होंगे भी। लेकिन इस की चर्चा में हम नहीं उतरेंगे।)

सृष्टि की उत्पत्ति पानी में हुई तब का अवतार है 'मत्स्य'। जब चन्द

प्राणी पानी में भी रहने लगे और जमीन पर आकर, साँस लेने लगे इस का अवतार है, 'कच्छप अथवा कूर्म'। जमीन पर रह कर कीचड़ के साथ दोस्ती करने वाला अवतार है 'वराह'। फिर हम आते हैं मनुष्य और पशु के बीच का रूप धारण करने वाले नरसिंह के पास। उस के बाद जब पूरा मनुष्य पैदा हुआ तब वह बाल्यावस्था में था। उस का अवतार है वामन। उस की कथा पौराणिक है। उस में से कोई खास बोध हमें नहीं मिलता। अधम का नाश कर के धर्म की स्थापना करने के लिए अगर भगवान् मनुष्य का रूप लेते हैं तो वामन अवतार का रहस्य क्या है? जिस बलि को वामन अवतार ने पाँव के नीचे दबाकर पाताल भेजा उस बलि में हम कोई अधम, पाप, दुराचार या दुष्टता देख नहीं सकते। ऊँच-नीचभाव और श्रेष्ठ-कनिष्ठभाव कायम रखने के लिए, अन्याय अत्याचार करने वाले लोग समता, प्रगति और जीवनशुद्धि पसन्द नहीं करते। ऐसे लोग शूद्रों का रोज नहाना और साफ़ कपड़े पहनना भी पसन्द नहीं करते। शूद्रों के पास सम्पत्ति रहे यह भी वे बरदाश्त नहीं करते। उन के बरतन भी टूटे फूटे हों, वे घोड़े पर या दूसरे किसी वाहन पर बैठ कर चलें इतना भी इन धर्माभिमानी लोगों को पसन्द नहीं है। उन को तो वामन और कल्कि अवतार ही पसन्द आयेंगे। उन की बात यहीं छोड़ दें और बाक़ी के ऐतिहासिक मानवी अवतारों का थोड़ा स्वरूपचिन्तन करें।

परशुराम, राम कृष्ण और बुद्ध ये चार हैं मानवी ऐतिहासिक अवतार।

परशुराम ने ब्राह्मण होते हुए भी क्षात्र धर्म को स्वीकार करते हुए क्षत्रियों को इक्कीस बार हराया। तब क्षत्रियों ने जमाना पहचान कर अपना संगठन बनाकर एक राजा को सम्राट बनाया और बाकी बने उस के माण्डलिक राजा।

परशुराम ने कुल्हाड़ी लेकर जंगलों को काटा और ग्राम-नगर के लिए जमीन तयार की। इस परशुराम के बाद आता है राम। इस की पत्नी थी 'अयोनि सम्भवा'। याने—

जमीन में हल चलाने से जो हलाई या लीक बनती है उस में से पैदा हुई थी। जनक राजा भी बड़े किसान थे। खेती के प्रारम्भ का ही वह जमाना होगा। जनक प्रजा के राजा थे। इस लिए उन का हल सोने का था। लेकिन बारिश के पहले सब से प्रथम हल चलाने का अधिकार राजा जनक का था। जनक ने हल चलाया तो बाद में प्रजा भी हल चलाती थी। दक्षिण में जिस जमीन में हल चलता नहीं था उस जमीन को अहल्या कहते थे। ऐसी अहल्या भूमि का राम ने उद्धार किया। याने वहाँ खेती शुरू की।

कृष्णावतार में बलराम ने हल चलाया और कृष्ण ने गाय और बैल का पालन कर के उन की वृद्धि की। बड़े भाई कहलाये 'हलधर' और छोटे का नाम हुआ 'गोपाल'।

इस तरह कृषि संस्कृति का विस्तार हुआ, लेकिन साथ साथ ज़मीन के स्वामित्वके लिए झगडे होने लगे। जो क्षत्रिय थे वे ही क्षत्रिय बनकर आपस में लड़ने लगे। खेती तो सहयोग से होती है। झगडे में होते हैं युद्ध। युद्धों के कारण कैसा संहार होता है इस का अनुभव आर्यजाति ने महाभारत युद्ध के द्वारा किया। इस के बाद हिंसा से ऊबी हुई जनता अहिंसा की ओर ही मुडेगी। जंगल तोड़ कर, पशुओं को मार कर और लहू का कीचड बनाकर जो यज्ञ होते थे और युद्ध चलते थे उस का निषेध किये बिना संस्कृति का आगे बढ़ना नामुमकिन था। इस लिए बुद्ध और महावीर के युगकार्य की महत्ता कबूल किये बिना चारा नहीं था। इस लिए हमारे लोगों ने लोकप्रिय बुद्ध भगवान् को अवतार माना। लेकिन यज्ञ और युद्ध छोड़ने को भी वे तैयार नहीं थे। इस लिए उन्होंने कहना शुरू किया कि भगवान् ने धर्मविरोधी लोगों को बहकाने के लिए बुद्ध का अवतार लिया था। (भला भगवान भी कभी बहकाने का धन्धा कर सकता है? अधर्म को प्रोत्साहन दे सकता है?)

लेकिन बुद्ध भगवान का अवैर का अहिंसा का सन्देश जो स्वीकार न कर सके उन्होंने चलाया कि अब दसवाँ अवतार आयेगा, जो घोडे पर चढ़ कर हाथ में तलवार ले कर दुष्टों का संहार करेगा और पुराने धर्मों को फिर से स्थापित करेगा।

भगवान् समय-समय पर अवतार लेता है यह कल्पना सुन्दर है। जिस के बारे में जनता का विश्वास होता है कि यह पुरुष धर्मपरायण है मानवजाति का हितकर्ता है और इस ने युगपरिवर्तन किया है उस की इज्ज़त करने के लिए जनता उसे अवतार होने की प्रतिष्ठा देती है। यूँ तो हर एक के जीवन में और हर एक के हृदय में भगवान् कमोबेश अवतार लेता ही है। पुराने ज़माने में धर्म के ठेकेदारोंने अवतार की कल्पना का दुरुपयोग किया है। आयंदा भी करेंगे, लेकिन इस कल्पना को छोड़ देने की ज़रूरत नहीं है। यह कहना कि भगवान् भूतकाल में ही अवतार लेता था अब नहीं लेता, और नहीं लेगा, भगवान् की शक्ति को मर्यादित करना है।

गीता में भी नहीं लिखा कि "जब तक भारत में संस्कृत भाषा का प्रचलन रहेगा तब तक ही मैं अवतार ले सकता हूँ।" भगवान् ने यह भी कभी नहीं कहा कि, मैं अवतार लूँगा तो भारत में ही लूँगा।'

मनुष्य हिन्दू धर्म, इस्लाम धर्म, ईसाई धर्म, यहूदी धर्म, पारसी धर्म आदि किसी न किसी धर्म के हो सकते हैं, लेकिन भगवान् तो हिन्दू, क्रिस्ती अथवा इस्लामी नहीं है। भगवान् सब धर्मों का है। सब धर्म भगवान् के हैं। भगवान् किसी भी धर्म के अन्दर पराधीन नहीं होता। भगवान् तो स्वतन्त्र ही रह सकता है।

अवतार की कल्पना अगर जीवित रखनी है तो सोच-समझ कर असंख्य लोग जिन को धर्म प्रेरणा मानते हैं उन को हमें अवतार के तौर पर स्वीकार करना ही चाहिए।

(१ जनवरी १९६६)



वहम का साम्राज्य

फलज्योतिष के बारे में

ज्योतिष में मेरा विश्वास कहाँ तक है, इस सवाल के जवाब में कुछ विस्तार से लिखना पड़ेगा। सूर्य, चन्द्र, ग्रह-उपग्रह, धूमकेतु और आकाश के अनगिनत तारों के बारे में मुझे दिलचस्पी बहुत है। स्पुटनिक में बैठ कर वहाँ जाने के खयाल से नहीं, किन्तु लाखों बरसों से हमारे आसपास वे घूमते रहते हैं, हमें प्रकाश और उष्णता देते हैं और न जाने और भी क्या-क्या देते हैं। इस लिए उन के बारे में जानने को जी चाहता है।

मैं तो कहूँगा कि और कुछ देते हों या न हों आनन्द शांति और उल्लास तो ये सब देते ही हैं। इस लिए आनन्द बढ़ाने के हेतु तारों का काव्य समझ लेना जरूरी है। इन ज्योतियों का आयुष्य कितने करोड़ बरसों का है—कितने करोड़ नहीं—कितने पराध बरसों का है यह समझने की इच्छा जरूर होती है। लेकिन जब कोई इन तारों से पूछ कर मेरी आयु कितनी बाकी है यह बताने की आशा दिलाता है तब उस में मुझे दिलचस्पी नहीं है।

मैं जानता हूँ कि तुम्हारा सवाल तारों के काव्य के बारे में नहीं है गणित ज्योतिष के बारे में भी नहीं है। जिसे हमारे लोग फल-ज्योतिष कहते हैं उसी के उपलक्ष्य में तुम ने सवाल पूछा है।

लोग जब पूछते हैं कि क्या तारों का और ग्रहों का हमारे नित्य के जीवन पर कुछ असर हो सकता है ? तब मुझे वैज्ञानिक दृष्टि से कहना पड़ता है कि इस विश्व में हर चीज का हर चीज पर असर होता ही रहता है। अगर चन्द्र का मुझ पर असर होता है तो मेरा भी चन्द्र पर जरूर कुछ-न-कुछ असर होता ही होगा। पृथ्वी के करोड़ों लोगों पर जैसे चन्द्र का असर होता रहता है, वैसे ही इन करोड़ों लोगों में से हरेक का असर चन्द्र पर होने वाला है। चन्द्र को किसी फलज्योतिषी के पास जाकर जरूर पूछना चाहिए कि इन-इन लोगों का मुझ पर क्या असर होता होगा। चन्द्र की आयु हम से ज्यादा है। उस बेचारे पर मेरे पुरखाओं के पुरखाओं का भी असर हुआ होगा। अब चन्द्र पर असर करने का

भोग मुने मिला है। ज्योतिषियों ने सूर्य सिद्धांत में से श्लोक निकाल कर ग्रहों का गांधीजी पर क्या-क्या असर हुआ उस का सूक्ष्म वर्णन दिया है। गांधीजी जैसे महात्मा का इन ग्रहों पर जरूर कुछ-न-कुछ असर हुआ ही होगा। यह सब बतानेवाला कोई चन्द्रसिद्धांत या मानवसिद्धांत अभी तक किसी के हाथ में नहीं आया है।

मान लिया कि ग्रहों का असर आदमी पर होता होगा। लेकिन ठीक असर क्या होता है, कब होता है, कहाँ तक होता है, इस का सही विधान किसी के भी पास नहीं है। ज्योतिषी जो बताते हैं, उस में प्रामाणिकता कितनी है, यह तो हम नहीं जानते। बाकी रहता है सिर्फ अन्धविश्वास। उस से कर हम क्या करें?

अगर ज्योतिष का ही बात है तो ग्रहों के द्वारा होने वाले असर को हम बदल तो नहीं सकते। बहुत हुआ तो जान सकेंगे कि क्या-क्या असर होने वाला है। जानने से कुछ इलाज भी कर सकेंगे। हम जानते हैं कि दिसम्बर जनवरी, फरवरी में जाड़ा पड़ता है, इस लिए पहले से हम गरम कपड़े खरीद लेते हैं। कुछ लोग पाक भी खाते हैं। यह सब आहार विज्ञान और शारीरिक विज्ञान के अनुसार निश्चित होता है।

लेकिन ज्योतिषशास्त्र के साथ मन्त्रशास्त्र आता है। शनि का अगर मेरे जीवन पर कुछ बुरा असर होने की बात ज्योतिषी ने समझायी तो वह यह भी समझायेगा कि शनि की पीड़ा दूर करने के लिए शन्नो देवीरभीष्टये इत्यादि वैदिक मन्त्र का जाप मैं करूँ अथवा दक्षिणा देकर किसी ब्राह्मण से करवाऊँ तो शनि की पीड़ा दूर होगी। इस मन्त्र के प्रारम्भ में श और न ये दो अक्षर आते हैं इतना ही इस मन्त्र का शनिमहाराज से सम्बन्ध है। मन्त्र का अर्थ देखते शनि के साथ उस का वास्ता तनिक भी नहीं है। लेकिन मन्त्रशास्त्र में बुद्धि चलाने की मनाही है। यह तो कबूल करना ही पड़ेगा कि मन्त्रों का अमुक असर होता ही है ऐसा अगर सिद्ध हुआ तो उसे मानना पड़ेगा। लेकिन आजकल के वैज्ञानिक लोग जिस निश्चित रूप से कार्यकारण सम्बन्ध दिखा सकते हैं वैसा निश्चित सम्बन्ध मन्त्रशास्त्री बता या दिखा नहीं सकते। अमुक समय ऐसा हुआ, अमुक को ऐसा लाभ हुआ ऐसी कथाएं बहुत सुनाते हैं। नहीं मानोगे तो तुम को नुकसान होगा ऐसा डर भी दिखाते हैं। लेकिन किसी ने भी मन्त्र बोल कर या रट कर स्पुटनिक को आकाश में आज तक नहीं भेजा है। मन्त्रशास्त्र, *फलज्योतिषशास्त्र, विज्ञान के साथ अपनी तुलना कर के अपनी बात सिद्ध नहीं* कर सकता।

हम उदार हो कर बहुत तो इतना कहेंगे कि ये विज्ञान तो हैं, लेकिन अभी

च्चे है। भौतिक विज्ञान भी जब कच्चा था तब घमंडी ज्यादा था। १८वीं सदी के विज्ञान ने अध्यात्म, धर्म और मानसशास्त्र की भी हँसी उड़ायी थी। कच्चे विज्ञान अगर हद से ज्यादा दावा करते जायें तो उन्हें बच्चे समझ कर उन की बातें हम बरदाश्त करेंगे और कहेंगे कि श्रद्धा विश्वास के साथ आगे बढ़ते जाओ, किसी दिन परिपक्वता आ जायेगी तब तक बड़े बड़े दावे छोड़ दो तो अच्छा है।

फल-ज्योतिष में जो बातें आज कल बतायी जाती हैं उन में बहुत से ज्योतिषी सूक्ष्म गणित तक जाते ही नहीं। स्थूल मान से कुछ कुछ कह देते हैं, जिस पर स्वयं उन्हीं को विश्वास नहीं होता है। जो ज्योतिषी स्थूल गणित करते हैं उन्हीं के मुँह से सुनना चाहिए कि स्थूल गणित वाले कैसी लीला चलाते हैं। किन्तु सूक्ष्म गणित का फल भी निश्चित रूप से मिलता ही नहीं। और फल-ज्योतिष के गणित के सिद्धांत किन आधार पर बनाये हैं यह भी कोई कह नहीं सकता। कदम-कदम पर अन्धविश्वास रखने की ही बात आती है।

फल-ज्योतिष के पीछे लगने वालों के बारे में मेरी शिकायत कुछ और ही है। जो लोग ज्योतिष सामुद्रिक या शकुन के पीछे पड़ते हैं उन की बुद्धि क्षीण होती है। संकल्पशक्ति, अनुमानशक्ति ऐसी सब शक्तियां दुर्बल बनती हैं। मनुष्य कदम-कदम पर डरता रहता है, घबराया हुआ मालूम पड़ता है। जहां उत्साह से काम करना चाहिए निडरता से सत्कार्य का सेवन करना चाहिए वहां मनुष्य आत्मविश्वास खो बैठता है। जिस ने फल-ज्योतिष का सहारा लिया वह गीता की नसीहत भूल ही जाता है—"कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।" जितने भी लोग मैं ने फल-ज्योतिष का सहारा लेते हुए देखे वे सब के सब अस्वस्थ चित्त के मालूम हुए। इस लिए मैं इस नतीजे पर पहुँचा हूँ कि ज्योतिष की बातें प्रायः ऊटपटांग होती हैं। कौन-सी बात सही होगी और कौन-सी नहीं इस का निर्णय करने का पैमाना किसी के पास नहीं होता और मनुष्य का चिंतन ही विकृत हो जाता है। इस लिए मैं सब को सलाह देता हूँ कि ज्योतिष के पीछे न पड़ें।

जिन्हें शुद्ध प्रयोग की दृष्टि से सत्य समझने की इच्छा हो वे प्रयोग कर के देखें और प्रयोग का फल जाहिर भी करें। लेकिन लोगों को तो अपने जीवन में से फल-ज्योतिष को निकाल ही देना चाहिए।

(३ मार्च १९६९)

भाग्य या अदृष्ट

एक सज्जन ने भाग्य के बारे में चन्द सवाल पूछे हैं। ऐसे सवाल पूछने का एक रिवाज हो गया है। एक ही विषय पर अनेक दृष्टि के अनेक जवाब पढ़ने से विचार-वैचित्र्य का परिचय तो होता ही है और विचार के भिन्न भिन्न प्रस्थान—starting points ध्यान में आते हैं।

अपने विचार स्पष्ट करने का और थोड़े में लिखने का मौका देने वाले ऐसे प्रश्नों का मैं स्वागत ही करता हूँ।

'क्या भाग्य में आप का विश्वास है ?"

इस प्रश्न का जवाब देने से पहले 'भाग्य' शब्द का अर्थ स्पष्ट होना चाहिए। गीता में किसी कार्य के अनेक कारण ढूँढने के बाद जो कारण ध्यान में नहीं आ सकते उन को 'दैव' कहा है। इस से भी अच्छा शब्द है 'अदृष्ट'—जो हमारे देखने में नहीं आया। जिसे देखने की सम्भावना नहीं, वह है अदृष्ट ऐसा कारण भी अपना कार्य तो करता ही है लेकिन उस का हिसाब हम नहीं कर सकते। इस लिए जब कार्य कारण सम्बन्ध का हम हिसाब लगाते हैं तब 'अज्ञात' और 'अज्ञेय' (unknown, unpredictable) का भी सोचना ही पड़ता है।

जो लोग कार्य कारण सम्बन्ध ढूँढने के आदी होते हैं ऐसे वैज्ञानिक वृत्ति वाले लोगों को कदम-कदम पर अदृष्ट का अनुभव होता है। वे कहते हैं कि पूरा पूरा हिसाब जब नहीं हो सकता, तब निश्चयात्मक अनुमान न निकालते हुए 'अदृष्ट' के लिए अवकाश रखना ही पड़ता है। और हम निर्णयात्मक नहीं बोल सकते।

ये सारी हुईं वैज्ञानिक बातें। लेकिन सामान्य लोग नसीब, तकदीर, भाग्य, दैव आदि शब्दों से कुछ ज्यादा अर्थ निकालते हैं। वे मानते हैं कि दैव नाम की कोई गूढ़ शक्ति है, व्यक्ति है जो कभी हमारे विरुद्ध होती है और लाख कोशिशें करने पर भी हमें कामयाब नहीं होने देती। और कभी अनुकूल होने पर ऐसे फल भी देती है, जिस के लिए हम ने पूरी मेहनत न की हो अथवा बिलकुल ही प्रयत्न न किया हो। ऐसा 'नसीब' कभी-कभी हमारे पीछे पड़ता है और सफलता पाने ही नहीं देता।

एक आदमी काम तय कर के शहर में गया। दस-बारह आदमियों से अलग अलग जगह उसे मिलना था। सुबह से लेकर शाम तक वह घूमा। एक भी

आदमी उसे नहीं मिला। सारी मेहनत निष्फल गयी। वह कह सकता है कि मेरी तक़दीर ही खराब थी। लोग कहते हैं कि "न जाने आज सुबह किस का मुँह देखा था, मेरा कुछ भी काम न हो सका।"

यह सरासर वहम है। लेकिन ऐसा आदमी कभी कहता है, 'भगवान् जाने मैं कसे मुहूर्त पर निकला था कि आज मेरा एक भी काम न हो सका।' ज्योतिष के मुहूर्त की बात हम छोड दें। लेकिन मुहूर्त जैसी चीज़ है अवश्य। हर एक आदमी का मिलने का समय अगर पहले से पूछ रखा होता और लोगों से मिलने का क्रम भी सोच कर रखा होता तो आदमी सब से मिल सकता। हिसाब से पहले या देरी से निकलने से सारा काम अवश्य बिगड जायगा। हिसाब से अनुकूल समय को मुहूर्त कहते हैं। हमारे पुराने शास्त्रों में लिखा है—राक्षस मुहूर्त को नहीं जानते। देव जानते हैं इसलिए कामयाब होते हैं। यहाँ भाग्य की बात नहीं है लेकिन अक्ल और दूरदेशी की बात होती है। अच्छा किसान बीज बोने का मुहूर्त जानता है, खाद का प्रमाण जानता है। समय पर सब मेहनत करता है। अच्छी फ़सल पाता है और भाग्यशाली कहलाता है। लेकिन इस में मौसम की अनुकूलता अदृष्ट होती है। जब मौसम का विज्ञान काफ़ी बढेगा तब वह 'अदृष्ट' या भाग्य नहीं रहेगा। अनुभव, बुद्धि, समयज्ञता और रचनाकौशल जैसे बढते जाते है वैसे ही अदृष्ट का— तक़दीर का क्षेत्र कम होता जाता है। इन सब बातों को बढाना—यही एक तरीक़ा है भाग्य बदलने का।

यह सब हो गयी बाह्य परिस्थिति या साधनों की अनुकूलता या प्रतिकूलता। साथ साथ मानसिक उत्साह, प्रसन्नता शुभाशंसा (आशावादिता) और सर्वोदय वृत्ति यह भी आंतरिक और बाह्य सफलता के लिए आवश्यक बातें होती है। इन सब बातों का जब समुच्चय होता है और उन का परम कोटि तक विकास और उत्कर्ष होता है, तब उसी को ईश्वरकृपा कहते है। ईश्वर को ही भाग्य कहना गलत बात है। भाग्य अंधा माना गया है। चंचल माना गया है। ईश्वर के बारे में हम वैसा नहीं कह सकते। ईश्वर का कृपा कब मिलेगी कैसे मिलेगी, इसे हम नहीं जानते। लेकिन ईश्वर की कृपा किस हालत में प्राप्त नहीं हो सकती, सो तो हम अवश्य जानते है। जो सदाचारी नहीं है, दूर तक जो नहीं देखता, जो प्रमादी है, उस पर ईश्वरीय कृपा नहीं बरसती। ईश्वरीय कृपा *भले ही अज्ञेय हो किसी ने उसे अंधी नहीं कहा है।*

अब रही ज्योतिष की बात। बारिश कब होगी, गरमी कब बढेगी, जाडे के दिन कब आते हैं, कितने साल के बाद सूर्यग्रहण चन्द्रग्रहण फिर फिर आते हैं और उन का असर फ़सल पर क्या होता है, यह सब ज्योतिष, विज्ञान और

मौसम विज्ञान शास्त्र से हम कमोबेश समझ सकते हैं। इस अर्थ में कार्य-कारण भाव ढूँढने में ज्योतिष की मदद होती है। चन्द्र की कलाओं का समुद्र के ज्वार भाटा से सम्बन्ध होता है, वैसे ही आकाशस्थ ज्योतियों का हमारे जीवन पर कुछ-न कुछ असर होता ही होगा। लेकिन उन का कार्य कारण सम्बन्ध हम नहीं जानते। आज ज्योतिष के बारे में जो दावे किये जाते हैं वे अधिकांश भ्रामक ही है—गलत साबित हुए हैं। लेकिन आखिरकार वह विज्ञान का सवाल है, तकदीर या भाग्य का नहीं। जब तक उसे हम नहीं जानते, उसे अदृष्ट या दैव कह सकते हैं।

जो लोग भाग्य पर विश्वास रखते हैं, वे ज्यादातर अकर्मण्य और पुरुषार्थ विहीन बनते हैं। वे अन्ध विश्वासी तो होते ही हैं। इसलिए पुरुषार्थी होने पर भी उन का भविष्य खतरे में ही रहता है। और उन का मानस जुआरी का मानस बनता है।

इन सब बातों को सोचने के बाद हमारे पुरखों में से किसी ने कहा—

पौरुषात् जायते सिद्धिः पौरुषात् धीमतां क्रमः।

दैवं आश्वासनामात्रं दुःखपेलवबुद्धिषु॥

पौरुष—पुरुषार्थ या प्रयत्न के बिना सिद्धि नहीं हो सकती। धीमान् लोग—बुद्धिशाली लोग—पौरुष के आधार पर ही अपना जीवनक्रम चलाते हैं। हारे हुए दुःखी लोगों के कमजोर मुलायम दिलों को आश्वासन देने के लिए ही 'दैव' की कल्पना की है।

यहाँ इतना लिख देना आवश्यक है कि लोकोत्तर पराक्रमी लोग कभी-कभी अन्तःकरण के दैववादी होते हैं, और दैववाद के कारण ही उन में असाधारण दृढ़ता और निष्ठा आ जाती है। लेकिन ऐसों की दैववादिता ईश्वरनिष्ठा का ही एक पहलू होता है।

(३ अक्तूबर १९६१)

नवग्रहों की पीड़ा

ईश्वर की सृष्टि में हम हैं। हमारे सब ओर दुनिया फैली हुई है। हम स्वयं दुनिया का एक अंग हैं। दुनिया का चिंतन करने वाले चन्द लोगों का सूत्र है कि दुनिया के एक-एक कण में सारी दुनिया सूक्ष्म रूप में भरी हुई है। पेड़ की

टहनी का एक टुकडा काट कर हम बोते हैं। उस में से एक सारा पूरा वृक्ष पैदा हो जाता है। आश्चर्य चकित हो कर कवि गाता है—'एक बूंद से मानव जैसे पुतले बनाये हजारों।' सचमुच यह सारा विश्व एक गूढातिगूढ वस्तु है। कल्पना कर के थक जाने पर कवियों ने कह दिया कि भगवान् तो अनंत कोटि ब्रह्माण्ड के नायक हैं। पुराणकारों ने ब्रह्माण्ड की कल्पना का स्थलकाल में विस्तार कर के दिखाया है। किंतु यह सारा ज्ञान कहाँ से आया सो तो बताया नहीं। लोग कहते हैं कि योगविद्या से ऋषि-मुनियों ने यह सब पाया। योग विद्या के ग्रन्थ हैं उन में उस विद्या की साधना और प्रक्रिया बतायी है। उस के अनुसार चलने वाले कई लोग देखने में आते हैं। उन का स्वभाव, उन की सिद्धियाँ और उन का ज्ञान देखते कई बार दुःख होता है। कभी भी सन्तोष या उत्साह नहीं होता। योगविद्या का माहात्म्य बताने वाले बहुत हैं, सिद्धि बताने वाले बहुत कम। उन की आखिरी दलील इतनी ही होती है कि जिस चीज को तुम नहीं जानते उस का इनकार करने का तुम्हें अधिकार क्या है? लेकिन उन से भी एक प्रश्न पूछा जा सकता है कि आप को जिस का न ज्ञान है, न अनुभव उस के बारे में कुछ भी कहने का और केवल कल्पना पर बडे-बडे महल खडे करने का अधिकार आप को भी कहाँ से मिला? क्या अज्ञान किसी विचार परम्परा की बुनियाद हो सकती है?

गूढवादी लोग इस तरह चर्चा में परास्त होने के बाद अपना पतरा बदल देते हैं और कहते हैं कि, 'यह चर्चा का विषय नहीं है, अनुभव का है। हम अपने अनुभव के बल पर कहते हैं।' वे जानते नहीं कि अनुभव का नाम लेना अपने को, अपने पक्ष को और भी कमजोर करना है। सामान्यतया दुनिया के सब सज्जन ऐसे 'अनुभव वादियों से चर्चा करना छोड देते हैं। मन में कहते हैं आप के अनुभव की कदर करने वाले आप को बहुत से आदमी मिलेंगे। आप अपना सम्प्रदाय चलाइए। आप का अनुभव हमारे काम का नहीं है। अनुभव की भी तो कसौटी होती है। भोले लोगों की अपनी एक अलग दुनिया होती है। उस में हमें प्रवेश नहीं करना है। हमें जिस चीज का अनुभव होता है उस का हम सबूत भी दे सकते हैं और अनुभव भी करा सकते हैं।

पुराणों में चन्द्रलोक की बातें आती हैं। आजकल के खगोलशास्त्र में भी चन्द्रलोक की बातें आती हैं। खगोलशास्त्र का अनुभव दूरबीन के द्वारा, गणित और पदार्थ विज्ञान के द्वारा हम सब को करा सकते हैं। रशियन और अमेरिकन व्योमयात्री खगोलशास्त्र के और विज्ञान शास्त्र के बल पर आकाश में घूम आये। उन्होंने चन्द्र के पृष्ठभाग के फोटो भी लिये। खगोलशास्त्री दूरबीन की मदद से

घटाने की कोशिश करते है उन को प्रगति हम देखते हैं। केवल सांसारिक और भौतिक प्रगति ही नहीं, आध्यात्मिक प्रगति भी दीख पड़ती है। और उन का अच्छा असर आसपास फैला हुआ भी स्पष्ट दीख पड़ता है। और जो लोग दावा ही-दावा करते रहते हैं उन का भी असर फलता है। वह किस क़िस्म का होता है यह भी हम देखते आये है।

मेरे बचपन में लोग कहते थे कि सूर्यग्रहण या चन्द्रग्रहण के समय कुछ भी खाना नहीं चाहिए। खाने पर भस्मरोग होता है। (भस्मरोग क्या बला है इस की तलाश करने पर मालूम हुआ कि आदमी की भूख अनहद बढ़ती है। वह जो खायेगा भस्म हो जाता है। न कभी उस को तृप्ति होती है न उस की शक्ति बढ़ती है।) ग्रहण के समय खाने का विचार मनुष्य को सूझना नहीं चाहिए। ग्रहण रोज नहीं होते इस लिए ध्यान से उन्हें देखना चाहिए यहां तक मैं सहमत हूँ। अगर कोई कहे, जैसा चन्द सनातनी लोग विज्ञान की दुहाई दे कर दलील करते हैं—कि ग्रहण के समय सूर्य की किरणें हमारे शरीर तक नहीं पहुँचती, इस लिए हमारी पाचनशक्ति क्षीण होती है, इस लिए ग्रहण के समय नहीं खाना चाहिए तो मैं सुनने को तैयार हूँ। लेकिन सुन कर अनुभव करने को भी जी चाहेगा। रात को सूर्य की किरणें हम तक नहीं पहुँचतीं, तो भी लोग मजे से खाते हैं। किसी को अजीर्ण या भस्मरोग नहीं हुआ। मैं ने तो एक दो दफे सूर्यग्रहण और चन्द्रग्रहण के रहते खा कर देखा। मुझे कोई भस्मरोग नहीं हुआ। दूसरा भी कोई नुक़सान नहीं हुआ। लाभ इतना ही हुआ कि किसी ने अज्ञात का डर दिखाया तो मान जाने की जो कमजोरी मनुष्य में होती है वह दूर हुई। अन्ध-श्रद्धालु लोगों की आग्रही बातें मान लेने की और हजम करने की शक्ति क्षीण हुई। जिस चीज को हम नहीं जानते उस को हम स्वीकार करें कि हम नहीं जानते इतना काफी है। जो लोग गूढ़ अनुभव का दावा करते है और उस के बल पर हम पर सवार होना चाहते हैं उन की बातों की या तो हम उपेक्षा करें या जाँच करें। उन के बताये हुए डर को हम शरण न जायें।

किसी ने मुझसे पूछा कि फलितज्योतिष मानते हो? मैं ने कहा कि मैं कैसे कहूँ कि आकाश के ग्रहों का तारों का और अन्य ज्योतियों का मुझ पर या किसी पर असर होता ही नहीं? होता होगा। उस असर के होते हुए भी मेरा जीवन क्रम ठीक चल रहा है और जो लोग फलितज्योतिष पर विश्वास करते हैं और ग्रह शान्ति के मन्त्र बोलते हैं और दान देते हैं उन के जीवन में कोई खास सुधार हुआ देखने में नहीं आया। अगर कोई आ कर मुझ से कहे कि आप का स्वास्थ्य आप को अच्छा लगता है, लेकिन कल आप को एक भयानक बीमारी होने वाली

झने के लिए जरूरी गणित और विज्ञान का परिचय पा लिया। इस के कारण मेरा काव्यानन्द बढ़ा और भगवान् के प्रति भक्ति में एक नयी ही सुरभि प्रतिष्ठित हुई। मैं स्वयं कल्पना में एक विराट पुरुष बन कर सूर्य के ग्रह अपने-अपने चन्द्रों को साथ ले कर सूर्य के इर्द गिर्द कैसे घूमते होंगे, शनि के वलय का रूप कैसा होगा, इन अनेकानेक चन्द्रों के कारण तरह-तरह के ग्रहण कैसे होते होंगे और सूर्य के इर्द गिर्द पृथ्वी के भ्रमण के कारण दिवस रात्रि और ऋतु कैसे पैदा होते हैं और समुद्र में ज्वारभाटा का श्वासोच्छ्वास कैसा चलता है इस का प्रत्यक्ष दर्शन मैं करने लगा। इस के बाद अति विराट बन कर असंख्य तारे, उन की नीहारिकाएँ और आकाशगंगा के विशालतम जगत का विश्वरूप दर्शन भी मैं ने कल्पना की आँखों से किया। और तारों का विज्ञान (Stellar physics) के बारे में पढ़ कर एक एक तारे के पेट में उष्णता कितनी है और तप्त धातुओं का ताण्डव कैसा चलता है इस का भी अद्भुतरम्य साक्षात्कार किया। तारों को जन्म देने वाले हिरण्यगर्भ की नीहारिकाओं में प्रवेश करने की कल्पना की भी हिम्मत न हुई। तब— 'दिशो न जाने न लभे च शर्म।' कह कर वापस आना पड़ा। सर्वरूपा कल्पना भी जहाँ थक जाती है ऐसे अनन्तकोटि ब्रह्माण्डों का खयाल करना यह भी एक वेदान्त की बड़ता साधना ही है और वैदिक ऋषि अघमर्षण कहते हैं कि ऐसी साधना से पाप धुल जाता है। यह तब होगा जब ज्योतिष के विराट् विश्वरूप दर्शन के साथ ऋत और सत्य का साक्षात्कार हो।

भौतिक ज्योतिष और गणित ज्योतिष के साथ मानव जाति ने फलित ज्योतिष की ओर भी प्रयत्न चलाया है। लेकिन हम कह नहीं सकते कि इस क्षेत्र में मनुष्य-जाति ने प्रयत्न की पराकाष्ठा की है। ग्रहों का और तारों का मनुष्य जीवन पर असर हो सकता है इतना अनुमान करने के बाद उन्होंने इन सब ग्रहों को जीवित पुरुष मान कर उन्हें व्यक्तित्व प्रदान कर के उन ग्रहों की शान्ति करने के उपाय ढूँढे।

जब हम देखते हैं कि सूर्य चन्द्र का असर समुद्र के पानी पर होता है और वनस्पति की नसों में चढ़ने-बढ़ने वाले रसों पर भी होता है, तब हम कैसे कहें कि ग्रहों का हमारे शरीर पर कुछ भी असर नहीं हो सकता। हम जिस ऋतु में जन्म लेते हैं उस ऋतु का असर हमारे शरीर के सप्तधातुओं पर कुछ-न-कुछ होता ही है। वात पित्त-कफ पर भी ऋतु का असर हो सकता है। यह जितना सत्य है इतना ही यह भी सत्य है कि असरों की वैज्ञानिक खोज-खाज अभी तक नहीं हुई है। ऋषि-मुनियों के अतीन्द्रिय योगसामर्थ्य की दुहाई दे कर हम लोगों ने केवल कल्पना, अवैज्ञानिक अनुमान और शुद्ध वहमों का बचाव सैकड़ों बरसों

तक किया और लोगों को अन्धश्रद्धा का और अर्थविहीन लोभ और भीति का पोषण किया। लेकिन न हमारे ज्ञान में कुछ वृद्धि हुई न जनता के स्वास्थ्य और कल्याण में कुछ फर्क हुआ।

फलितज्योतिष के बारे में लोग जब विश्वासपूर्वक जोर जोर से कहते हैं तब उन पर तरस आता है और ऐसे लोग भी हमारी वृत्ति को अश्रद्धा और नास्तिकता कह कर जनमानस को हमारे खिलाफ बनाने की कोशिश करते हैं। यह लीला हमेशा चलने वाली है ही।

जन्म पत्रिका तैयार कर के जन्म लग्न के अनुसार फल बताने वाले और उस पर विश्वास रखने वाले बहुत लोग हमने देखे हैं। जैसे भूतों पर विश्वास रखने वाले लोगों की बातें जनता विश्वास के साथ सुनती है, वैसे ही ग्रहों के असर की बातें लोग विश्वास रखने के आग्रह के साथ सुनते हैं। अविश्वास करने पर आप पर ग्रहों का शाप उतरेगा ऐसा डर बताने वाले लोग तो होते ही हैं।

कहते हैं चन्द्र के आसपास कोई वायुमण्डल नहीं है। वहाँ गरमी और सर्दी धीमे धीमे नहीं बढती, चन्द्र के ऊपर सूखे महासागर हैं। मरे हुए ज्वालामुखी भी होंगे। जिस किस्म की जीवसृष्टि को हम पहचानते हैं वैसी जीवसृष्टि चन्द्र के ऊपर नहीं है, हो भी नहीं सकती। ऐसे निर्जीव और निष्प्राण चन्द्र में मनुष्य के जैसे रागद्वेषादि होते हैं ऐसा मानना हमारे लिए आसान नहीं है। जो मान सकते हैं उन की श्रद्धा उन्हें मुबारक।

जब लोग कहते हैं कि हमारे जीवन पर चन्द्र का असर होता है तब मेरे मन में तुरन्त विचार आता है कि मैं सजीव, प्राणवान्, चैतन्यमूर्ति हूँ। मेरा असर चन्द्र पर अवश्य होता होगा। उस का हिसाब करने वाले ग्रन्थ हमारे पास क्यों नहीं? जरूर कोई कह सकता है कि ऐसे ग्रन्थ चन्द्रलोक में अवश्य होंगे। मैं ऐसे लोगों से वाद विवाद नहीं करूँगा।

फलितज्योतिष के ग्रन्थ पढ़ कर जो लोग ग्रहों के हमारे जीवन पर होने वाले असर की बातें करते हैं उन पर मेरा विश्वास नहीं है। काकतालीय न्याय से उन की कही चन्द बातें सही निकलें तो भी उन पर विश्वास रखने के लिए मैं तैयार नहीं हूँ।

पचांग में एक अवकहडा चक्र दिया जाता है। उस चक्र की किनारी पर ग्रीक वर्णमाला के अक्षरों के जैसे कई अक्षर लिखे हुए पाये जाते हैं। ज्योतिषी लोग इस अवकहडा चक्र की मदद से नये जन्मे हुए बालक के नाम का आद्यक्षर

बताते हैं। और बालक का गण देव, मनुष्य या राक्षस है यह भी बताते हैं। इन की चर्चा और इन के भविष्य काफी सुनने के बाद मेरा निश्चय हो गया है कि ये सारे ढकोसले हैं। जन्मपत्री देख कर शादियाँ तय करना यह भी बिलकुल फिजूल बात मालूम होती है। जो लोग ज्योतिष को पूछ कर लड़के-लड़कियों की शादी कराते हैं और जो लोग पूछे बिना करते या कराते हैं उन के अनुभव से स्पष्ट होता है कि ज्योतिष की, नक्षत्र और जन्माक्षर की अनुकूलता देख कर किये हुए विवाह अधिक सफल हुए हैं ऐसा कहीं भी अनुभव नहीं है। वर और कन्या के दोनों खानदान का स्वभाव, उन के रस्म रिवाज तथा उन के पारिवारिक इतिहास को देख कर और वर और कन्या के स्वभाव का खयाल कर शादियाँ तय होनी चाहिए। ग्रहयोग की बात बीच में ला कर माँ बाप और दूसरे लोग अपनी सच्ची जिम्मेवारी भूल जाते हैं और मानते हैं कि हम ने ग्रहों की अनुकूलता देख ली अब दूसरी बातें देखने की जरूरत ही क्या?

बालक के जन्म के साथ उस की जन्मपत्री बनाना और उस पर से भविष्य तय करवा कर उस पर विश्वास रखना सचमुच जीवनद्रोह है। अंध हो कर विश्वास रखना और बच्चों के बारे में पहले से अभिप्राय बाँध लेना बालकों के प्रति अन्याय है।

बारिश कब होगी इस का कुछ अन्दाज देने वाला एक विज्ञान है जिसे अंगरेज़ी में मेटीओरालाजी (meteorology) कहते हैं। हमारे देश में किसानों ने दीर्घकालीन अनुभव के बाद और कुछ नये-नये अनुमान उस में जोड़ने के बाद अपना एक भोला ग्रहमान विज्ञान बनाया, जिसे सहदेव भडली-वाक्य' कहते हैं। भोले युग की यह वैज्ञानिक प्रवृत्ति थी। उस की कदर करनी चाहिए। लेकिन जब कोई किसान गाँव के ज्योतिषी से पूछ कर खेत में अनाज बोता है तब वह बुद्धिमानों का काम नहीं करता। विवाह के लिए मुहूर्त ढूँढ़ना, यात्रा के प्रस्थान के लिए ज्योतिषी से मुहूर्त पूछ आना यह एक वहम का ही अंग है।

आसाम के इतिहास में हम ने पढ़ा था कि लड़ाई करने चली फ़ौज के साथ एक ज्योतिषी भी रहता था। उस से पूछे बिना फौज कुछ नहीं कर सकती थी। एक दफ़े सेनापति लाछितफूकन ने देखा कि शत्रुपर धावा बोलने का अनुकूल अवसर आ गया है। और उस ने ज्योतिषी से पूछा। जोशी महाराज ने मीनमेष गिन कर कहा, इस वक्त मुहूर्त नहीं है। ग्रह अशुभ है। बड़ा नुकसान होगा।' सेनापति सयाना था। उस ने जोशी महाराज को धमका कर कहा कि अभी के अभी मुहूर्त निकाल कर दे दो। नहीं तो तुम्हारा सिर उड़ा दूँगा। जोशी

महाराज समझ गये कि ग्रहों के असर से भी बढ़ कर है सेनापति की तलवार का असर। उन्होंने झट मुहूर्त निकाल दिया। सेना उसी क्षण निकल पड़ी।

फलित-ज्योतिष, सामुद्रिक और शकुन आदि वहमों के पीछे कुछ सत्य है या नहीं ऐसे प्रश्नों का उत्तर देना फिजूल है। मैं तो सब से कहता हूँ कि ऐसे वहमों पर विश्वास रखने वाले लोगों के मन पर ग्रहों का कहिए या वहमों का कहिए, बहुत बुरा असर होता है। वे अपनी निर्णयशक्ति खो बैठते हैं। परिस्थिति पहचानने का अपना कर्तव्य वे भूल जाते हैं और अंधविश्वास करने से उन का व्यक्तित्व दया और तिरस्कार का पात्र बनता है। फलितज्योतिष के पीछे पड़ने वाले का पारावार नुक़सान होता है। उन की मनोरचना दयापात्र बनती है और उन के बारे में आदर रखना मुश्किल होता है। ऊपर जिन दो ज्योतिषियों का ज़िक्र मैं ने किया है उन्होंने शुद्ध गणित कर के और फलित-ज्योतिष के ग्रंथ देख कर अष्टग्रहयोग शुरू होने के पहले ही ज़ाहिर किया था कि अष्टग्रही बिलकुल मामूली ढंग का एक सामान्य योग है। न वह अनर्थसूचक है, न उस योग में ऐसा सामर्थ्य है कि मामूली छोटे-मोटे संकट भी पैदा कर सके। अगर जनता ने उन की यह बात मानी होती तो हवन कर के घी जलाने के पीछे हज़ारों रुपये बरबाद नहीं होते। लेकिन अगर मैं जनता से कहूं कि इन दो ज्योतिषियों के निर्णय पर और उन की भविष्यवाणी पर विश्वास रखें तो मेरी सारी भूमिका ही टूट जायेगी। मैं ने गणित किये बिना और ज्योतिषग्रंथ्या से पूछे बिना स्पष्ट किया था कि मैं नहीं मानता कि इस अष्टग्रहयोग के कारण कुछ खास बनने वाला है। फलित-ज्योतिष आदि प्रवृत्ति से हमारे समाज का बड़ा ही नुक़सान हुआ है। इस प्रवृत्ति को छोड़ ही देना चाहिए और मनुष्य को वैज्ञानिक ढंग से जीने का निश्चय करना चाहिए।

लोग कहते हैं कि ज्योतिष में शायद कुछ होगा। हम कहते हैं कि शायद नहीं भी होगा। प्रयोग कर के हर चीज़ को कस कर के देखना चाहिए। अश्रद्धा से मनुष्य जाति का जितना नुकसान हुआ है उस से हज़ार गुना नुकसान अंधश्रद्धा से हुआ है। सब से बड़ा नुकसान तो यही है कि वहमों पर विश्वास करने वाला आदमी छोटा बनता है, डरपोक बनता है। निर्णय करने की शक्ति खो बैठता है और समाज को भी नीचे खींचता है।

जिस किसी को ऐसे विषयों में दिलचस्पी है उस को चाहिए कि वह पहले तर्कशास्त्र और अनुमानशास्त्र अच्छी तरह सीखें। डिडक्टीव लॉजिक और इंडक्टीव लॉजिक—निगमनिक तर्क और आगमनतर्क और हेत्वाभास तीनों का

अच्छी तरह से अध्ययन करे और उस के बाद वैज्ञानिक निष्ठा से हजारों और लाखों उदाहरणों की जांच कर के निर्णय पर आवे और लोगों के सामने पूरा मसाला रजू करे। अगर कोई बात सही भी हो तो भी जब तक उस की जांच पड़ताल नहीं हुई है वह वहम ही है और उस का स्वीकार अंधश्रद्धा से करना खतरनाक है।

(१ नवम्बर १९६२)



भारत का अध्यात्म

भारत का अध्यात्म

प्रश्न—विदेशा से जो चुनिन्दा लोग आते हैं वे कहते ह कि "भारत में एक वातावरण ह जो और कहीं नही ह। हम तो भौतिकवादी बन कर बहुत गुमराह हुए हैं जीवन के सभी गूढ और मौलिक तत्त्व खो बठे हैं। हमारे पास न चन है, न शान्ति। तुम्हारे पास चैन और शान्ति दोनो हैं। इसीलिए आँखें भारत पर जमी हुई ह। तुम क्यो हमारे पोछे चले हो? भारत अगर अपना अध्यात्म खो बठा, तो हम बाकी दुनिया का क्या होगा?"

उत्तर—जब तक भारत आजाद नहीं था तब तक यह सवाल पूछने वालों की सख्या कम थी। हमारे अध्यात्म को लोग ख्वाब कहते थे, खब्त कहते थे, हवाई तरग कहते थे और कभी-कभी जीवनद्रोही परलोक-परायणता भी कहते थे।

चद साम्राज्यवादी खुल्लमखुल्ला हमें कहते थे कि, "यह धर्मविभाग अच्छा है तुम नाक पकड कर प्राणायाम और ध्यान कर के अध्यात्म की बात सोच लो। हम तुम्हारे देश में राज करेंगे। तुम्हारा रक्षण करेंगे। और जिस की तुम्हें परवा नहीं ह उस धन को इकट्ठा करेंगे।"

और भी एक पक्ष था जा आपस में कहता था कि, "भारत के लोगों को उन के सुख-स्वप्न से जगाना हमारा काम नही है। हम उन के अध्यात्म की मुँह भर के स्तुति करें तो वे राजी होते हैं हम पर विश्वास रखते हैं और फिर भारत में राज करना हमारे लिए आसान होता है।"

हमारे यहाँ और भी एक वर्ग के लोग आते थे जिन्हें भारत का अध्यात्म भारत का योग, भारत की मत्र शक्ति और यहाँ की गूढ विद्या आकर्षक लगती थी। जीवन के सिद्धात के तौर पर नहीं किन्तु जिज्ञासा और कुतूहल के तौर पर ही वे यहाँ की बातों की खोज करते थे। उन्हें यह भी आशा रहती थी कि भारत की इस प्राचीन विद्या में से हम जरूर कुछ ऐसा निकाल सकेंगे जो यहाँ के लोग नहीं जानते ह। फिर तो हम इन लोगों के देश पर ही नहीं, इन के

बाहरी जीवन पर ही नहीं किन्तु इन के हृदय पर भी राज्य कर सकेंगे। ऐसे लोग भी भारत की विरासत के बारे में गौरव की बातें कहते हैं।

जब से भारत स्वतन्त्र हुआ है, यूरॅप अमेरिका के लोगों का एक ही चिन्ता है कि इतना बडा देश कहीं साम्यवादी कम्युनिस्ट न बन जाय। रशिया, चीन और भारत ये तीन ही ऐसे देश हैं जिन की लोकसंख्या असीम है। अगर ये तीनों साम्यवादी बन गये तो बाकी दुनिया की खैरियत नहीं। इन में से दो तो साम्यवादी बन चुके। भारत साम्यवादी बनने से आज इनकार करता है। उसे रशिया का जडवाद पसन्द नहीं। इसलिए इसी पर जोर दे कर भारत का अध्यात्म हम को कायम रखना चाहिए। रशिया के खिलाफ जो दीवार खडी करनी है उस में भारत के अध्यात्म का उपयोग सब से ज्यादा है।

जो लोग केवल देशाभिमान के कारण अध्यात्म का नाम लेते हैं उन से कोई मदद मिलने वाली नहीं। जो सचमुच अध्यात्मवादी हैं उन्हीं की शक्ति बढानी चाहिए।

यह हो गयी इस सवाल की एक तस्वीर। अब दूसरी ओर देखें। चाहे जिस उद्देश्य से कही हो अगर इन लोगों की बात सही है और भारत सचमुच अध्यात्म-परायण है तो उसे बढ़ावा देना ही चाहिए। हमारे शत्रु भी हमारी जिस बात पर हमारा ध्यान केंद्रित करना चाहते हैं उसे खतरनाक समझ कर उसे छोड देना यह होगा पश्चिम का अन्ध और विपरीत विकृत अनुकरण। इस से भी हमें बचना है।

जब तक युरॅप वैभव के शिखर पर था तब तक उन की संस्कृति से और उन की जीवन दृष्टि से हम चकित हुए थे। अब देखते हैं कि उन की वह संस्कृति संघर्षमूलक है और विनाश की ओर जा रही है। इसलिए उन का अन्ध अनुकरण तो करना ही नहीं।

हम यह भी सोच रहे हैं कि क्या पश्चिम का इतिहास पढने के बाद हम उन का पुरुषार्थ और अपने अध्यात्म का संयोग नहीं कर सकते? क्या अध्यात्म के लिए विज्ञान और उस से मिलने वाली सहूलियतें छोड ही देनी चाहिए?

हम और भी सोचते हैं कि अगर हम में विदेशी लोगों को आकर्षित करने वाला और परम शान्ति देने वाला अध्यात्म है तो हमें उस का अनुभव क्यों नहीं होता? हमारा आलस्य हमारी जडता हमारी परावलम्बिता, आपस-आपस की क्षुद्र ईर्ष्या, पशुओं के समान [illegible] की सन्तान बुद्धि और निम्न कोटि तक पहुँचा हुआ जीवनस्तर क्या यही हमारा अध्यात्म है? अगर हम में अध्यात्म है तो उस की सुगन्ध हम क्यों नहीं अनुभव करते?

हमारी सामाजिक व्यवस्था में जो अन्याय, उत्पीडन और शोषण चलता है वह तो अध्यात्म नहीं है। चन्द जातियाँ हमेशा के लिए दबी रहती हैं यह भी अध्यात्म नहीं है। धर्माभिमान के नाम जो अत्याचार होते हैं वह तो अध्यात्म हरगिज नहीं। दुनिया कसी भी चले हम अपने भक्तिस्तोत्र गाते रहेंगे। नाक पकड कर प्राणायाम करेंगे और गूढ शक्तियों की बातें करते ही जायेंगे तो क्या हमारा अध्यात्म सुरक्षित रहेगा ?

जापान चीन और भारत जब अपनी सादगी में और अपने अध्यात्म में सन्तुष्ट थे तब ये पश्चिम के लोग हमारे बीच आये उन्होंने अपने हाथ-पैर फैलाये और हम पर अपना आधिपत्य जमा लिया। तब हमारे अध्यात्म ने हमारी रक्षा नहीं की। २०० ४०० साल हर तरह की विडम्बना सहन की और उन को हम पहचानने लगे। जो-जो चीजें वे यहाँ ला कर बेचते थे वह सब हम यहां अब तयार करने लगे। तब उन की पकड कम हो गयी।

अगर हम रेल, मोटर, बस और साइकिल पर सवार होना छोड दें तब तो हमारा अध्यात्म शायद सही होगा। साइकिल से ले कर हवाई जहाज तक का व्यवहार तो हम बढ़ा रहे हैं। तब अध्यात्मवादी हम लोग ये चीजें दसगुना दाम पर विदेश से खरीदें या अपने देश में ही बनावें ? दसगुना दाम दे कर जब हम विदेश से यन्त्र आदि खरीदते हैं तब उन चीजों के साथ हम परावलम्बन भी खरीदते हैं और परावलम्बन कोई आध्यात्मिक चीज नहीं है। "स्वातन्त्र्यात लभते परम्" हर बात में जब हम स्वाश्रयी स्वतन्त्र होंगे तभी हमारा अध्यात्म खिलेगा।

इस सारी दलील का मतलब यह नहीं कि हम पश्चिम का ही अनुकरण करें। इस का अर्थ इतना ही है कि हम आँखें खोल कर, परिस्थिति देख कर, अपनी बुद्धि चलाकर तय करें कि हमारे लिए क्या अच्छा है।

अध्यात्म की भी युगानुरूप नयी आवृत्ति हो सकती है। समाज के नेता और अध्यात्म के प्रयोगवीर स्वेच्छा से अकिंचन बनें तपस्या करें अन्न-वस्त्र का उपयोग कम से कम करें यह बात तो समझ में आती है। लेकिन सामान्य लोगों में अगर अकाल और भुखमरी रही तो अध्यात्म तो क्या मामूली सदाचार भी उन में नहीं रहेगा। इसी लिए गान्धीजी कहते थे कि रोटी ही भूखे का भगवान है। करोडों के लिए रोटी का प्रबन्ध करना यही आज का सच्चा अध्यात्म है।

जिस तरह आरोग्य यौवन, आत्मविश्वास पराक्रम आदि का अनुभव

मनुष्य को अंदर से होता रहता है इसी तरह अध्यात्म की भी बात है। हमें अपना अध्यात्म दीख न पड़े और विदेशियों को वह दीख पड़े यह नामुमकिन बात है।

हाँ, जो चीज हम ने हजम की है, जो चीज हमारे खून में है, हड्डियों में है, हमारा स्वभाव बन गयी है उस की ओर हमारा ध्यान नहीं जाता, विदेशियों का जा सकता है। ऐसी चीजों को खोने पर ही हम उस का महत्व महसूस करने लगते हैं। और अगर अंधापा आ गया, जड़ता और बधिरता आ गयी तो कीमती वस्तु खोने पर भी वह बात हमारे ध्यान में नहीं आयेगी।

हमें हमारी अध्यात्म की पूँजी खोनी नहीं है। योग से प्राप्त होने वाली सिद्धियाँ अध्यात्म नहीं है। विज्ञान के प्रयोग से मिलने वाली सिद्धियाँ और ज्ञान ध्यान के योग से मिलने वाली सिद्धियाँ एक सी अन-आध्यात्मिक हैं।

अध्यात्म की सच्ची बुनियाद है सदाचार, कारुण्य, प्रेम सेवाभाव और विश्वात्मक्य। इस में से त्याग और बलिदान समय-समय पर अपने-आप प्रकट होते हैं, और क्योंकि अध्यात्म-दवी तेजस्वी शक्ति है, इस लिए उस में से कुछ सिद्धियाँ भी अपने आप पैदा होती हैं।

हमारी जनता में हम मानते हैं इस से अधिक ईश्वरनिष्ठा है, सन्तोष है क्षमावृत्ति है, जीवदया है। यह सारा अध्यात्म के लिए बहुत ही कीमती कच्चा मसाला है। इसी के जोरो महात्माजी निराश राष्ट्र में उत्साह और आत्म विश्वास पैदा कर सके। उसे त्याग और बलिदान तक ले जा सके। इसी के जोरो वे देश के बुद्धिमान् लोगों को सेवा की दीक्षा दे सके।

लेकिन यह कहना कि पश्चिम की विद्या पा कर हम जड़वादी बन गये अर्ध सत्य ही है। हम ऊपर से अध्यात्मवादी और अन्दर से केवल भौतिकवादी ही नहीं किन्तु जड़वादी बने तभी तो हम परतन्त्र बने, तभी तो विदेश के लोग यहाँ आ कर अधिकार जमा सके। हमारे राष्ट्रीय दुर्गुण अँगरेजों के पहले ही नहीं किन्तु पठान मुगल आदि के पहले भी काफी बढ चुके थे। और अबुद्धि का दुर्गुण तो सारे समाज में फैला हुआ था ही। इसी लिए हम राष्ट्रप्रेम खो बैठे, स्वजनों का द्रोह करने को तयार हुए और अज्ञानमूलक जड़ता के कारण देश का नेतृत्व खो बैठे।

अब भगवान् की कृपा से और महात्माजी की शिक्षा से हम आजाद हुए हैं। अब हमें हमारा सामाजिक जीवन अध्यात्म की बुनियाद पर हमारी राष्ट्रीय आवश्यकता के अनुसार तयार करना होगा। ज्ञानोपासना, कौशल्य और निपुणता मनुष्यप्रेम, अखण्ड उद्योगिता सादगी और निर्भय अहिंसा यह है आज का

हमारा अध्यात्म। विदेश के लोग अगर ये बातें हमारे राष्ट्रीय जीवन में, लोक जीवन में देखते हैं तो वह खुशी की बात है।

ध्यान, चिंतन, हृदयशुद्धि, वैराग्य और आत्मौपम्य इन बातों का महत्त्व सर्वोपरि है। ऊपर बतायी हुई दो किस्म की तैयारी होने के बाद, सेवायोग और ध्यानयोग की बुनियाद पर हम पूर्णयोग की ओर जरूर जा सकते हैं।

हम नहीं मानते कि बाकी की सारी दुनिया अध्यात्मविहीन है और भारत ही अध्यात्म का खजाना है। इस में शक नहीं कि हमारी विरासत सब से बड़ी है लेकिन उस का खोया हुआ अधिकार हमें फिर से पाना है। आज की शिक्षा में बाकी अनेक शिक्षा मिलती है। अध्यात्म की भयानक उपेक्षा हो रही है इस में शक नहीं। राष्ट्र को चाहिए कि वह शिक्षा की बुनियाद ही बदल दे।

(११ मार्च १९५७)

अध्यात्म और चमत्कार

बचपन का बहुत बरसों का मेरा अनुभव है कि जहां जहां बहुत दिन तक बारिश नहीं हुई हो, मेरे जाने से बारिश हो जाती थी। बचपन से मुझे यात्रा का बड़ा शौक था। इस लिए ऊपर का अनुभव एक नहीं अनेक जगहों का और अनेक बरसों का है।

लोग मेरा अभिनन्दन करते कहते थे कि 'आप का आगमन बड़ा शुभ है मुबारक है। आप के आने से ही बारिश हो गयी। हम बड़े परेशान थे कि बारिश कब होगी। आप सरीखों के पुण्य आगमन से हमारा दुःख दूर हो गया।

ऐसी बातें सुन कर अच्छा लगता था। लेकिन न बचपन में न आज उन का कथन मुझे सच्चा लगा है। लोगों की भोली श्रद्धा देख कर हँसी आती थी। श्रद्धा की तो मैं क़दर करता हूँ। लेकिन जहाँ न बुद्धि का उपयोग होता है न तर्क का, न दीर्घकालीन अनुभव का ऐसी चीज को मैं श्रद्धा कहने को तैयार नहीं हूँ। वह निरा भोलापन है, उस की कोई नैतिक क़ीमत नहीं है। और उस में खतरा तो बहुत रहता ही है। इस लिए ऐसे भोलेपन को मैं ने कभी निर्दोष नहीं माना है।

मैं ने यह भी देखा है कि हमारे देश के अनेकानेक बुजुर्गों के जीवन में ऐसी भोली श्रद्धा काम करती है और वे कभी-कभी नाहक़ खुशी में आते हैं और

उतने ही नाहक मायूस भी हो जाते हैं। और जो लोग ऐसी अन्धी श्रद्धा को नहीं मानते उन को अति-बुद्धिवादी और करीब-करीब नास्तिक माना जाता है।

इस में शक नहीं कि इस सृष्टि का व्यापार जिन कानूनों से चलता है उन को पूरी जानकारी हमें नहीं है। पदार्थविज्ञान में और भौतिक शास्त्रों में सब क़ानून भी हम नहीं जानते। और भौतिक विज्ञान में दुनिया का समस्त ज्ञान आ जाता है यह भी बात नहीं है। इस लिए दुनिया में असंख्य बातें हैं जिन्हें हम नहीं जानते या जिन की मीमांसा हम नहीं कर सकते। लेकिन जहाँ-जहाँ हम कुछ समझ नहीं पाते वहाँ तुरंत अध्यात्म देखना, गैबी या दैवी शक्ति का अनुमान करना शुद्ध जड़ता है। इस में शक नहीं कि ईश्वर ही सब कुछ करने कराने वाला है। लेकिन इसी सिद्धान्त की अगर हम रट लगायें, तो न हम दुनिया को समझ सकेंगे, न विज्ञान में आविष्कार कर सकेंगे। बारिश क्यों हुई? ईश्वर ने चाहा इस वास्ते!

किसी माता ने गांधी भगवान् से प्रार्थना की कि मुझे एक बच्चा हो जाय। उसे बच्चा हुआ। उस ने बच्चे को ला कर गांधीजी के पाँवों पर रखा और गांधीजी के खादी कार्य के लिए कुछ दक्षिणा भी दी। गांधीजी ने खादीकार्य के लिए मदद तो ली, लेकिन माता को समझाया कि उन में कोई ऐसी करामात नहीं है, जिस से लोगों को बच्चे मिल जायँ। लेकिन ऐसी बातों में लोग महात्माजी के शब्द भी लेने को तैयार नहीं होते। महात्मा लोग हमेशा चमत्कार का इनकार करते हैं। लेकिन दुनिया का अनुभव है कि जहाँ महात्मा हैं वहाँ चमत्कार होते ही हैं।

अब इस का दूसरा पहलू देखिए। महात्माजी किसी गाँव में गये और वहाँ उन्होंने अस्पृश्यता निवारण का जोरों से उपदेश किया। गांधीजी के उत्साही अनुयायियों ने सहभोजन का कार्यक्रम भी रखा जिस में ब्राह्मणों से ले कर हरिजनों तक बहुत से लोगों ने साथ बैठ कर भोजन किया।

थोड़े ही दिनों में उस गाँव में छूत का रोग उभर आया और बहुत से लोग मर गये। फिर तो पूछना ही क्या? रूढ़िवादी सनातनी लोग कहने लगे, यह देखिए आप के महात्मा के आन्दोलन का फल! उन्होंने लोगों को अधर्म सिखाया और तुरन्त उस का फल मिल गया। कलियुग हुआ तो भी क्या? भगवान् सोया हुआ नहीं है। इस हाथ से करो, और उस हाथ से भुगत लो। अगर हमारे लोग बेवकूफ बन कर सहभोज नहीं करते, सब गोलमाल नहीं करते तो गाँव के इतने लोग क्या मर जाते? महात्माजी का माहात्म्य रोज एसे चमत्कारों का बखान कर कहा जाता है।

बिहार में बडा भूचाल हुआ। और जानमाल का नुकसान कल्पनातीत हुआ। गान्धीजी का बिहार, श्रद्धालु बिहार, उसी पर यह आफत क्या आ पडी ?

लोग कुछ भी कहें उस के पहले महात्माजी ने घोषणा की कि भारत में अस्पृश्यता का पाप बना इसी लिए भूचाल आ गया। लोग गान्धीजी का वचन–महात्माजी का वचन श्रद्धा से सुन गये। लेकिन गुरुदेव रवीन्द्रनाथ ठाकुर से रहा न गया। उन्होंने स्पष्ट तौर पर गान्धीजी के कथन का विरोध किया और लोगों में एक वहम चलाने की गान्धीजी की इस कारवाई के प्रति अपना विरोध प्रकट किया।

मैं ने भी गान्धीजी के पास अपने ढंग से शिकायत की। उन्होंने मुझे एक ही सवाल पूछ कर मेरा मुँह बन्द कर दिया कि क्या तुम मानते हो कि भगवान् की इस दुनिया में भौतिक जगत अलग है और नैतिक जगत अलग है और दोनों का कुछ परस्पर सम्बन्ध नहीं है? दुराचार का कुछ भी असर भौतिक जगत पर नहीं हो सकता?

मैं जानता हूँ कि लोगों के मन में ईर्ष्या, द्वेष बढने से उन के पेट में व्रण होते हैं और पेट का दर्द शुरू होता है। मैं जानता हूँ कि जिन के मन में सब के प्रति सद्भाव है उन के ऐसे स्वभाव का उन के स्वास्थ्य पर अच्छा असर पडता है। लेकिन नैतिक और भौतिक जगत की एकता को मानना अलग चीज है और झट झट अन्धे अनुमान निकालना अलग बात है।

जब गान्धीजी ने 'भारत छोडो' आन्दोलन शुरू किया तब देश में महँगाई बढी, बंगाल की ओर असंख्य लोग अकाल से मरे। तब कई 'श्रद्धालु' लोग कहने लगे कि अंग्रेज सरकार का पुण्य क्षीण नहीं हुआ है। इस सरकार का आत्यन्तिक विरोध गान्धीजी ने किया, इसी लिए यह सारी आफत आ पडी है। गान्धीजी का आन्दोलन भगवान् को मंजूर नहीं है।

अब नयी बात लीजिए। श्री विनोबा भावे काश्मीर पहुँचे और अभूतपूर्व बाढ काश्मीर में आयी। खेती का नुकसान हुआ। मवेशियों का नुकसान हुआ। लोग परेशान हो गये। तब किसी ने कहा कि सन्त पुरुष के आते कल्याण होना चाहिए था। उस की जगह यह अकल्याण हुआ। विनोबाजी का आना शुभ नहीं है। लोगों के मन ऐसे अनुमान—कैसे भी अनुमान मानने को तयार होते ही है। विनोबाजी का उपदेश लोक-कल्याणकारी है या नहीं इस का बुद्धि से, अनुभव से या हृदय से विचार करने का खयाल लोगों ने छोड दिया और वे वहम का शिकार हो गये।

विनोबा समय सूचक ह हो। उन्होंने कहा, 'मैं ही एक बाढ़ हूँ। मेरे सामने यह छोटी बाढ कुछ नहीं ह।'

अगर सन्त का नाम लेने से, उस का स्पर्श करने से, उस के आशीर्वाद पाने से भला हो सकता ह, तो सन्त-समागम से अगर बरबादी होती हो तो सन्त के उपदेश की भी कोई कीमत नहीं रहती।

लोगों में वहम और अबुद्धि फली ह। स्वार्थवश उन्हें प्रश्रय नहीं देना चाहिए और उन से मिलते तात्कालिक लाभ के लोभ में नहीं पडना चाहिए।

हमारा दृढ़ अभिप्राय ह कि अध्यात्म की बातों के साथ, धर्म की बातों के साथ चमत्कार और करामात का सम्बन्ध नहीं जोड देना चाहिए। धर्म में गूढ़ बातें अवश्य होती हं। हमारे लिए ये नयी बातें नहीं हं। हजारों बरसों का हमारा अनुभव ह। गूढ बातें सामने रख कर लोगों की श्रद्धा बढ़ाने की कोशिश से होने वाले लाभ हानि दोनों हमारे आजमाये हुए ह। उस पर से हम कह सकते हैं कि इन चीजों से लाभ कम होता ह, नुकसान ज्यादा। सब सन्तों ने भी कहा ह कि जो चमत्कार के पीछे पड़ता है वह साधु भी गिरता है और समाज भी।

(८ सितम्बर १९५१)

प्रकीर्ण

क्या हम अध्यात्मवादी हैं ?

'पश्चिम के लोग जड़वादी हैं भारत के लोग अध्यात्मवादी हैं—ऐसा अक्सर कहा जाता है। इस में आप की राय क्या है ?' ऐसा मुझे विदेश में जगह-जगह पर लोग पूछते थे। मैं उन्हें कहता था कि भारत आज तक परतन्त्र रहा। आज भारत पेटभर खाने के लिए अन्न नहीं पैदा कर सकता। लेकिन अन्न खानेवाली प्रजा को बढ़ा रहा है। देश में रोग बहुत हैं। उन का पूरा निवारण नहीं हो रहा। झूठ, खून, चोरी, जारी, दगाबाजी आदि गुनाहों की संख्या और देशों की अपेक्षा भारत में कम नहीं है। भारत में चन्द लोग दूसरे लोगों को दबाकर अपना उल्लू सीधा करते हैं। ज्ञान का प्रचार जितने जोरों से होना चाहिए, उतना नहीं हो रहा है। यह सब देखते हम किस मुँह से कहें कि हम जड़वादी नहीं हैं, अध्यात्मवादी हैं ? और देश के लोग जैसे होते हैं, वैसे ही हम भी हैं।

फर्क इतना ही है कि हमारे देश में चन्द अध्यात्मवादी उच्चकोटि के हो गये। उन की परम्परा अबाधित रही है और सन्तवाणी के नित्य प्रचार के कारण लोगों के कानों तक सदाचार की महत्ता और अध्यात्म की श्रेष्ठता पहुँचती रही है। हम अगर पुरुषार्थ में कुछ शिथिल हैं तो सन्तोष वृत्ति के कायल भी हैं।

इस लिए जब कोई अध्यात्मवीर या तेजस्वी पुरुष त्याग, बलिदान, संयम और आत्मशुद्धि की बात करता है तो हमारे लोग उस के प्रभाव में आकर उस की बातें मानने को तैयार हो जाते हैं।

अध्यात्म की बातें नित्यपरिचय की होने के कारण उन बातों को समझना हमारे लिए आसान है और जब कोई श्रेष्ठ महात्मा या सन्त हमारे सामने कोई कार्यक्रम बताता है तब हम उस की बातें मानने को तैयार हो जाते हैं। स्वभाव की यह अनुकूलता हमारे पास है। इस की क़दर अगर दुनिया करे तो वह ठीक होगा। लेकिन सामान्य चारित्र्य में हम औरों से श्रेष्ठ हैं ऐसा दावा हम हरगिज नहीं कर सकते।

दूसरी एक बात सोचने लायक है। तपस्या, ध्यान, मन्त्र-साधना और योग

आदि आध्यात्मिक साधना में हमारे कई लोगों ने भले-बुरे अनेक प्रयोग कर देखे हैं। इस क्षेत्र में चन्द लोगों ने सिद्धि पायी, तो चन्द लोगों ने सिद्धि का दावा कर के लोगों को ठगने का धंधा चलाया। अध्यात्म-साधना हमारे देश में अनेक व्यक्तियों ने चलायी है। उन की शक्ति का परिचय कभी-कभी मिलता है। उन का उपशम और उपशम से दृढ़ होने वाला चारित्र्य दुनिया को चकित कर सकता है। पश्चिम के लोगों के पास अगर किसी चीज का अभाव है तो वह है उपशम का। उन का पुरुषार्थ और उन का वासना प्रकोप उन्हें उपशम के पास आने नहीं देता। लेकिन अब वे उपशममूलक चारित्र्य और उपशम मूलक संस्कृति की कदर करने लगे हैं। इस लिए वे भारत की ओर कुछ कुतूहल से, कुछ श्रद्धा से और कुछ लाभ से देखने लगे हैं। इस में चन्द लोगों का भ्रम दूर हुआ है। चन्द लोगों की अनुभवमूलक श्रद्धा बढ़ी है और वे हमारी संस्कृति की हद से ज्यादा तारीफ करते हैं। हम तो उपशम और पुरुषार्थ दोनों का समन्वय करना है और वह केवल व्यक्तिगत जीवन में नहीं, किन्तु सामाजिक पैमाने पर और वैज्ञानिक ढंग से। लोगों की स्तुति और अवास्तव श्रद्धा हमारे लिए पोषक नहीं बन सकेगी। हमारी एकांगिता तो हमें दूर करनी ही चाहिए और लोकोन्नति के आदर्श में शिथिल नहीं होना चाहिए।

(३० सितम्बर १९५८)

निर्वैर या निर्वीर्य

हमारे धर्मशास्त्रों में हरेक व्यक्ति के लिए, हरेक वर्ण के लिए और हरेक प्रसंग के लिए सूक्ष्म नियम और नसीहतें हैं। व्यवहार-दृष्टि और धर्म दृष्टि दोनों का उन में ऐक्य दीख पड़ता है। भारतीय समाज शास्त्र के अध्ययन के लिए इन स्मृतिग्रन्थों का मसाला बहुत कीमती है।

लेकिन इन में कभी कभी एक वृत्ति देख कर चित्त को ग्लानि होती है। जगह-जगह पर नसीहतें पायी जाती हैं कि खतरे को टाल दो, किसी आश्रय का सहारा लो जान बचा लो, चाहे आत्म-तेज का कुछ भी हो। यह नसीहत ब्रह्मचारी गृहस्थ वानप्रस्थ और संन्यासी-यति सभी को दी गयी है। मृगया शील राजा विवाहेच्छु तरुण, तिजारत के हेतु जंगल की यात्रा करने वाला वणिक् सभी को बताया गया है कि जान खतरे में न डालो।

कहा गया है कि ब्रह्मचारी (विद्यार्थी) को पेड पर नही चढना चाहिए, जलाशय में तैरना नही चाहिए।

कन्या के पिता को नसीहत देते हुए धर्मशास्त्र कहता है कि जिस के दिल में वैराग्य भरा है ऐसे से लडको की शादी नही करनी चाहिए। यह तो ठीक। लेकिन आगे बढ कर कहा गया है कि जो शूर है उसे भी कन्या नही देनी चाहिए। किसी जबरदस्त ने रास्ते में पकड लिया तो झूठ बोल कर बच जाने में कोई हर्जा नही है। सकट में फँसने पर कोई धर्मान्तर करे तो भी धर्मशास्त्र प्रतिकूल नही जायेंगे।

गृहस्थाश्रम के भोग विलास के कारण जीवन में जो कमजोरी आ जाती है उसे दूर करने के लिए और व्रतपालन की दृढता बढाने के लिए वानप्रस्थ की योजना है। सन्यास की वह पूर्व तैयारी है। ऐसे वानप्रस्था को भी स्मृति सलाह देती है कि ये कलियुग के दिन है। जगल में जा कर रहने पर कोई म्लेच्छ राजा तक्लीफ देगा। स्वदेशी राजा रक्षण नही कर सकेगा। इस लिए अपने गाँव के आसपास के किसी बगीचे को अरण्य मान लेना और वहा आराम से रह जाना और अपने रिश्तेदारो से ही भिक्षा माग लेना।

अब सन्यास धर्म ले लें।

सन्यासी तो निर्भयता की मूर्ति। धर्म प्रचार के लिए उसे निर्भय हो कर सब जगह पहुँचना चाहिए। अमेरिकन राष्ट्रसेवक टॉमस पेन ने कहा था। 'My home is where Liberty is not' जहा आजादी नही है वही मेरा स्वदेश है। यानी उसे स्वतन्त्र करने के लिए मर मिटना ही मेरा स्वधर्म है।" सन्यासी में ऐसी वृत्ति होनी चाहिए। सन्यासी याने पाप, अनाचार प्रजापीडन, आलस्य अनास्था इत्यादि मानवशत्रु के खिलाफ प्राणों की परवा किये बिना लडने वाला योद्धा। ऐसों को स्मृति कहती है—"जिस प्रदेश के लोग नास्तिक है, उद्दण्ड है जहाँ भिक्षा मिलना मुश्किल हो गया है, ऐसे प्रदेश में नही रहना चाहिए वहाँ जाना भी नही चाहिए। जहा लडाई चलती हो, हत्याकाण्ड चलता हो अकाल पडा हो, वहाँ सन्यासी को नही जाना चाहिए।"

क्या इस तरह का देहरक्षा धर्म सिखाने के लिए धर्मशास्त्र की जरूरत है?

शान्ति के दिनों में राजा लोग मृगया करते थे। उस का असली हेतु था लोगो की खेती और उन के मवेशियो का रक्षण करना। इस बारे में भी धर्मशास्त्र का विवेक कहता है कि अगर शिकार के लिए जाना है तो जहा रथ उलट न जाय ऐसी समान भूमि देख कर या बनवा कर वहाँ मधुर मृगया व्यायाम करना चाहिए। राजा को अगर पुत्र सतति नही है तो उसे लडने नहीं जाना

चाहिए। ऐसी फेहरिस्त कहाँ तक बढ़ायें? अपनी जान खतरे में डालने के परम धर्म का इस तरह लोप ही हो गया। निर्भय निर्वैरता का आदर्श टूट गया और निर्वीयता आयी।

(जनवरी १९६०)

सारी दुनिया कब्रस्तान न बन जाय

जब अँगरेज यहा से अपना राज छोड़ कर गये तब शुरू से हर बात को सोच कर, वे व्यवस्थित रूप से ठीक कर गये। मसलन सरकारी दफ्तरों में गुप्त पत्रव्यवहार था उसे या तो उन्होंने नष्ट किया या उसे अपने साथ ले गये। जो लोग पीछे रहे उन को भी बात उन्होंने सोच ली। जिन को पेंशन आदि मिलती थी उन का भी प्रबन्ध किया। रेलवे चलाने वाले युरोपियन कम्पनियों ने अपने हित का प्रबन्ध किया। बड़ी-बड़ी व्यापारी कम्पनियों ने अपनी दुकानें बेच डाली। कहीं भी नुक़सान नहीं होने दिया।

यहाँ तक कि जाते समय उन्होंने अपने लोगों के कब्रस्तान की बात भी सोची। और उसे सोचने तनिक भी बेठमल्लापन प्रदर्शित नहीं किया। उन्होंने अपने क़ब्रस्तानों की फ़ेहरिस्त बनायी। उन में से जो जो हिफ़ाजत के लायक थे उन की रक्षा के लिए अपनी ओर से प्रबन्ध किया और जिन की हिफ़ाजत वे नहीं कर सकते थे या उन को जरूरी नहीं लगी उन के लिए उन्होंने तय किया कि उन को फिर से कुदरत का रूप लेने दिया जाये—They should be allowed to revert to nature—यानी वहाँ के पत्थर हटाये जायें अथवा कोई उठा कर ले जाय तो उस का परवा न की जाये। कब्रस्तान की जगह एक दफ़ा छोड़ दी फिर उस का कुछ भी हो। उस में हल चला कर कोई खेती करे कोई वहाँ पर मकान बना दे कुछ भी करे।

हम लोग भी ऐसा ही करते हैं लेकिन विचारपूर्वक नहीं। मात्र अनास्था से सब कुछ होने देते हैं। कोई समझ-बूझ कर करने जाये तो उस का घोर विरोध करते हैं। या देखा जाय तो दिल्ली के इर्दगिर्द राजधानियों का ही एक बड़ा क़ब्रस्तान है। जहाँ खोदें क़ब्रस्तान की ईंटें पायी जाती हैं। बनारस में ही नहीं अनन्त जगह पर मस्जिद-खोदते मंदिर पाये जाते हैं। वर्धा के पास पवनार में भी ऐसा हुआ है। मैं एक ऐसा ज्गह जानता हूँ कि जहाँ के हिन्दू मंदिर

गिर गये थे। वह जगह मुसलमानो ने खरीद ली। मन्दिर के पत्थर हटाकर वहा पर उन्होंने एक मदरसा बनाया। आसपास के सब लोग जानते थे कि यहा मन्दिर था। जिस के गिर जाने के बाद मुसलमाना ने यह जगह खरीद ली है और मन्दिर की जगह एक मदरसा शुरू किया है। यह भी नही कि वहाँ मुसलमानों का राज था और हिन्दू दबे हुए थे। वहाँ एक हिन्दू राजा का ही राज था। ऐसे स्थान पर किसी के दिल में आ जाये तो हिन्दू-मुस्लिम झगडा पैदा करना कोई कठिन बात नही है। कई मुस्लिम क़ब्रस्तान ऐसे हैं कि जो अनास्था से धीरे-धीरे टूट जाते हैं। लोग उस की ईटें फेंक देते हैं। दस-बीस बरस के अन्दर उन का नामोनिशा भी नही रहता है। लेकिन अगर कोई सोचे कि उस क़ब्रस्तान की हिफाजत तो नही हो रही है, कोई इस का मालिक नही है, नाहक़ जमीन रुकी हुई है, और उन पत्थरों को हटा दे तो तुरन्त झगडा शुरू हो जायेगा और शायद दो चार खून भी हो जायेंगे। ऐसा झगडा होने के बाद चन्दा किया जायेगा, उस क़ब्रस्तान की मरम्मत होगी और वह पीर की जगह कहलायेगी।

मैंने सुना है कि गोवा में जब रोमन कॅथलिक पादरियों का जोर था तब कई दुराचारी ईसाई लोग हिन्दुओ पर सितम ढाते थे और अगर हिन्दुओ ने, तंग आ कर उस दुराचारी को मार डाला तो तुरन्त कॅथलिक पादरी उस आदमी को धर्मात्मा—शहीद बना कर उस के मृत्यु की जगह एक क्रास खडा कर देते थे और उस आदमी के नाम को सन्तमालिका में जोड देते थे।

कुछ भी हो अब हमें इस बात को सोचना चाहिए कि मरे हुए लोगों के नाम कितनी जगह रोकी जाये? एक तरीका यही है कि सब क़ब्रस्तान, स्मशान भूमि पर टॅक्स लगाया जाये। अगर टॅक्स देने वाला कोई समाज या व्यक्ति न मिले और सरकार को भी वह चीज महत्त्व की न लगे तो उस स्थान को तुरन्त प्राकृतिक रूप में परिवर्तित किया जाना चाहिए। लावारिस जगह का बोझा समाज पर नाहक़ का नही रहने देना चाहिए।

यह विचार नया है मुल्गामी है। नया है इसीलिए चन्द लोगो को विचित्र सा लगेगा। इस का अमल होने पर लोगो को अच्छा लगेगा और फिर लोग आश्चर्य करने लगेंगे कि ऐसी चीज हमें इस से पहले क्यों न सूझा।

(सितम्बर १९१०)

श्राद्ध

प्रश्न—श्राद्ध के बारे में आप के क्या विचार है? कहते हैं कि बद्री धाम में ब्रह्मकपाल शिला पर एक बार श्राद्ध करने से सब पितरों को मुक्ति मिलती है और दुबारा श्राद्ध करने की आवश्यकता नहीं रहती। आप की 'हिमालय की यात्रा' में भी इस बात का जिक्र है। कुछ लोग वहाँ श्राद्ध करने के बाद भी श्राद्ध करने में मानते हैं। आप का अभिप्राय हम जानना चाहते हैं।

उत्तर—मैं ने चार धामों की यात्रा की थी, उसे अब चालीस पचालीस साल हो गये। उस समय बद्रीमाहात्म्य वगैरा बहुत सारे ग्रन्थ इकट्ठा कर के पढ़ गया था। गया माहात्म्य भी पढ़ा था। अब वह सब याद नहीं है। आयु भी पचहत्तर साल हो गयी है।

इस के अलावा मुख्य बात यह है कि सनातन धर्म पर तात्त्विक श्रद्धा निष्ठा क़ायम होते हुए भी उस धर्म की मेरी मान्यताओं में काफी परिवर्तन हो गया है। श्राद्ध के कुछ प्रकार मुझे मान्य नहीं हैं। कौए की (चिड़िये या दूसरे के) चोंच से पिण्ड पर प्रहार करवाना आदि प्रकार अब मुझे बालिश मालूम होते हैं। शास्त्रधर्म के साथ उन का सम्बन्ध नहीं है। अनार्यों के कई रिवाज आर्यों ने ले लिये, और लोक समुदाय की 'धार्मिक' मान्यताओं को सनातन धर्म में स्थान दिया। उस समय यह सब ठीक ही हुआ। अब धार्मिक रिवाजों का शुद्धीकरण होना चाहिए। नियमित रूप से धर्म का अध्ययन करते रहना, धर्म को जागृत रखने वालों की सहायता करना, पूर्वजों की सदाचार की परम्परा को क़ायम रखना और मनुष्य के आश्रय से रहने वाले पशु-पक्षियों का जीवन निर्भय और सुखी बनाने के लिए प्रयत्नशील रहना, इसी को मैं स्वर्गीय पितरों का श्राद्ध कहता हूँ।

ब्रह्मकपाल पर जा कर श्राद्ध करने के लिए मैं नये लोगों को सिफ़ारिश नहीं करूँगा।

पुरानी निष्ठा के लोगों से मैं कहूँगा कि अगर बद्रीनारायण में ब्रह्मकपाल पर आप ने श्राद्ध किया हो, तो अब स्वर्गीय पितरों के नाम से मन्त्रोक्त या रूढ़ श्राद्ध न करें। पूर्वजों के बारे में आदर और स्मरण क़ायम रखने के हेतु हरि

जन आदि पिछडी जातियो के कल्याण के लिए कुछ सत्कृत्य करें और दानधर्म भी करें।

मैंने अपने आस-पास के लोगो से कह रखा है कि मेरे पश्चात मेरा श्राद्ध करने का वृथा श्रम कोई भी न करे। मैं उस की आवश्यकता महसूस नहीं करता। मैं यह भी नहीं चाहता कि मेरे बाद मेरी स्मृति कायम रहे। मेरे हाथो अगर कुछ सत्कृत्य हुए हो, तो वे सत्कृत्य और उन के सुपरिणाम कायम रहें। लेकिन उन के साथ का मेरा सम्बन्ध टूट जाय और नष्ट हो जाय।

अपना व्यक्तित्व समाज की स्मृति में कायम रहे, इस प्रकार की लोकेषणा और पुत्रेषणा मोक्ष के आदर्श के लिए बाधक है।

(२१ सितम्बर १९५१)

पुनर्जन्म प्रचार के भयस्थान

सनातन धर्म के नाम से रूढियो की उपासना करने वाले लोगो की जडता भयानक होती है। अभी-अभी मुझे उस का शिकार बनना पडा है।

किसी ने बात फैलायी कि 'काकासाहेब पुनर्जन्म पर विश्वास नही करते'। मेरे धार्मिक विचार जिन को मालूम हैं वे आश्चर्यचकित हो कर मुझ से पूछने लगे, 'क्या बात सच है, काकासाहब, कि आप पुनर्जन्म पर विश्वास नही करते? हम ने तो कभी आप के मुँह से ऐसा नही सुना। अगर ऐसी कोई बात होती तो जरूर आप हमें कहते। और हम आप से चर्चा भी करते।"

मैं ने कहा, आप से चर्चा तो जरूर करनी है लेकिन पहले ही साफ़ कह दूँ कि पूर्वजन्म और पुनर्जन्म पर मेरा पूरा विश्वास है। मोक्ष मिलने पर पुनर्जन्म के झंझट से हम मुक्त होते है यह सही है, लेकिन सन्त मत को स्वीकार कर के मैं भगवान् से प्रार्थना करता हू कि अगर हर जन्म में सत्संग मिलने वाला हो तो हे भगवन् हमें आप खुशी से गर्भवास में डाल सकते हो "तुका म्हणे गर्भवासी सुखें घालावें आम्हासी'। महायान बौद्ध पन्थ वालों के साथ मैं भी कहता हूँ, अकेले अकेले मोक्ष पाने में कौन सा मजा है? मुक्त हुए तो सब को साथ ले कर ही मुक्त क्यो न हो जायें? अगर नित्य-मुक्त भगवान् नीचे उतर कर अवतार ले सकते हैं तो मेरी सनातन आत्मा भगवान् का कार्य करने के लिए और मुक्त जीवन का आनन्द लेने के लिए, बार-बार जन्म लेते संकोच क्या करेगी!'

'अब आप देख सकेंगे कि पुनर्जन्म पर मेरा विश्वास है इतना ही नहीं, किन्तु अपुनर्भव, मोक्ष का मैं इतना लालची नहीं हूँ कि पुनर्जन्म के प्रति मेरे मन में अरुचि हो।

'गीता के साथ और बौद्धों के साथ मैं भी मानता हूँ कि यह लोक अनित्य और असुख यानी दुःखमय है। (गीता ९.३३) लेकिन विश्वसेवा करते जो भी दुःख भुगतना पडे, नित्य और आनन्दमय भगवान् की भक्ति के जोरों उसे बरदाश्त करते आनन्द ही आयेगा। बार बार जन्म लेना पडे इस का डर हम ने कभी मन में रखा ही नहीं। जन्म लिये बिना ही अगर सारे विश्व के साथ एकता का अनुभव होता हो और विश्व की सेवा भी होती हो तो बात अलग है। केवल इन्द्रिय सुख के लिए और उस के साथ जो जलन भी आती है उस के स्वाद के लिए जन्म लेने की इच्छा नहीं है।'

मुख्य बात इस तरह बिलकुल साफ करने के बाद अब कहूंगा कि पुनर्जन्म की बात दिन रात करने वालों के साथ मेरा झगडा कहाँ है।

मेरी भूमिका के अनुसार इस सृष्टि में, विश्व चैतन्य ने अपने आनन्द के लिए अथवा लीला के लिए जीव का रूप धारण किया है और विविध रूप से जीवन का विस्तार कर के विश्वात्मैक्य की साधना के लिए गुंजाइश पैदा की है। इसे मैं भगवान् की गलती अथवा उन का प्रमाद नहीं मानता। उन की ऐसी लीला का एक अंश बनना अथवा साथी बनना यही मेरा काम है।

जीवन की हस्ती, उस का विकास और उस में अन्दर दिखाई देने वाला कार्य-कारण का सार्वभौम नियम समझने के लिए केवल वंशपरम्परा का काफी पर्याप्त नहीं है। अपने जन्म के साथ मैं ने अपने माँ बाप से असंख्य संस्कार प्राप्त किये। और हम सब लोग अपने समाज से असंख्य संस्कार प्राप्त करते हैं, इस में कोई शक नहीं है। लेकिन इतने से जीवन के सब सवाल हल नहीं होते। इस लिए और हर एक व्यक्ति की विशेषता समझने के लिए पुनर्जन्म को माने बिना चारा ही नहीं। मनुष्य पशु-पक्षी, कृमि कीट, जलचर खेचर सब प्राणियों में और वनस्पति और कीटाणुओं में जो ऐक्य है उस का अनुभव करने के लिए और रहस्य पाने के लिए वंशपरम्परा का सिद्धान्त और विकासवाद का सिद्धान्त भी पर्याप्त नहीं है। इस लिए पुनर्जन्म को माने बिना दूसरे किसी भी प्रकार से विश्व-व्यवस्था का समर्थन नहीं हो सकता।

जिन लोगों को आत्मा के अनुभव का अस्वीकार करना है, उन को शायद भौतिक विकासवाद और वंशपरम्परा के सम्बन्ध से सन्तोष होता होगा। आत्मा

को बीच में लाये बिना जीवन व्यवस्था को समझाने वाले बौद्धों को भी केवल 'संस्कार-समुच्चय का पुनर्जन्म' मानना पड़ता है।

हम तो आत्मा के और पुनर्जन्म के अस्तित्व के लिए प्रमाण ढूँढना ही अनावश्यक मानते हैं। किसी-न किसी रूप में आत्मा का अनुभव हर एक को होता ही है। और मृत्यु का निरपवाद अनुभव होते हुए भी हमारी नित्यता का अनुभव (कोई इसे भले ही भ्रम कहे) हम छोड़ नहीं सकते। और हम मान नहीं सकते कि एक ही जीवन के अनुभव से जन्मग्रहण का हेतु पूर्णतया सफल होता है। जन्म लेने का प्रयोजन गहरा है और जन्मान्तरों का अनुभव माँग लेता है।

तब सनातनधर्मी रूढ़िवादी लोगों के साथ हमारी कहाँ नहीं बनती ? इस का जवाब अवश्य देना चाहिए।

जीवन में कार्य-कारण का सम्बन्ध हमेशा ढूँढना पड़ता है। भौतिक विज्ञान, मानसविज्ञान और समाजविज्ञान की सब शाखाएँ हर एक घटना का कारण पूरी गहराई से ढूँढने लगी तब से समस्त विज्ञान ने अद्भुत प्रगति की है। 'अकाट्य प्रमाण और सन्तोषकारक सबूत मिले बिना किसी भी चीज को हम स्वीकार नहीं करेंगे' ऐसी प्रतिज्ञा कर के विज्ञानवाले प्रयोगवीर शोध करने लगे इस लिए ज्ञान के क्षेत्र में इतनी प्रगति हुई। अब हमारे रूढ़िवादी सनातन धर्मी जब लोग खोज करने की और प्रमाण ढूढने की तकलीफ न उठाते हुए हर एक बात में पूर्वजन्म का बीच में ले आते हैं। फलां आदमी के स्वभाव में फलां विचित्रता कैसे आयी ऐसा सवाल उठते ही झट कह दिया, 'अजी वह तो पूर्वजन्म के संस्कार की बात है'। इतना कह दिया और छुट्टी पायी। इस में केवल बौद्धिक आलस्य है, पुरुषार्थ का अभाव है। ऐसी जडता को हम आस्तिकता का नाम देने को तयार नहीं है। हम कहते हैं कि "आज की इस दुनिया के और इस जीवन के सब तत्त्वों की हम छान बीन करें और हर एक घटना का छिपा हुआ कारण ढूँढ निकालें। खोज करने के पुरुषार्थ के सामने कोई भी चीज दीर्घकाल तक गूढ़ और अज्ञात रह नहीं सकती। कम-से-कम पूरी-पूरी छान बीन किये बिना हमें सन्तोष नहीं होगा। ऐसा पुरुषार्थ करने के बाद ही पूर्वजन्म के क्षेत्र में प्रवेश करें।'

(हर एक अधिकारी को विशेष अधिकार दिये होते हैं जो संकट के समय अथवा असाधारण परिस्थिति में काम में लाने के होते हैं। कर्मचारी अधिकारी की योग्यता इस पर नापी जाती है कि हाथ में विशेष अधिकार होते हुए भी जहाँ तक हो सके वह उन का प्रयोग नहीं करेगा। अगर वह अधिकारी मान

बढेगा कि मैं दिमाग क्यों चलाऊँ, विशेष अधिकार मेरे पास हं ही और वे हैं तो काम में लाने के लिए ही, उन का कदम कदम पर प्रयोग करूँ तो मेरा सारा काम आसान होगा, तो दुनिया जानती है कि ऐसे नालायक अधिकारी को अपना स्थान ही खोना पडता है। यही हालत है हर बात में पुनर्जन्म को बीच में लाने वाले की।)

बौद्धिक आलस्य की मदद में लिये जाने वाले 'सच्चे सिद्धान्त' का हम विरोध नही करते किन्तु उस के दुरुपयोग की निंदा जरूर करेंगे।

जीवन-व्यवस्था को समझाने के लिए कदम-कदम पर पुनर्जन्म की दुहाई देने वाले लोगो ने समाज की जडता बढायी है। उन्होंने न विज्ञान में प्रगति की है, न जीवन में कोई सुधार। इस लिए पुनर्जन्म का आश्रय लेने वाले लोगो की जडता का मैं पूरा विरोध करता आया हू।

दूसरा एक भयस्थान इस से भी बुरा है। पूर्वजन्म को मानना एक बात है और पूर्वजन्म की बातें जानने का दावा करना दूसरी बात। कार्य कारणभाव को और धर्म के अटल सिद्धान्तो को समझाने के लिए हमारे पुराणो में अनेक लोक कथाएँ और काव्यमय प्रसंग रजू किये हैं। उन में मनुष्य जाति का अनुभव, लोगो के वहम और कवियों की कल्पना सब की खिचडी की जाती है। उन सब कथाओ को अक्षरशः सत्य मानना धार्मिकता का लक्षण नही किन्तु जडता का और मूढता का लक्षण है। पुराने ज्ञानी लोग समझाते थे कि कई कथाएँ सत्य नही किन्तु अर्थवाद वाली होती है। भोले लोग ही सब बातो को सच मानते है, और वैसा नही माननें वालो को नास्तिक कहते हैं। कई लोग तो, नास्तिकता के इलजाम से बचने के लिए, कई पौराणिक बातो पर विश्वास न होते हुए भी विश्वास रखने का स्वांग या दिखावा करते है। ऐसे लोगो के द्वारा पुनर्जन्म को बीच में ला कर तरह तरह के अन्याय और अनाचार का समर्थन किया जाता है।

इस का सब से बडा और भयानक उदाहरण है अस्पृश्यता का। हरिजनो के प्रति हम लोगो ने पुश्त-दर-पुश्त अन्याय किया, उन को दबा कर रखा और इस सारे अधर्म और पाप का समर्थन करने के लिए मनानितियो ने बात चलायी कि 'आप लोगो ने पूर्वजन्म में महापाप किये थे इस लिए आप को अछूत जाति में जन्म मिला है। इस जन्म में नम्रता के साथ उच्च वर्णियो की श्रद्धा से सेवा कीजिए। सारे अन्यायों को पाप का प्रायश्चित्त समझ कर सहन करेंगे तो ऐसे सात जन्मो के बाद आप को सवर्ण जाति में जन्म मिलेगा।"

प्रह्लादेव के दरबार के य कारभारी और व्यवस्थापक हरएक के पूर्वजन्म को

बात बराबर जानते हैं और निश्चयपूर्वक समझाते भी हैं ! ! (जब दबे हुए लोग जाग्रत हो कर चिढ जायेंगे और इन सनातनी धर्मनेताओं की क्रूरता का बदला लेंगे तब इन सनातनियों को पता चलेगा कि अपने पूर्वजन्म के महापापों का ही यह फल उन्हें भुगतना पड रहा है ।)

मर्मस्थान का तीसरा नमूना पेश करते संकोच होता है किन्तु दिये बिना चारा नहीं । धर्म के ये ठेकेदार लोग 'शास्त्रों की' बातें सुना कर समाज में गुरु का स्थान लेते हैं, दक्षिणा पाते हैं और शिष्यों के जीवनक्रम में काफी दिलचस्पी भी लेते हैं । अब एक ऐसे धर्मगुरु के एक धनी शिष्य थे । एक दिन गुरु महाराज के पास जा कर कहने लगे, "आज तक मेरा गृहस्थी जीवन अच्छी तरह से चल रहा है, लेकिन मेरे पडोस में एक खानदान आ कर रहा है । वहाँ की एक विवाहित स्त्री के प्रति मेरे मन में आकर्षण पैदा हुआ है । मुझे डर है कि यह आकर्षण उस पर भी है । मैं आप का शिष्य हूँ आप के दिये मन्त्र का नियमित जाप करता हूँ, तो भी ऐसा नाजायज धर्म-बाह्य आकर्षण, हम लोगों में क्यों पैदा हुआ ? आप त्रिकालज्ञ हैं, मेरे गुरु हैं, तो ऐसी पापवासना का कारण क्या है बताइए । आप के मन्त्र का जाप मुझे बचाने में असमर्थ क्यों हुआ ?"

त्रिकालज्ञ गुरु ने कहा, "मुझे इस में आश्चर्य नहीं होता । पूर्वजन्म में आप दोनों पति पत्नी थे । उस समय के प्राक्तन का यह अवशेष है । इस लिए तो वे लोग आप के पडोस में आ कर रहे हैं । आप मन्त्र का जाप तो करते ही हैं । अब नवग्रह के दान दीजिए । सब ठीक हो जायेगा ।"

शिष्य को अपनी कमजोरी का समर्थन मिल गया । ईश्वर की कितनी कृपा है कि पूर्वजन्म की बातें मनुष्य भूल जाता है । इस जन्म के सम्बन्ध सँभालना जहाँ दूभर है वहाँ पूर्वजन्म की बात ला कर जीवन जटिल कहाँ करने जायें ? गुरु महाराज तो पडोस के आदमी के पास जा कर कहेंगे कि, "तुम्हारी पत्नी पूर्वजन्म में तुम्हारी बहन थी । इस लिए उस के साथ वैसा ही व्यवहार करो । अन्यथा जीवन मलिन होगा ।" अब गुरु महाराज को उन बेचारों के पूर्वजन्म का यह ज्ञान प्राप्त हुआ उस के पहले जो बच्चे हुए होंगे उन की व्यवस्था क्या होगी ?

पूर्वजन्म, पुनर्जन्म और जन्मान्तर का सिद्धान्त तर्कयुक्त है । कोई कहेगा कि अनुभवसिद्ध भी है लेकिन अगर इस के द्वारा सामाजिक अन्याय का और व्यक्तिगत कमजोरी का और दुराचार का समर्थन ही हो तो उस सिद्धान्त की मर्यादा बाँधनी पडेगी, नहीं तो धर्म के नाम अधर्म फैलेगा और सर्वत्र अनवस्था

खड़ी होगी। हमारे देश में सन्तों की कृपा से इतनी धार्मिकता फैली हुई थी तो भी समाज में प्राणहीन जड़ता, लज्जास्पद बुद्धूपन और सार्वभौम दम्भ क्यों है इस का कारण भी ढूँढ़ना होगा। गीता ने कहा है—अधर्म को ही धर्म मानने वाली तमोगुणी जड़बुद्धि उत्तमोत्तम सिद्धांत का भी विपरीत उपयोग करती है। (गीता १८ ३२)

(१ नवम्बर १९६६)

पाप-पुण्य पीड़ित

पाँच सात वर्ष के एक स्नेही इन दिनों कमोवेश बीमार रहते हैं। मेरे स्वास्थ्य के बारे में उन्होंने हम दोनों के एक समान मित्र को पूछा होगा। मैं उस वक्त बिहार में समन्वय पत्र के बारे में अनेक लोगों से प्राथमिक चर्चा करने घूम रहा था। मेरी प्रवृत्तिशीलता से उन्हें सन्तोष हुआ और अपनी बीमारी के बारे में दर्द। उन्होंने हमारे समान मित्र से पूछा—"अस्सी वर्ष के काका साहब इतना काम कर रहे हैं और मैं बिस्तर ले कर बैठा हूँ। मेरा पूर्वजन्म का कौन सा पाप होगा कि मैं इस तरह पंगु बन कर दूसरों की सेवा ले रहा हूँ जब कि काका साहब सर्वत्र घूम कर प्रचार करते रहते हैं?"

मैं भी कई बार बीमार पड़ा हूँ। और मुझे भी अपनी अकर्मण्य दशा को सोच कर ग्लानि हुई है। इस में कोई नयी बात नहीं है।

लेकिन हर दुःख के साथ किसी न किसी पाप को जोड़ देने की अपने लोगों की प्रवृत्ति मैं समझ नहीं सकता। हर दुःखद स्थिति के पीछे कुछ पाप ही होगा यह अनुमान गलत है। और अगर हम मानते हैं कि हर दुःख किसी पाप का ही फल है तो कौन से पाप का क्या फल होता है वह ढूँढ़ना हमारा वैज्ञानिक कर्तव्य होता है। इस पाप का यही फल है, इतना निश्चित रूप से कह सकने की स्थिति हमारी होनी चाहिए। जो लोग कार्य-कारण का सम्बन्ध अटल मानते [redacted] उन का प्रधान कर्तव्य है कि वैज्ञानिक ढंग से तलाश और संशोधन करते जायें और उस का नतीजा दुनिया के सामने धर दें। फलाँ दुःख का कारण कोई अज्ञात पाप ही होगा ऐसे कहने वाले लोगों के प्रति मन में आदर उत्पन्न नहीं होता। ये लोग वैज्ञानिक वृत्ति के नहीं किन्तु दववादी होते हैं। 'शायद होगा' वाली भाषा विज्ञानवादी आदमी नहीं बोलेगा। शायद होगा तो ढूँढ़ा क्या

नहीं ? बौद्धिक आलस्य क्षम्य कैसे किया जायेगा ?

यह हुई इस जन्म की बात। लेकिन हमारे लोग इस जन्म को छोड़ कर आसानी से पूर्व-जन्म की ओर दौड़ते हैं। इस जन्म में हम ने क्या-क्या पाप किया सो ज्यादातर हम जानते ही हैं। अज्ञात पाप पाप गिने जायें, तो भी क्षम्य होते हैं।

कई लोग महान् दुःख सिर पर आ पड़ने पर कहते हैं, "इस जन्म में तो हम ने ऐसा कोई पाप नहीं किया है, जिस के कारण हम पर इतना बड़ा संकट आ पड़ा। इसलिए कहना पड़ता है कि पूर्वजन्म का ही कोई पाप होगा।" इन की दलील हम समझ सकते हैं, लेकिन "दुःख और संकट का कारण पाप ही हो सकता है।" यह सिद्धान्त ध्यान में नहीं बैठता। इस में कुछ अति-व्याप्ति है।

इसी ओर ध्यान खींचने के लिए यह लेख लिखवा रहा हूँ।

पाप की व्याख्या क्या है ? हरएक गलती को, अनवधानता को और ग़फ़लत को अगर हम पाप कहते जायें तो वैसा करने का हमें अधिकार है। गणित नहीं जानने से अगर मैं ने कोई ग़लती की तो वह भी पाप होगा। अगर क़लम बनाते चाकू से मैं ने अपनी अँगुली काटी तो वह भी पाप होगा। लेकिन पाप शब्द का प्रयोग इतना व्यापक नहीं है।

मनुष्य जिस जगत में रहता है उस के उस ने अनेक विभाग किये हैं। एक है भौतिक-जगत दूसरा है बौद्धिक-जगत और तीसरा है भावनात्मक जगत। अगर हम बीमार हो कर बिस्तर-वश हो जाते हैं, तो उस का कोई भौतिक कारण हो सकता है, जिस का पाप पुण्य के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है। अगर किसी के घर पर मैं ने भोजन किया, उस की गलती से भोजन में कोई विषाक्त पदार्थ आया और मैं बीमार पड़ा तो यह केवल एक दुर्घटना है। इस के लिए इस जन्म का या पूर्व-जन्म का पाप ढूँढने की आवश्यकता नहीं है।

मैं जानता हूँ और मानता हूँ कि भौतिक जगत और नैतिक एक दूसरे से अलग अलिप्त, अस्पृष्ट या असंलग्न नहीं हैं। दोनों परस्पर ओतप्रोत हैं। लेकिन पाप का सम्बन्ध मनुष्य के जीवन से है और उस में भी धार्मिक और आध्यात्मिक दृष्टि से ही पाप की कल्पना की जा सकती है।

इस पृथ्वी पर मनुष्य-जाति का जन्म ही नहीं हुआ था ऐसे समय पर अगर कोई ज्वालामुखी का स्फोट हो कर उस में से अग्निरस (लावा) बहने लगा और उस के कारण कोई जंगल और उस में रहने वाले जानवर और नजदीक के सरोवर में रहने वाली मछलियाँ मर गयीं तो यह सारी प्राकृतिक दुर्घटना

किस के पाप का फल गिना जायगा ? (मै जानता हूँ कि हमारे पौराणिक, पूर्व कल्प के मनुष्य, देव, पिशाच, गन्धर्व आदि के पापों का यह फल था, ऐसा कहने को तैयार होंगे। पौराणिक हमेशा सर्वत स्वतन्त्र होते हैं।) जहाँ भौतिक कारण स्पष्ट है, वहाँ नैतिक कारण ढूँढने की आवश्यकता नही होनी चाहिए, तो भी अगर नैतिक कारण की शंका हुई तो कार्य कारण सम्बन्ध स्पष्ट दिखाने की जिम्मेदारी हमारी होती है।

मनुष्य गलती या अपराध हमेशा करता है और उस के फल भोगता है। लेकिन हर समय वह पाप या नैतिक गुनाह नही होता। भौतिक जगत के अपने नियम होते हैं। गणित, खनि विज्ञान, पदार्थ विज्ञान, रसायन, खगोल विद्या आदि विद्याओं के द्वारा हम भौतिक जगत के स्थूल नियम समझ कर लाभ उठा सकते हैं। जहाँ इन नियमों का ज्ञान हमें नही होता, हमें कठिनाइयाँ उठानी पड़ती है। हवामान के नियम जो नही जानते उन का स्वास्थ्य अथवा दूसरा काम बिगड़ गया तो उस में हमारी जिम्मेदारी हो सकती है, गफलत के लिए हमें सजा भी मिलती है। लेकिन इस में हम पाप की बातें नही लाते।

भौतिक और बौद्धिक जगत के साथ हमारा भावनात्मक जगत भी ओतप्रोत अथवा अनुस्यूत है। उस का स्वतन्त्र विचार होना चाहिए। हर चीज को पाप और पुण्य के ढाँचे में ढाल देना बौद्धिक आलस्य है और नैतिक उत्तरदायित्व का इनकार है।

पाप पुण्य का विचार धर्म शास्त्र करता है, सदाचार और दुराचार का विचार नीतिशास्त्र करेगा। शील के विचार में पूर्वजन्म का पाप कहाँ से आया? स्वास्थ्य और आरोग्य के भी सूक्ष्म और जटिल नियम हैं। उन के बारे में बहुत कुछ अज्ञान रहता है। यह अज्ञान दुर्दैव है गफलत है कभी-कभी ऐसा अज्ञान असम्य भी होता है। लेकिन उस में पाप की भावना ला कर खड़ी करना जरूरी नही है।

बौद्धिक जगत का भी वैसा ही है। अगर हमारी अवधान समझ शक्ति, तर्क शक्ति शुद्ध अनुमान निकालने की शक्ति तेज न रही तो हम असंख्य गलतियाँ करते हैं और उन के तरह-तरह के फल हमें और औरों को भुगतने ही पड़ते हैं। इस में दुर्दैव हो सकता है। सामाजिक शिष्टाचार ने किया तभी तो शिष्ट और अशिष्ट, श्लील और अश्लील के भेद पैदा हुए। गुनाह और कानून का पालन है तो नीतिशास्त्र का विषय, लेकिन हो गया है राजशासन का खास विषय। आरोग्य और अनारोग्य के भेद के लिए आरोग्यशास्त्र को पूछना होगा और वैद्यक और आहार मीमांसा की मदद लेनी पड़ेगी।

कोई चीज कानूनन आपत्तिजनक न होगी लेकिन शिष्टाचार को असह्य होगी।

भावनात्मक जगत में नीति अनीति का भेद जिस तरह प्रधान है, शिष्टाचार का भी जिस तरह उस में प्राधान्य है, उसी तरह कलात्मकता और विश्री अथवा विकलात्मकता भी एक तरह से भावना का ही क्षेत्र है। इस में रसहानि एक तरह गुनाह होता है। अनौचित्य असह्य बनता है। कलाक्षेत्र के अपने क़ानून भी होते हैं। अप्रसन्नता और नाराजी से ले कर असहयोग तक सज़ाएं भी होती हैं, जिस के खिलाफ़ कोई अपील भी नहीं हो सकती। और तो भी उस क्षेत्र में पाप की बात नहीं आती।

संघर्ष और समन्वय, युद्ध और शान्ति, समझौता और कटुता ऐसे अनेक द्वन्द्व खड़े होते हैं। सामंजस्य और विषमता का अनुभव तो क़दम-क़दम पर होता है।

पाप-पुण्य की ही बात दिन रात सोचने वाले लोगों को क्या कहें? पाप-पुण्य-पीड़ित लोग जीवन के सब के सब क्षेत्रों में पाप और पुण्य की ही बात चला कर जीवन के आकलन को ही विकृत और भ्रष्ट कर देते हैं। ऐसों को हम कहेंगे कि किसी चीज का विकृत करना महापाप है। क्योंकि उस में जीवन-द्रोह है। जीवन है उन्नति के लिए, उद्धार के लिए, संस्कृति के लिए, समन्वय द्वारा जीवन सिद्धि के लिए। इस में केवल पाप-पुण्य की बात न ला कर ऊपर जिन जिन द्वन्द्वों का संकेत किया है, उन को सब दृष्टि से सोचना होगा। तभी हम सत्यार्थी, सत्यशोधक और सत्यसाधक बनेंगे और सत्यनारायण के अनुग्रह के अधिकारी बनेंगे।

(१६ अक्तूबर १९६६)

यज्ञ धर्म का उत्तम रूप

केवल हवा की शुद्धि का ही सवाल होता तो हम फिनाइल के पानी का छिड़काव कर के घर को और इर्द गिर्द की हवा को शुद्ध करते। डामर या कोल्तार जला कर भी हवा शुद्ध की जाती है। आजकल कपड़ों की रक्षा के लिए डामर की सफ़ेद गोलियाँ (नाफ्टा पिल्स) का प्रयोग होता है। गोशाला में गायों को मच्छरों के आतंक से बचाने के लिए कड़वे नीम के पत्ते जलाये जाते हैं, जिस से हवा भी शुद्ध होती है और मच्छर भी भाग जाते हैं।

मुसनों के अराहा में कपूर और धूप जलाने का रिवाज तो है ही। और वायुमण्डल की शुद्धि के लिए सब से उत्तम साधन है साफ बहती हवा और धूप प्रकाश। इसी लिए तो अनल और अनिल, आग और वायु-हवा की पावनता, पावनता स्वीकृत हुई है। और यह वायुमण्डल की शुद्धि का काम जो चाहे सो कर सकता है। समाज में गन्दगी दूर कर हवा को और घर के इर्द गिर्द की परिस्थिति को शुद्ध करनेवाला सब से बड़ा अध्वयु महतर या भंगी सदियों से काम करता आया है। किसी एक बंगाली कविता का अनुवाद (शायद रविबाबू का किया होगा) हम ने बचपन में पढ़ा था, जिस के अन्दर भंगी को शुद्धिकारी भगवान् के रूप में बताया था।

अग्नि में सुगन्धित द्रव्य जलाने से हवा की शुद्धि जरूर होती होगी। लेकिन यह बात गले नहीं उतरती कि हवा के नाम से घी जलाने से जो कार्बन डायाक्साईड—प्राणनाशक वायु पैदा होता है उस से हवा शुद्ध होती होगी। कई लोगों ने इस बात को प्रमाणित करने की कोशिश की है, लेकिन उस से सन्तोष या विश्वास नहीं हो सका। अवश्य यह मतभेद का विषय हो सकता है।

हम मानते हैं कि हवन के द्वारा वायुमण्डल की सफ़ाई करने का उद्देश्य बाद में सोचा गया है। हवन के द्वारा हम भगवान् की पूजा करते हैं। अपनी धर्म भावना व्यक्त करते हैं। इस के अन्दर अर्पणवृत्ति प्रधान है। जब हवन के द्वारा चीज़ें जलायी जाती हैं तब हम अपने व्यक्तिगत और सामाजिक दोष जला डालने का संकल्प भी करते हैं। हवन की प्रवृत्ति के मूल में ईश्वर की आराधना की, आत्मशुद्धि और आत्मार्पण की भावना ही प्रधान है। यह चीज प्रधानतया आध्यात्मिक है। यज्ञधर्म हमारा प्राचीनतम धर्म है। हमारे धर्म-ग्रन्थों में हर जगह यज्ञ का रूपक आता ही है। पुरुष सूक्त कहता है 'यज्ञेन यज्ञम् अयजन्त देवा तानि धर्माणि प्रथमान्यासन।' यज्ञ भावना को परिपुष्ट करते नित्य के पंच महायज्ञ सोचे गये और चलाये गये। यज्ञप्रवृत्ति रोचक हो गयी। उस में हजारों पशुओं का बलिदान होने लगा। अश्वमेध, गोमेध राजसूय यज्ञ आदि तरह-तरह के विस्तार बढ़े। पशुओं का और पशुओं के मालिक किसानों का क्रन्दन और आर्तनाद स्वर्ग तक पहुंच गया। नेमीनाथ, महावीर बुद्ध भगवान् आदि आर्य धर्म सुधारकों ने ऐसे यज्ञों का तीव्र शब्दों में निषेध किया। जयदेव ने भी गाया—

> निन्दसि यज्ञविधेरहह श्रुतिजातम्
> सदयहृदय दर्शितपशुघातम्।
> केशव! धृतबुद्धशरीर जय जगदीश! हरे!

लेकिन हमारी जाति का स्वभाव ही नही कि कोई प्राचीन चली आयी भव्य सनातन प्रथा में दोष देखते ही उस का हम त्याग करें। हम ने दोषा का निवारण किया। असली रस्म रिवाजों के मूल में जो भव्य कल्पना थी उस को उज्ज्वल रूप दिया और यज्ञ में तो हम ने विश्वव्यापी सार्वभौम प्रक्रिया देखी। हम देवो के लिए यज्ञ करते है, देव हमारे लिए यज्ञ करते है। ऐसी परस्पर सेवा-द्वारा यज्ञचक्र, विश्वव्यापी जीवनचक्र, चलता हा रहता ह। जीवन जीने से, इंद्रियों के द्वारा उपभोग चलाने से जो विश्व शक्ति का क्षय होता है उस की फिर से भरपाई करना यही ह सच्चा यज्ञ कर्म। कुएँ के किनारे नहाकर, बरतन और कपडे धो कर जो गंदगी हम पैदा करते ह उसे दूर कर, जलाशय की ओर उस के इर्द गिर्द की भूमि की शुद्धि करना यह एक यज्ञ ही ह। यात्री लोगो ने किसी गाँव में एक रात का वास किया और इर्द गिर्द काफी गंदगी की। दूसरे दिन गाँव के लोगा ने सेवा के रूप में सब कुछ साफ किया और गाँव का वायुमण्डल पहले के जैसा शुद्ध बनाया। यह सारी प्रवृत्ति यज्ञ ही थी। संस्कृति ग्रंथों का अध्ययन चालू रखना सामाजिक, धार्मिक आदर्श लोग भूल न जायँ, उन की निष्ठा शिथिल न हो जाय इस लिए स्वाध्याय को चलाना, पुराण वाचन, हरिकथा, कीर्तन द्वारा लोक शिक्षण की परम्परा अबाधित रखना यह तो यज्ञोत्तम ही ह।

इस तरह गीताकार ने और हमारे साधु संतों ने यज्ञ भावना को व्यापक सार्वभौम रूप दे दिया। और साथ साथ जिस में पशुहिंसा ह, घी, दूध, आदि अत्यन्त जरूरी आहार का नाश ह, ऐसी चीजों का संतो ने जोरो से निषेध किया। धर्म के नाम भली बुरी रूढियाँ चलाने वाले दम्भी साधुओं की फजीहत हमारे संतों ने कम नही की ह। बचपन में एक गीत कण्ठ किया था। उस में फटकार के साथ एक पंक्ति आती ह—व्यर्थ जालिसी तिला तांदुला तुपा। नाहक तिल, चावल और घी को जलाते हो।

जिस देश में जहाँ देखें वहाँ राजा लोग हजारों ब्राह्मणों को एकत्र कर के बडे-बडे यज्ञ करते थे। किसानो के घरो में घुस कर यज्ञ में मारने के लिए जबरदस्ती उन के पशुओ को ले जाते थ और जहाँ रसोई परोसने वाले लोग यज्ञ में भोजन करने वाले भूदेव ब्राह्मणो को हाथ जोड कर कहते थे कि आज काफी पशु नही मिले इस लिए आप को मांस अधिक नही मिलेगा। कृपया शाक आदि दूसरी चीजें खा कर निभा लीजिए। कल ऐसी कमी नही रहेगी। (महाभारत में लिखा ह कि रन्तिदेव के यज्ञ में उस दिन केवल पचीस हजार ही पशु

in variety) लेकिन प्रत्यक्ष व्यवहार में विविधता ही बढती गयी और एकता अगर रही तो वह नाममात्र और कमजोर ही। भारतीय स्वभाव ही शांति प्रिय तथा शांति प्रधान होने के कारण हमारे लोग औरो के सामाजिक सगठन में और सामाजिक नियन्त्रण में हस्तक्षेप नही करते। इस लिए जाति-जाति के बीच बहुत से झगडे नही होते थे। और सारा समाज बिना नियन्त्रण के किसी तरह चलता था।

अब ऐसी स्थिति चल नही सकती। उच्चवर्णीय और सामान्यवर्णीय ऐसा भेद अब नही चलेगा। और अब लोग समझ गये है कि व्यक्ति-स्वातन्त्र्य को पूरा स्वीकार करते हुए भी भिन्न भिन्न जमातो में समाज समस्त को कमोवेश हस्तक्षेप करना ही पडता है।

इस लिए अब हिन्दू कायदा या हिन्दू लॉ का महत्व पहले से बढ गया है। जब अँगरेजो का राज्य हुआ तब हमारा राजकीय और सामाजिक सगठन दोनों ढीले पड गये और कमजोर भी। अँगरेजो की अदालत की शरण लेने के हम आदी बन गये थे। ऐसी हालत मे अँगरेजो को अपनी हिन्दू प्रजा की व्यवस्था करने के लिए हिन्दू लॉ के बारे में सोचना पडा। अँगरेजो ने देखा कि भारत की प्रजा की राजनीतिक महत्वाकाक्षा टूट गयी है। इस वास्ते इन लोगो पर मनमाने राज्य कर सकते है। अगरेजो ने यह भी देखा कि भारत की प्रजा अपनी आर्थिक उन्नति के बारे में सफल में है। भारत के उद्योग-हुनर उच्च कोटि के थे। भारत के व्यापारी तिजारत करने में कुशल थे। लेकिन सामाजिक सगठन कमजोर होने के कारण समस्त प्रजा का हित सरक्षण करने वाला कोई नही था। राजा लोगो के पास अर्थशास्त्री (Economists) कोई नही थे। इस लिए अँगरेजों ने भारत का शोषण करने का काम जोरों से चलाया। यहाँ के उद्योग हुनर भी तोड डाले और हिन्दुस्तान की बाकायदा लूट चलायी।

लेकिन अँगरेजो ने देखा कि सामाजिक व्यवस्था के बारे में भारत के लोग बड कट्टर रूढिवादी हैं। सामाजिक सगठन में हस्तक्षेप होने से वे चिढ जाते है और जबरदस्त विरोध करने लगते है, इस की उन्हें कल्पना थी। अँगरेजों ने हिन्दू लॉ बनाने में या चलाने में रूढिवादी लोगों के सन्तोष की ही बात सोची।

सती की प्रथा बन्द करने के लिए हम ने कानून बनाया और अपनी प्रगतिशीलता सिद्ध की, ऐसा बडे अभिमान के साथ अँगरेज अवश्य कहते हैं—लेकिन सती की प्रथा हमारे देश में व्यापक रूप में कभी थी ही नही। कहीं-कहीं कोई स्त्री पति के पीछे चितारोहण करती थी। कही-कही स्त्री को पति के पीछे चिता की अग्नि में जबरदस्ती फेंक दिया जाता था। लेकिन लोकमत उसे पसन्द नहीं

करता था। सती की प्रथा क़रीब बन्द हो गयी थी। अँगरेज़ों ने सिर्फ़ क़ानून बनाने का श्रेय लिया।

जब से अँगरेज़ों की तरफ से हिन्दू लॉ संगठित होने लगा, तब से सामाजिक सुधार की प्रगति नहीं, किन्तु रूढ़िवाद की स्थापना होती रही।

स्वराज्य होने के बाद अगर हम ने कोई सामाजिक क़ानून बनाया है तो वह एक ही है, अस्पृश्यता निवारण का। बाक़ी तो जिसे हिन्दू कोड कहते हैं वह अँगरेज़ों के दिनों में जो भी रूप हिन्दू क़ानून ने लिया उसी का संगठन मात्र है। अगर कहीं प्रगति है तो एक ही बात में कि लग्न विच्छेद परस्पर सम्मति से हो सकता है। इस हिन्दू कोड में प्रगति के लक्षण कहीं नहीं दीख पड़ते हैं। पुरुष या स्त्री के लिए एक ही पत्नी और एक ही पति हो, यह क़ानून भी प्रगति की निशानी माना जाता है। लेकिन इस के बारे में अधिक सोचना होगा।

मुख्य सवाल यह है कि क्या हिन्दू जीवन की विशेषता हम क़ायम रखें या उसे छोड़ दें। सामाजिक संगठन और सामाजिक नियन्त्रण राज्य के हाथ में न रहे, लोग अपने आप अपना संगठन कर लें और सामाजिक संगठन ही समाज का नियन्त्रण करे यह आदर्श छोड़ देना चाहिए। ऐसा दीख पड़ता है कि आज सामाजिक संगठन बहुत ही दुर्बल हुआ है और समाज के स्वाभाविक नेता समाज शास्त्र में पूरे प्रवीण नहीं हैं। ऐसी हालत में अगर प्रजा को सामाजिक संगठन का स्वातन्त्र्य दे दिया और राजकीय क़ानून ने अपनी ज़िम्मेवारी छोड़ दी तो आज की हालत में समाज का भला नहीं होगा। प्रतिगामी विचारों का गाँवों में अभी तक ज़ोर है। जाति व्यवस्था की बुनियाद में ऊँच-नीच भाव भरा हुआ है और गाँव के नेता अब भी मानते हैं कि आतंक फैला कर अपना अधिकार मज़बूत करने का उन्हें अधिकार है। ऐसी हालत में हिन्दू-समाज का नियन्त्रण सरकार के हाथ में रहे, यही इष्ट है। समाज के नियन्त्रण के लिए जो भी क़ानून बनाने हैं, सरकार ही बनावे। जो लोग आज राज्य चलाते हैं, स्वराज्य की बागडोर जिन के हाथ में है, ऐसे लोग आज काफ़ी प्रगतिशील हैं। वे ही हिन्दू-समाज के सामाजिक दोष दूर करने के लिए आवश्यक क़ानून कर सकते हैं। लेकिन हमें डर है कि सरकार के हाथ में अगर सामाजिक नियन्त्रण के क़ानून बनाने की सत्ता चली गयी तो फिर सरकार की सत्ता ही मज़बूत होती जायगी और सामाजिक संगठन करने की शक्ति हमेशा के लिए टूट जायेगी।

हम मानते हैं इस वक़्त हिन्दू कोड पास कर के हमें सन्तोष नहीं मानना चाहिए। सामाजिक प्रगति के लिए जो भी नये क़ानून आवश्यक हैं, उन को हम बनायें। पुराने क़ानूनों में जो दोष हैं उन्हें दूर करें और सामाजिक आदर्शों

के बारे में देश के नेताओं ने जो नये विचार बनाये हैं उन का प्रचार हम जोरों से जनता में करें।

जनता शिक्षित और अद्यतन बनने के बाद सरकार को चाहिए कि यह अपने तमाम सामाजिक काम रद्द करे और समाज का संगठन और नियन्त्रण समाज के हाथ में ही छोड दे।

(सितम्बर १९५१)

द्वि भार्या विरोध

सामाजिक मनुष्य के लिए पूरा व्यक्ति-स्वातन्त्र्य हो नही सकता। सामाजिक जीवन में ही व्यक्ति का विकास हो सकता है। इस लिए व्यक्तिगत जीवन पर कुछ हद-तक, अंकुश रखने का अधिकार, समाज को दिया गया है। मनुष्य दूसरे की चीज नहीं ले सकता, रास्ते पर गलत दिशा से नही जा सकता, रात को अपने घर में भी जोरों से आवाज नही कर सकता लोगों के बीच नंगा नही रह सकता, यहाँ तक कि मनुष्य को आत्महत्या करने की भी इजाजत नही है।

लेकिन समाज का यह अधिकार, व्यक्ति के जीवन पर अंकुश रखने की यह सत्ता समाज किस तरह अमल में ला सकता है?

१ लोकमत का नतिक प्रभाव डाल कर?

२ कानून के जरिये व्यक्ति को रोक कर? या

३ व्यक्ति को जबरदस्ती रोक कर?

इस तीसरे उपाय से तो दुर्व्यवस्था पैदा होगी। मन में आया इस लिए, हरएक आदमी दूसरे को रोकने लगे तो दुनिया का व्यवहार चल नही सकेगा। इस लिए तीसरा इलाज समाज ने छोड दिया है।

समाज अपने अगुवा या प्रतिनिधियों के द्वारा कानून बनाता है। और अपनी सरकार के द्वारा उस का अमल करवाता है। मनुष्य की संस्कृति इस कानून रचना तक आयी है। लेकिन सब से अच्छा तरीका यह नही है।

सब से अच्छा तरीका पहला है—जिस में समाज अपनी पसन्दगी या नापसन्दगी जाहिर कर के सन्तोष मानता है। समाज को जो पसन्द नही है वह करते व्यक्ति के मन में संकोच रहता है। समाज सजा न करे तो भी, समाज के धिक्कार से आदमी रुक जाता है।

अगर हम में सच्ची श्रद्धा, धीरज और आस्तिकता होती तो हम सरकारें, उन के कानून, और उन की सज़ाएँ, इन सब से दूर रह कर प्राकृतिक समाज की स्थापना करते और लोकमत के ज़रिये जो कुछ भी भलाई, व्यक्ति के मन में और रहन-सहन में पैदा कर सकें, उसी से सन्तोष मानते। सरकारों की मदद से जितना दुःख दूर होता है उस से अधिक कठिनाइयां पैदा होती हैं। अगर हम राज्य-तन्त्र के बिना लोकसंगठन कर सकें तो शायद सत्ययुग स्थापित हो जाये।

हम कहते हैं कि धर्म निरपेक्ष जनता तन्त्र ही—Secular Democracy ही—समाज का उद्धार कर सकेगा। असली बात तो यह है कि राजतन्त्र निरपेक्ष समाज-व्यवस्था ही मानवता को बचा सकेगी।

उपरोक्त ढंग से जिस के सिद्धान्त हैं, वह मद्यपान निषेध, हिन्दू-क़ानून सुधार आदि आवश्यक बातों के लिए भी सरकारी मदद के बारे में उदासीन रहा तो कोई आश्चर्य नहीं है।

हमारे यहाँ एक-पत्नी-व्रत का आदर्श अकेले श्रीरामचन्द्रजी ने ही दिखाया। तीन रानियों के होने से पिता की क्या हालत हुई यह रामचन्द्र ने देखा था। उन्होंने एक शब्द से भी अपने पिता की या माताओं की कभी निन्दा नहीं की। केवल अपने आचरण से श्रीरामचन्द्रजी ने बताया कि एक-पत्नी-व्रत ही मनुष्य जीवन के लिए सच्चा और अच्छा आदर्श है।

श्री रामचन्द्रजी का गौरव सब करते हैं। उन के बाद उन का अनुकरण किसी ने किया हो तो इतिहास पुराणों में उस का ज़िक्र नहीं है।

इस का अर्थ यह नहीं कि हमारी जाति में बहु-पत्नीकत्व का आदर्श ही सर्व-सामान्य था। दुनियाभर के सब भले सादे भोले लोग एक पत्नी से सन्तोष मानते हैं और दुःख-कष्ट के जीवन में भी प्रेम और निष्ठा का स्वर्ग पैदा करते हैं। लेकिन हमारे धर्मों में, हमारी स्मृतियों में, हमारे क़ानूनों में, अनेक पत्नीत्व का कहीं विरोध नहीं है, निषेध नहीं है।

सिर्फ स्त्रियों के बारे में हमारे समाज ने, बड़े ही उत्साह के साथ, सर्वोच्च आदर्श रखा कि स्त्री के लिए जीवन में और मरण में एक ही पति हो सकता है। हमारी देवियाँ भी, एक नहीं सात-सात जन्म के लिए एक ही पति की कामना रखती हैं। स्त्रियों के उद्धार के लिए हम लोगों ने सती की प्रथा भी जारी की। उस में होने वाली ज़बरदस्ती के सबूत हमने कहीं रहने नहीं दिये। पति के लिए सब तरह की आज़ादी, और पत्नी के लिए सब तरह का बन्धन, संयम और आदर्शनिष्ठा—यह है हमारी आर्य संस्कृति का वैभव !! You must

be bound, My dear and I must be free (तुम बँधे रहो लेकिन मैं तो आजाद रहूँ) यही युक्ति हरएक पति की, अपनी अपनी पत्नी के प्रति होती है। भले यह पंक्ति किसी अमेरिकन कवियित्री की हो।

जब से अँगरेज शासक, शिक्षक और धर्मोपदेशक हमारे देश में आये, एक पत्नीव्रत का आदर्श हमारे सामने रखा गया। ब्रह्म-समाज आदि पन्थों ने उस का जोरो से समर्थन किया। सामाजिक सुधारक-दल ने द्विभार्या निषेध पर जोर दिया। इस आन्दोलन का अच्छा असर हुआ। एकस्त्री के जीते जी दूसरी स्त्री के साथ शादी करते लोग शरमाने लगे और एक पत्नी का नियम करीब-करीब सार्वत्रिक हुआ। जब तक परराज्य था, सामाजिक कानून बनाना आसान नहीं था। विदेशी सरकार की मदद से स्वदेशी लोगों का कानूनी दमन करना, शायद इष्ट भी न था।

लेकिन पिछले दस पन्द्रह बरसों का हमारा सामाजिक इतिहास आशास्पद नहीं है। इन दिनों कई सुशिक्षित महिलाओं ने ऐसे पुरुषों के साथ शादी करना पसन्द किया जिन की पहली स्त्री जीवित थी। समाज ने ऐसे विवाहों को धिक्कारा नहीं। कहीं कहीं युवकों ने और युवतियों ने यह कह कर कि उस में बड़ा ही नीति धर्म था, ऐसे विवाहों का प्रकट रूप में अभिनन्दन भी किया।

अगर अच्छे घरों की लिखी पढ़ी संस्कारी स्त्रियाँ भी द्विभार्या की बात पसन्द करें तो द्विभार्या विरोध का कानून पास करवाने का अर्थ क्या?

इस में तो जरा भी शक नहीं कि एक भार्या का नियम ही मनुष्य जीवन के लिए अच्छा और इष्ट है। जहाँ लग्न विच्छेद, (तलाक) और पुनर्विवाह के लिए समाज मानस अनुकूल नहीं है वहाँ दूसरी पत्नी घर पर आने पर जो हालत होती है उसे देखते मन कहता है कि द्विभार्या विरोध का कानून तुरन्त ही पास होना चाहिए। परन्तु इस के लिए जितनी शक्ति हम कानून पास करवाने में लगाते हैं, इस से कहीं अधिक शक्ति लोकमत तैयार करने में लगानी चाहिए। यह काम अकेले पुरुषों का नहीं है अकेली स्त्रियों का भी नहीं। सब को मिल कर एक-पत्नीत्व का वायुमण्डल तैयार करना चाहिए। साथ साथ लग्नविच्छेद और पुनर्विवाह की सहूलियत स्त्रियों के लिए प्राप्त होनी चाहिए। आर्थिक परतन्त्रता स्त्रियों के लिए सब तरह से बाधक है। लेकिन धन कमाने का कर्तव्य स्त्रियों पर लादना यह भी एक अन्याय है। द्विभार्या विरोधक कानून को सब तरह से पुष्टि देते हुए हमें यह ध्यान में रखना चाहिए कि केवल कानून बस नहीं है। लोकमत को जाग्रत करना चाहिए और उसे शिथिल भी नहीं होने देना चाहिए।

(अप्रैल १९५७)

समुद्र यात्रा की कायरता

जाति भेद के दूसरे दोष तो है ही, लेकिन एक बडा दोष यह है कि जातिबद्ध समाज में हरेक व्यक्ति का पूर्ण विकास नही होता।

हमारे वैश्य राष्ट्रीय अर्थशास्त्र कहा तक जानते थे यह तो हमें नही मालूम। लेकिन हमारे क्षत्रिय, राज्यकर्ता होते हुए भी, राष्ट्रीय अर्थशास्त्र से अक्सर अनभिज्ञ रहते थे। और शूद्र तो अर्थशास्त्र का आरम्भ भी नही जानते थे।

दूसरी एक महत्व की बात। देश की रक्षा का भार क्षत्रियों ने उठाया इसलिए राष्ट्र रक्षा का विचार तक बाकी के लोगो ने छोड दिया। अगर क्षत्रिय हारे तो सामान्य जनता शत्रु के अधीन होते देरी नही लगाती थी। आज भी यह हालत सुधरी हुई नही है।

गांधीजी ने भारपूर्वक कहा था कि जिस आदमी को भूख लगती है और अन्न के आहार के बिना जो जी नही सकते उन सब को खेती का कुछ-न-कुछ काम कमोबेश करना ही चाहिए। यही नियम देश की रक्षा के बारे में लागू है।

भारत का इतिहास पढते हम स्पष्ट रूप से देखते है कि विदेशी लोगो ने इस भूमि पर जब कभी आक्रमण किया, या तो हमारे सरहद के पहाड लाँघ कर, या समुद्र के रास्ते आ कर। यह सब स्पष्ट जानते हुए भी हमारी सेना को आधुनिक ढग के पहाडी जग की पूरी शिक्षा शायद नही दी गयी है। अफगानिस्तान की सरहद के बारे में सोचने की अब जरूरत नही है। लेकिन असम, मणिपुर की ओर सजग-सतर्क तो रहना ही होगा।

लेकिन आज यहाँ इस पहाडी रक्षा की बात नही करनी है। सन् १४५० से विदेशी लोग दरिया के रास्ते हमारे यहाँ आने लगे। पोर्तुगीज, डच, फ्रेंच, अँगरेज सब ने आ कर यहा राज्य किया। लेकिन आज तक हम लोगो ने समुन्दर का विज्ञान और नौकानयन की कला में जरूरी प्रगति नही की। सारा-का सारा देश जैन नही बना है। मास और मछली खाने वाले लोग देश में काफी है। अँगरेजो के जहाज पर नौकरी करने वाले भारतीय खलासी काफी है। लेकिन हम लोगों ने दरियाई तिजारत की महत्वाकाक्षा कभी रखी ही नहीं। जापानी लोग अपने जहाज ले कर हमारे यहाँ आते हैं। स्वीडन, नार्वे के जहाज आते हैं। अमेरिकन, रशियन जहाज भी आते है। अँगरेजों के जहाज तो अब

भी हमारे सागर पर अपना प्रभुत्व जमाये हुए हैं।

भारतीय स्वराज्य सरकार के पास अभी जहाज कितने हैं ? हमारी नौ-सेना कितनी तैयार है ? यह सवाल महत्व का है ही। लेकिन उस से भी अधिक महत्व का सवाल है कि हमारे व्यापारी जहाज कितने हैं ? भारत के पास खनिज सम्पत्ति, जंगल की सम्पत्ति बहुत है। हमारे यहाँ अब हमारा कल-कारखानों का माल भी बढ़ रहा है। विदेश के लोग अगर अपना माल भरी जहाजों में लाकर हमारे यहाँ बेचने आते हैं तो हम भी अपना माल भरी जहाजों में भर कर विदेश बेचने क्यों न जायें ?

जब मैं देखता हूँ कि हमारे समुद्र किनारे के बारे में और हिन्द महासागर के बारे में विदेशी लोगों की ओर से लिखे हुए अच्छे-अच्छे सैकड़ों ग्रन्थ हैं और हमारी ओर से कुछ भी लिखा हुआ नहीं है, तब मुझे बड़ा ही दर्द होता है। और शर्म की बात तो यह है कि विदेशी लोगों की ओर से लिखे हुए कौन-कौन से ग्रन्थ हैं, उस का भी पता हमें नहीं है। और जब कोई ऐसे ग्रन्थ हमारे सामने आते हैं तब उन्हें पढ़ने की दिलचस्पी भी हमारे लोग नहीं व्यक्त करते।

हमारे यहाँ खारवा या खलासी जाति के जो लोग हैं उन की हिम्मत, उन का कौशल्य, उन की प्रामाणिकता और उन की सज्जनता सब लोग जानते हैं। दुनिया में इन का नाम इन गुणों में उच्च स्थान पर है। लेकिन इस जाति को हम ने कभी आज तक अपनाया नहीं है, इन की कदर की नहीं। भारतभूषण आदि इनाम आज तक हम ने इन लोगों को नहीं दिया। प्रो० गुप्त जैसे नौका-नयन विशारद हमारे देश में कौन-कौन कितने हैं यह देख कर उन के पास देश के नवयुवकों को भेजना चाहिए। ताकि सागरीय-यात्रा और नौकानयन विद्या के बारे में समस्त देश में एक नया उत्साह पैदा हो जाये।

आजकल विदेश से आये हुए विद्यार्थियों को भारत भ्रमण के लिए काफ़ी सहूलियतें और प्रोत्साहन दिया जाता है। देश के युवकों को भी थोड़ा कुछ प्रोत्साहन मिलता है। लेकिन यह सब रेल की यात्रा तक सीमित है। रेल, बस और पैदल यात्रा तो हमारे लोग जानते हैं। हम आखिरकार जमीन के जीव हैं। कोंकण पश्चिम किनारे पर रहने वाले लोग बम्बई से मंगलूर तक आते-जाते रहते हैं। इन्हें समुद्र की ही यात्रा करनी पड़ती है। लेकिन मध्यम वर्ग के इन लोगों में से कितने लोगों ने समुद्र-यात्रा का उत्साह दिखाया है ? जिन्हें समुद्र-यात्रा करनी पड़ती है वे मानो जुलाब की दवा ली हो ऐसा मुँह कर के समुद्र-यात्रा के कष्टों का वर्णन करते हैं। इन्हें अगर स्वराज्य प्राप्ति के बाद एक चीज के ख्वाब आते होंगे तो वे बम्बई से मंगलूर तक बने रेलवे बनाने के हैं।

ताकि जहाज़ की यात्रा करनी न पडे। समुद्रयात्रा का कुछ उत्साह दीख पडा कच्छी लोगो में, कन्याकुमारी की ओर पूवसमुद्र के किनारे पर और थोडा कुछ पूव बगाल में। बाक़ी सब भारतीय समुद्रयात्रा निषेध युग के ही लोग हैं।

(१ जून १६६७)

चरैवेति चरैवेति

समुद्र यात्रा करके हमारे लाग सीलोन बसे हुए हैं। सोलोन की असली प्रजा भी ज्यादातर प्राचीन काल में भारत से ही जा कर वहाँ बसी हुई है।

हमारे लोगा ने बर्मा, जावा, चम्पा, स्याम आदि प्रदेशा में जा कर धम प्रचार किया और व्यापार भी बढ़ाया। आज हमारे भारतवासी सुदूर फिजी टापू में जा कर बसे है और वहीं के वाशि दे बने हैं। दक्षिण-पश्चिम में मौरिशस टापू में भारतीयो की सख्या काफी ह। हमारे पश्चिम की ओर पूव अफ्रीका में लाखों भारतीय जा कर बसे हुए हैं। दक्षिण अफ्रीका में भी उन की सख्या काफी ह। गोरी प्रजा हमारे लोगा को वहाँ आराम से रहने नही देती।

दक्षिण अमेरिका की उत्तर की ओर भी ट्रिनिदाद, सुरिनाम और ब्रिटिश गियाना में हमारे लोग काफी सख्या में ह।

जब युरेप की प्रजा दुनिया के सब खण्डों में और टापुओ में जा कर बसी तब हम घोर निद्रा में पडे हुए थे। अब तो हिंदुस्तान के बाहर जा कर कहीं भी बसना आसान नही रहा। जहा जाने की कोशिश करें दरवाजा बन्द मालूम पडता ह। लेकिन हम विद्या-अर्जन के लिए, तिजारत के लिए या नये-नये मुल्क देखने के उद्देश्य से जरूर दुनिया घूम सकते हैं।

लेकिन हमें न अपने देश के बारे में पूरी जानकारी ह, न पडोस के या दूर के देशा के बारे में। जब से काश्मीर का मामला दुनिया के सामने पडा हुआ है, विदेश के लडके-लडकियाँ काश्मीर जा कर वहाँ की हालत अपनी नजरों देख रहे ह। अभी मेरे पास स्विट्‌जरलड के उन्नीस-उन्नीस बरस के दो लडके आये थे। घर के कोई अमीर नहीं हैं। सारी दुनिया का भ्रमण करने का सकल्प है। हर तरह की कठिनाइयाँ झेलते हुए घूम रहे हैं। मेरे पूछने पर हँसते हँसते उन्हाने कहा कि एक दफ़े तुर्किस्तान में हमें दस दिन फ़ाका करना पडा। जेब में कुछ था ही नहीं। फिर अखबार के लिए कुछ लिखा पैसे कमाये और आगे चले।

हमारे देश के नवयुवकों को दुनिया देखने के लिए और अपने ज्ञान की वृद्धि करने के लिए घुमक्कड़ बनना चाहिए। हमारे पूर्वज बारह बरस की पढ़ाई के बाद तीन साल तक भारत भ्रमण करते थे। उस के बाद आ कर के कहीं भी स्थिर होते थे। काशी रामेश्वर की यात्रा की, द्वारिका, कन्याकुमारी, जगन्नाथपुरी और बद्रीनारायण की यात्रा की तब वे मानते थे कि उन्होंने दुनिया देख ली। उन के जमाने के लिए वह ठीक था। मुग़लों के जमाने में भारत और ईरान के बीच लोगों का आयागमन खूब होता था और संस्कृति का आदान प्रदान भी। अब तो हमें दुनिया के सब देशों में जाना है। लेकिन कम से कम भारत के पड़ोस के देशों का और टापुओं का ज्ञान तो हमें लेना ही चाहिए।

आजकल भारत के अन्दर ज्ञान यात्रा और सेमीनार का बोलबाला बहुत है। जो नवयुवक चार सेमीनार में उपस्थित रहा उसे पुरस्कार-रूप प्रमाण-पत्र मिलता है। यह अच्छा है। लेकिन साथ-साथ हमें एक राष्ट्रीय फेहरिस्त रखनी होगी, जिस में अपने ही उत्साह से जो नवयुवक विदेश हो आये हैं उन की योग्यता दर्ज की हो। ऐसे लोगों को उन के लायक काम ढूँढ कर के देना राष्ट्रीय सरकार का कर्तव्य है। ऐसी फेहरिस्त पाँच-दस साल तक ही रखनी होगी। उस के बाद विदेश हो कर आये हुए नवयुवकों की संख्या इतनी बढ़ेगी कि उन की फेहरिस्त मानो मर्दुम-शुमारी बन जायेगी। लेकिन भारतभ्रमण और विश्वभ्रमण को खास प्रोत्साहन देने की जरूरत है।

भारत के जातिभेद के, ऊँच नीच के और ऐसे ही दूसरे सामाजिक सवाल हल करने का यही अच्छा तरीका होगा।

(११ जून १९५७)

समानता की साधना

किसी भी जाति के धार्मिक, सामाजिक रीति रिवाज उस के आध्यात्मिक आदर्शों के अनुसार ही होने चाहिए। आदर्शों में अगर सुधार या परिवर्तन हुआ तो संस्कार और रस्म रिवाजों में भी परिवर्तन होना चाहिए। लेकिन ऐसा नहीं होता। रस्म रिवाज एक दफे बन गये तो बन गये, फिर तो उन में परिवर्तन करने की शक्ति व्यक्ति के हाथ में नहीं रहती। सारा समाज तैयार होगा अथवा कोई बड़ा जबरदस्त आन्दोलन आ खड़ा होगा तभी परिवर्तन हो सकते हैं।

हमारे यहाँ वैदिक काल के आदर्श अलग थे। वैदिक संस्कृति का काफ़ी विकास होने पर वेदांतिक संस्कृति का उदय हुआ। वेदान्त के साथ मोक्ष आया। स्वर्ग और यज्ञ गौण हो गये। मोक्ष के आदर्श के कारण वैदिक कर्मकाण्ड की जगह कर्मयोग की स्थापना हुई। लेकिन वेदांत के उत्साह ने एक तरफ़ ज्ञानयोग और दूसरी तरफ़ भक्तियोग को प्रधान बनाया। ज्ञान का और भक्ति का पूरा-पूरा प्रचार और अनुभव होने के बाद कर्मयोग की प्रधानता अपने-ही-आप आगे आयी।

ज्ञानयोग हो या कर्मयोग परब्रह्म की उपासना उस के साथ थी ही और ब्रह्म रहा निर्दोष और सम (निर्दोष ही समम् ब्रह्म)। इस लिए मनुष्य की साधना में जीवन शुद्धि और समाज में समता का आना जरूरी था।

लेकिन ऐसा नहीं हुआ। यज्ञमार्गी लोग हिंसा को छोड़ने को तैयार नहीं थे और अहिंसा के बिना जीवन शुद्धि हो नहीं सकती। कर्मकाण्डी लोगों ने दलीलें चलायी—याज्ञीया पशुहिंसा हिंसा न भवति।—यज्ञ के लिए पशु को मारना हिंसा नहीं है। ऐसा कहने तक उन्होंने हिम्मत की। पशु तो रोते रोते मरते थे और मार कर खाने वाले लोग कहते थे, 'इस में हिंसा नहीं है'। कर्मकाण्डी लोगों ने अपनी धर्मबुद्धि को सन्तोष देने के लिए दलीलें चलायी कि यज्ञ में जो पशु मारे जाते हैं उन को स्वर्ग मिलता है। अतएव उन का कल्याण ही होता है। इन की हँसी उड़ाते चार्वाक कहने लगे, "अगर ऐसा ही है तो यज्ञ में अपने पिता की बलि क्यों नहीं देते? वे तो स्वर्ग की कामना भी करते हैं, बेचारे पशु स्वर्ग की बात भी नहीं जानते और इच्छा भी नहीं करते।"

यज्ञ के लिए लकड़ा चाहिए और पशु चाहिए। दोनों का नाश करने से स्वर्ग मिलता है, यह दलील जिन की समझ में नहीं आयी वे पूछने लगे—अगर पेड़ को काट कर, पशुओं को मार कर और लहू को कीचड़ बना कर स्वर्ग जाया जाता है तो नरक जाने का उपाय कौन-सा है? धीरे धीरे यज्ञ संस्था अप्रतिष्ठित हो गयी और वेदान्तियों ने यज्ञ का बड़ा व्यापक अर्थ किया और पशुवध बन्द हो गया। न जाने इतना सुधार करते कितने जमाने बीत गये।

ब्रह्म के दो लक्षण हैं—निर्दोष और सम। अगर मनुष्य अपने जीवन द्वारा परब्रह्म की उपासना करना चाहे तो सत्य (ईमानदारी) अहिंसा और संयम के द्वारा ही मनुष्य निर्दोष हो सकते हैं। परब्रह्म का दूसरा लक्षण है समम्। मनुष्य हृदय में और समाज में समानता किये बिना ब्रह्म की उपासना कैसे हो सकती?

सुख-दुःख के बारे में समम् बनने की साधना वेदान्तियों ने अच्छी की। लाभ-हानि, जय-पराजय के बारे में समानता धारण करने का उपदेश भी काफ़ी

हुआ। लेकिन विद्या विनय-सम्पन्न ब्राह्मण, गाय, हाथी, कुत्ता और कुत्ते को मार कर पका कर खाने वाला चाण्डाल—इन के बीच समदृष्टि रखो [redacted] उपदेश हमारी आर्य-संस्कृति ने गीता में ही रहने दिया। पण्डित कहने लगे, "गीता ने दृष्टि समान रखने को कहा है, आचरण समान रखने को कहाँ कहा है ? (पण्डिता समदर्शिन न तु समवर्तिन) ऐसी दलील वे न करें तो चातुर्वर्ण का उच्च-नीच भाव छोड़ना पड़ेगा। सनातनियों का सिद्धांत था कि ब्राह्मण भ्रष्ट हुआ तो भी इतर वर्णों से श्रेष्ठ है। शूद्रों की अपेक्षा द्विजातीय श्रेष्ठ। उन में भी ब्राह्मण श्रेष्ठ। ऐसी व्यवस्था छोड़ने को सनातनी तयार नहीं थे। आज भी नहीं हैं। हिंदू जाति और हिंदू संस्कृति की बुनियाद में ही यह उच्च-नीच भाव भरा है।

दुनिया के दूसरे लोगों में और दूसरी संस्कृतियों में अभिमान, मगरूरी और दूसरों के प्रति तुच्छता काफ़ी है लेकिन उसे उन्होंने धर्म की बुनियाद नहीं दी। हमारे यहाँ मनुस्मृति में भी वर्णों का श्रेष्ठत्व और कनिष्ठत्व पूरा-पूरा पाया जाता है। अनुलोम और प्रतिलोम का भेद भी नहीं तो कहाँ से आता ?

असल में पुरुष श्रेष्ठ और स्त्री कनिष्ठ ऐसा भेद भी हमारी संस्कृति में और दुनिया की अनेक संस्कृतियों में शुरू से आज तक मौजूद है। (कितना अच्छा कि पशुओं में नहीं है!) ईसाई लोगों में पहले ऐसी भी मान्यता थी कि स्त्री की आत्मा ही नहीं होती है। प्राण है, सुख-दुःख है, बुद्धि और भावना है लेकिन आत्मा नहीं है।

संस्कृति के दोष दूर कर के विचार-शुद्धि और जीवन-शुद्धि करने वाले बुद्ध भगवान् भी इस संकुचितता से मुक्त नहीं थे। इस लिए प्रथम उन्होंने स्त्रियों को दीक्षा देने से इनकार किया और जब दीक्षा देनी पड़ी तब नियम बनाया कि बिलकुल नयी दीक्षा जिसे मिली है ऐसा पुरुष भिक्षुक वृद्ध से वृद्ध पुरानी भिक्षुणी से भी श्रेष्ठ माना जाय और तमाम भिक्षुणियाँ उसे वन्दन करें।

यह सारा उच्च-नीच भाव हमारे मानस में उतर गया और रस्म रिवाजों में भी पाया जाता है। हम अगर समानता की बात करें और रस्म रिवाज पुराना रखें तो स्वभाव में परिवर्तन नहीं होगा। इस लिए समाज को जो रस्म रिवाज मान्य है, पसन्द है, पूज्य है, ऐसों का भी फिर से विचार करना ही चाहिए। बाह्य आचार में परिवर्तन करने से भी मानस-परिवर्तन हो सकता है और समाजमान्य बनता है।

किसान जाति का एक बड़ा अफ़सर कभी जज, कभी कलेक्टर बनता था। रिवाज के अनुसार उस के नौकर बूट पहनने में उस की मदद करते थे, बूट साफ़ कर सकते थे। यह बिल्कुल स्वाभाविक था। अब एक दफ़े उस की

कचहरी में एक गरीब ब्राह्मण चपरासी बन कर नौकरी पर लगा। बूट उतारने के लिए अफसर ने प्रथम उस को बुलाया। तुरंत उस को खयाल आया कि यह नौकर जाति का ब्राह्मण है। ब्राह्मण जाति के हाथ से बूट उतरवाने की उस की हिम्मत न चली। जाति-पांत को न मानने का उस का सिद्धांत था। इस लिए उस ब्राह्मण नौकर को अब मना करना भी मुश्किल हो गया। उस अफसर ने अपने मन की दुविधा मेरे सामने व्यक्त की। मैं ने कहा, यही तो संस्कारों का महत्व है और इसी लिए सिद्धांत के अनुसार संस्कार भी बदलने चाहिए।

अब दूसरी एक बात देखिए। हम ने अपने शरीर में भी मान लिया कि सिर ऊंचा है इस वास्ते वह श्रेष्ठ है। पांव जमीन पर चलते हैं इस लिए वे कनिष्ठ हैं। किसी को गलती से हमारे हाथ का स्पर्श हुआ तो इस का किसी को बुरा नहीं लगता, लेकिन पांव का स्पर्श हुआ, बिलकुल गलती से, तो भी मनुष्य बार-बार माफी मांगता है। वेद में भी चार वर्णों की एकात्मता बताने के लिए पुरुषसूक्त बनाया गया। उस में कहा है—ब्राह्मण समाज-पुरुष का मुख है। क्षत्रिय उस के बाहु हैं, वैश्य समाज-पुरुष की जांघ हैं और शूद्र तो बेचारे पांव में से पैदा हुए।

अब ऐसी व्यवस्था में अगर किसी को मैं आदर दिखाना चाहूं तो कहूंगा, 'आप इतने बड़े और ऊंचे हैं कि जहां आप के पांव हैं वहां मेरा सिर रहेगा। (बुद्ध भगवान् ने तमाम स्त्री भिक्षुणियों को पुरुष भिक्षुसंघ के नीचे रखा—वैसी ही यह बात है।) स्त्रियों को और शूद्रों को वेदमंत्र बोलने का अधिकार नहीं, ऐसा नियम बनाने से स्मृतिकारों को सन्तोष नहीं हुआ। शूद्र लोग वेदमंत्र सुनें भी नहीं, ऐसा नियम बनाया गया। इस के आगे जा कर नियम बनाया कि धर्मशास्त्र पढ़ने का अधिकार केवल विद्वान ब्राह्मण को ही। औरों को यह अधिकार नहीं है। और आखिरकार उन्होंने नियम बनाया कि शूद्र लोग संस्कृत भाषा ही न सीखें। और इस नियम के लिए स्पष्टता की कि जो ब्राह्मण नहीं हैं उन सब को कलियुग में शूद्र ही गिनना चाहिए। संस्कृत तो देववाणी है, उसे पवित्र रखना चाहिए।

मनुस्मृति में असंख्य बातों में यह ऊंच-नीच भेद चलाया गया है। दण्ड कितना ऊंचा हो ब्रह्मचारी के कपड़े किस रंग के हों, नमस्कार का प्रकार कैसा हो, हरएक जाति के लिए नियम अलग। और जाति-व्यवस्था में स्थान ऊंचा या नीचा।

यह सब तोड़ना ही चाहिए। चंद नियम आप-ही आप टूट गये लेकिन

बहुत-से रहे हैं। जो उम्र में बड़े हैं, जाति में श्रेष्ठ हैं अथवा पुरुष हैं उन को नमस्कार करते कम योग्य लोगों को उन के चरणों पर अपना माथा रखना चाहिए। माथा नहीं रखा जाता तो कम से कम हाथ से चरणों को स्पर्श करना चाहिए। स्पर्श सेवा का द्योतक है और उसे नम्रता भी बताया जाता है।

अपने गुरु का जिक्र नाम से नहीं करना चाहिए सो बात तो ठीक, लेकिन गुरु का जिक्र गुरु शब्द से भी नहीं करना चाहिए। गुरुचरण कहना चाहिए। नम्र और निष्ठावान् शिष्य कभी नहीं कहेगा कि गुरु की आज्ञा शिरोधार्य है। वह कहेगा गुरुचरणों की आज्ञा शिरोधार्य है। बड़ों के चरण और छोटों का सिर इन्हीं का सम्बन्ध बन सकता है।

गुरु शिष्य सम्बन्ध, मालिक और नौकर का सम्बन्ध, उच्च और हीन जाति का सम्बन्ध पति-पत्नी का सम्बन्ध सब में आदर और नम्रता बताने के लिए चरण तो लाने ही पड़ते हैं। मेरे जैसा कहेगा कि गांधीजी के चरणों में बैठ कर जो हम ने पाया, वही आप को कहता हूँ इत्यादि। नम्रता दिखाने के लिए ऐसी भाषा शायद ठीक है लेकिन सामाजिक समानता की तो इस से हत्या ही होती है।

दुनिया में आदर, निष्ठा, पूज्यभाव और उस के साथ नम्रता आदि सद्‌गुण रहने ही चाहिए। ये सद्‌गुण जब लुप्त हो जायेंगे तब मानवजाति में संस्कारिता रहेगी ही नहीं। बड़ों के प्रति आदरभाव होना ही चाहिए। समान लोगों के प्रति सद्‌भाव होना चाहिए। छोटों के प्रति वात्सल्यभाव न रहा तो भी उन की इज्जत तो करनी ही चाहिए। लेकिन यह सब दिखाने के लिए अपने को हीन दीन बनाने की क्या जरूरत है?

इसलिए सारा पूरा विचार कर के मैं इस नतीजे पर आया हूँ कि चरणों पर माथा टेकने की और चरण स्पर्श की बात तो निकालनी ही चाहिए। दूसरे समाजों में यह रिवाज नहीं है तो क्या उन लोगों में नम्रता और आदर नहीं है? नम्रता और आदर मनुष्यमात्र में होते ही हैं और बताने के तरीके भी होते हैं। लेकिन अपने को हीन बनाने की बात उस में नहीं होती। इसलिए मैं लोगों को समझा रहा हूँ कि आदर दिखाने के लिए हम हाथ जोड़ कर खड़े-खड़े नमस्कार करें। बहुत हुआ तो सिर जरा-सा झुके। लेकिन कमर झुका कर नमस्कार करने का और पांव छूने का रिवाज छोड़ ही देना चाहिए।

मेरे इस नये नियम का विरोध कोई अच्छे-अच्छे लोगों ने किया है। उन के प्रति मेरे मन में आदर है। लेकिन अपनी बात पर अब मैं दृढ़ हूँ।

एक दिन मैं बम्बई से अहमदाबाद या साबरमती गया। उन दिनों मैं

गुजरात विद्यापीठ चलाता था। स्वाभाविक था कि मेरे चन्द विद्यार्थी मेरा स्वागत करने के लिए स्टेशन पर आवें। इस तरह विद्यार्थी आते भी थे। लेकिन इन में से एक महाराष्ट्रीय जवान मेरी ओर विशेष आकर्षित हुआ। रेलगाडी से मैं जसे ही उतरा, उस ने आ कर मेरे पाँव छूए और उस के साथ आये हुए दूसरे चार-पाँच लडके क्या करें? दखादेखी उन्होंने भी चरण स्पर्श किया, जो मैं चाहते नहीं थे। उन का रिवाज भी वैसा नहीं था। मैं ने उस महाराष्ट्रीय विद्यार्थी को समझाया कि तुम ने सब को और मुझ को भी सकट में डाला यह अच्छा नहीं है। मन में आदर कम हो या ज्यादा। उस को बताने का तरीका सब मान्य होना चाहिए। जब वह नहीं माना तब उसे मैं ने बीच का रास्ता बताया। जब तुम अकेले मिलो तब चाहे चरण स्पर्श करो, तुम्हारे लिए मैं सहन करूँगा। (राजी तो हरगिज नहीं होऊँगा) लेकिन दूसरों के सामने पाँव छूना और कमर झुकाना बिलकुल मना है। बाद में उस ने देख लिया कि दो ढग का रिवाज चल नहीं सकता। क्योंकि चरण स्पर्श चोरी का मामला हो गया। फिर उस ने वह भी छोड दिया।

आज के जमाने को हम डेमोक्रेटिक जमाना कहते हैं। जनता का, प्रजा का, सामान्य मनुष्य का और समानता का यह जमाना है। इस में उच्च-नीच भाव की शका भी आ जाये ऐसे सब रस्म रिवाज छोड देने चाहिए। और भारतीय संस्कृति में श्रेष्ठ-कनिष्ठ का पाप हम ने इतना चलाया है और सार्वभौम बनाया है कि हमें तो ये सारे पुराने रस्म रिवाज प्रयत्नपूर्वक और प्रतिज्ञापूर्वक छोड देने ही चाहिए। बडी कडाई से बन्द करने चाहिए।

किसी ने कहा "आज कल के जमाने में लोगों में आदर रहा ही कहाँ है? आप का नियम आज के नवयुवक खुशी से पसन्द करेंगे।"

मैं ने हँस कर कहा, 'अगर बात ऐसी है तो मेरी बात जोरों से और जल्दी चलनी चाहिए ताकि नवयुवकों को उद्दाम न होना पडे।"

हम चरणस्पर्श चाहें और मान लें और उस की अपेक्षा रखें और जवान लोग उस में अरुचि और सकोच बतावें इस में दोनों की शोभा नहीं है। हम ही अपनी ओर से गलत रिवाज को तोड दें तो कितना अच्छा?

और एक बात है। जब हमारी स्त्रियाँ पुरुषों के प्रति आदर दिखाने के लिए नीचे झुकती हैं जमीन पर माथा टेकती हैं अथवा पाँव को छूती हैं तब मैं शरम का मारा अधमुआ हो जाता हूँ। स्त्री जाति के प्रति आदर दिखाना पुरुषों का काम है। उम्र में छोटी हो या बडी स्त्री को तो आदर दिखाने के लिए हरगिज नीचे नहीं झुकना चाहिए। हाथ जुडें, सिर जरा-सा झुके इतना काफी है।

देश के और समाज के पुराने और नये नेताओं से मेरी प्रार्थना है कि हमारी संस्कृति में से सर्वव्यापी, सार्वभौम, ऊंच-नीच भाव को दफनाने के लिए इतना सुधार जरूर करें कि कमर झुकाना, चरण स्पर्श करना, जमीन पर माथा टेकना और वैसी भाषा बोलना एकदम बन्द कर दें। इस से आर्यसंस्कृति की हानि होने वाली नहीं है, लाभ ही है और भगवान् 'निर्दोषं हि सम ब्रह्म' हमारे जमाने को आशीर्वाद देगा।

(१६ जनवरी १९६६)

नीति याने सदाचार

सदाचार की बात सोचते ही 'नीति' शब्द सब से पहले ध्यान में आता है। राजा भर्तृहरि ने नीति के सौ श्लोक लिख कर आर्यजनों को सदाचार का रास्ता बताया है। नीतिमान् धीमान् आदि शब्द इसी अर्थ में प्रचलित हुए हैं।

धर्म की कल्पना में भी सदाचार आ जाता है इस में जब धर्म अर्थ, काम और मोक्ष इन चार पुरुषार्थों की बात आ जाती है तब उस में धर्म से तो केवल आरम्भ होता है। वहाँ धर्म का भाव है सामाजिक सदाचार के नियमों का पालन। इस से जो उच्च धर्म है वह है मोक्ष का धर्म। मोक्ष धर्म ही सर्वोच्च पुरुषार्थ माना गया है। हालांकि मोक्ष से श्रेष्ठ भूमिका है विश्वात्मैक्य की।

भर्तृहरि ने भी प्रारम्भिक सदाचार के लिए नीतिशतक' लिखने के बाद अंतिम उपदेश दिया 'वैराग्य शतक' के द्वारा। ('विज्ञान शतक' शायद भर्तृहरि का नहीं है।)

अब संस्कृत में और हमारी देशी भाषाओं में भी 'नीति' का अर्थ बहुत कुछ गिर गया है। यहाँ तक कि नीति का अर्थ धूर्तता छल-कपट भी हो सकता है।

'नीति' का मूल अर्थ है सदाचारी लोगों के आचरण के नियम, जीवन की एक विशेष परिपाटी। सच बोलना इन्द्रियों पर काबू रखना, दिये हुए वचन का पालन करना, दूसरे के भले के लिए अपने स्वार्थ को छोड देना, जीवों के प्रति दयाभाव रखना, क्रूरता का त्याग करना काम क्रोध, लोभ आदि मनो विकारों पर अंकुश रखना इत्यादि बातें मिल कर नीति बनती है।

ऐसी नीति का पालन अपनी अन्तरात्मा के सन्तोष के लिए और समाज के कल्याण के लिए जरूरी माना गया है।

जो सच बोलता है उस के वचन पर सब का विश्वास बैठता है। लोग उस का आदर करते हैं। यह हुआ सत्यवादिता से मिलने वाला स्वाभाविक लाभ। ऐसे लाभ को हम भूलें नहीं। लेकिन ईमानदारी का पालन ऐसे लाभ के लिए आदमी नहीं करता। जो लोग ईमानदारी से होने वाले लाभ को ही महत्त्व का मानते हैं उन्हीं की बनायी हुई कहावत है—'Honesty is the best policy' यहाँ policy का अर्थ है 'नीति'। हमारे लोग भी कभी कभी 'नीति' शब्द का उपयोग policy के अर्थ में करते हैं।

व्यक्ति का आचरण कैसा हो इस के नियम कुल परम्परा की रीति में पाये जाते हैं। हरएक जाति के अगुआ अपनी अपनी जाति के लिए नीति नियम बनाते हैं। सब के लिए एक-से नियम नहीं होते। ब्राह्मण तपोभ्रष्ट होने से डरेगा। क्षत्रिय युद्ध में पीठ दिखाने से डरेगा। वैश्य दिवाला निकलने पर आत्महत्या करेगा। अपनी-अपनी जाति या वर्ग की खास नीति के लिए अँगरेजी शब्द है, 'Persona'

अब ऋषि-मुनियों ने वर्ण के अनुसार और जाति के अनुसार सदाचार के नीति नियम बनाये। उन में राजा के लिए (अब राजा लोग रहे नहीं, किन्तु राज्यकर्ता—राजपुरुष हैं, उच्चाधिकारी और अमलदार हैं।) ये हैं

राजा को सफलतापूर्वक राज्य चलाना है, जागरूक रह कर प्रजाहित करना है तो मामूली नीति से उस का काम नहीं चलेगा। राजा के स्थान पर नियुक्त होते ही उसे सोचना पड़ता है

(१) दूसरे राजाओं के साथ मेरा व्यवहार कैसा हो?

(२) अपनी प्रजा के साथ सम्बन्ध कैसा रखा जाय?

(३) अपने ही मन्त्री, सलाहकार और अपने अपने महकमे के राज कर्मचारियों के साथ मेरा सलूक कैसा हो?

(४) राजगद्दी पर लोभी नजर रखने वाले अपने दामादों के प्रति व्यवहार कैसा हो?

(५) और अपनी स्त्री, पुत्र, मित्र व स्नेही और दास दासियों के साथ व्यवहार कैसा हो?

सब के ऊपर एक-सा विश्वास रखना राजा के लिए घातक होगा। राजा अगर नरम रहा तो लोग उस का अनादर करते हैं। उस के सिर पर चढ़ बैठते हैं।

इस से उलटा राजा अगर कड़क और कठोर रहा तो लोग उस से त्रस्त होते हैं, उस से दूर भागते हैं। ऐसे राजा को प्रजा की निष्ठा नहीं मिलती।

इस लिए राजा की नीति नरम-गरम होनी चाहिए।

पड़ोसी राजा धोखा दे सकता है, दुश्मन बन सकता है, इस लिए उस के साथ सँभल कर चलना चाहिए। अगर उस ने धोखा दिया तो आत्म रक्षा के लिए उसे धोखा देने में हर्जा नहीं है ऐसी ऐसी बातें राजनीति में आती हैं। राजा को कहा गया है कि वह अपनी पत्नी को भी रहस्य की सब बातें न कहे, उस का विश्वास न करे। स्त्रियों के साथ सचेत हो कर चलना चाहिए और रहस्य की बात उन्हें कभी नहीं कहनी चाहिए, इत्यादि नियम सब देशों में पुरुषों ने बनाये हैं।

राजा लोग तो सभी के साथ धूर्तता से चलेंगे ही। लेकिन राजा को लोगों से भी सीधे ढंग से नहीं चलना चाहिए ऐसी सलाह दी जाती है—'नयो नृपजने' —और 'नारीजने धूर्तता' तो है ही।

'स्वदेश में चलाना धर्म को और शत्रु के देश में फलाना अधर्म' ऐसी विचित्र और अनर्थकारी सलाह भी नीति-ग्रन्थों में पायी जाती है।

राजा लोगों को और समर्थ लोगों को भी सीधे ढंग से नहीं चलना चाहिए ऐसी सलाह दी गयी है, क्योंकि सीधा चलने में खतरा है ऐसा बताया जाता है, हालाँकि दूसरे लोग कहते हैं कि दुर्बल आदमी के लिए धर्म-पालन का आग्रह हम नहीं रखेंगे। दुर्बल आदमी जैसा बन सके अपने को बचा ले, समर्थ होने पर धर्म का आचरण करे, ऐसा भी बताया गया है।

'समर्थो धर्ममाचरेत'।

सदाचार पर जिन का विश्वास है ऐसे लोगों का वचन है—

'धर्मो रक्षति रक्षितः'

लेकिन दुनिया कहती है कि ऐसा हमारा अनुभव नहीं है। सदाचारी लोग दुःस्थिति में पाये जाते हैं और दुर्जनों की भी तरक्की होती है। चन्द ईश्वर निष्ठ लोग भले ही कहें कि 'भगवान् भलों का भला ही करता है, और दुर्जनों का नाश,' लेकिन अनुभव ऐसा नहीं है। सज्जनों का भला ही होता तो लोग बुराई का रास्ता लेते ही क्यों? हम सब चाहते हैं कि सदाचार का फल अच्छा ही हो। सदाचारी को सब तरह का सुख मिले सन्तति, सम्पत्ति मिले, ऐसी हमारी भी इच्छा है। लेकिन वैसा होते दीख नहीं पड़ता। तिजारत करने वाले को मुनाफा मिलना चाहिए लेकिन धर्म का पालन करने वाले को सब तरह का लाभ ही हो ऐसा आग्रह नहीं रखा जाता। जब धर्मराज से पूछा गया कि आप इतने धर्मात्मा हैं तब आप की ऐसी दुर्दशा क्या हुई? तब उन्होंने जवाब में कहा,

"मैं धम को तिजारत नहीं करता। दुदशा भी जीवन की उन्नति के लिए जरूरी तत्त्व है। दुदशा को हम दुर्दैव क्या मानें? उसमें से भी हमारा भला ही हो सकता है।"

जीवन की सफलता के लिए मनुष्य अनेक तत्त्व आजमाकर देखता है।

(१) सकटो के खिलाफ़ अपना पूरा बल लगा कर लडना।

(२) जीवन की सफलता के लिए बुद्धि का सहारा लेना।

(३) सफलता पाने के लिए समय सगठन खडा करना।

(४) न्याय के अनुसार चल कर विश्वास रखना कि जब "मैं किसी का बुरा नहीं करता, मेरा बुरा हो ही नही सकेगा।"

Wishing no body aught but good Naught but good can come to me,

(५) सभी के प्रति क्षमा, उदारता, करुणा और सरलता का व्यवहार कर के विश्वास रखना कि ऐसी साधुता का अच्छा फल मिलेगा ही। ऐसे लोगों को जब सिद्धि नहीं मिलती तब भक्त लोग कहते ह, 'तुम्हारी साधना में ही कुछ कमी रही होगी, वरना भगवान् के नियम तो अटल ह।'

सच्चे जीवन उपासक गीता धर्मी होते हैं। वे जानते हैं कि भला करने वाले की कभी दुर्गति नहीं होती। लेकिन सिद्धि-असिद्धि का शास्त्र गूढ़ ह। भले लोगों की मदद तो भगवान् अवश्य करते ही ह, लेकिन आध्यात्मिक उन्नति में मदद करते ह। सासारिक सिद्धि देंगे ही ऐसा वचन कभी उन्होने दिया नहीं है। सिद्धि के बारे में तटस्थ रहने की ही नसीहत दी है।

भले का भला ही होगा, यह सिद्धान्त केवल आध्यात्मिक अर्थ में ही सही है। सत्य की ही विजय ह ऐसा कहते हुए ऋषि ने परस्मैपदी धातु को आत्मने पदी बनाया, यह बताने के लिए कि सत्य की विजय ध्रुव ह, किन्तु वह आत्मने पदी विजय होगी। दुनिया की दृष्टि से भी विजय होगी, तुरन्त या यथा समय होगी ही ऐसा विश्वास रखने का कोई कारण नहीं ह।

हमें यह विश्वास होना चाहिए कि इस लोक में सारभूत तो सत्य का पालन ही ह।

'सच्चम्हि सारभूय लोकम्हि

दुनिया के लोग कहें या न कहें, आचरण में नीति का पालन यथा-शक्ति करते है और जब सत्य बोलना कठिन होता ह, मौन का सहारा लेते ह। मौन भी ईश्वर की एक विभूति ही है।

शास्त्रकारों ने भी सत्य बोलने में सज्जनों को कभी कभी जो कठिनाई होती

है, उसे ध्यान में रखते कहा है, 'असत्य कभी भी नहीं बोलना। इस में तो अपवाद नही हो सकता। सत्य बोलने में जब नविक दोष आता है, तब मौन से चला लेना।'

यहाँ तक जो विवेचन अथवा मनन किया, उस पर से स्पष्ट होगा कि नीति शब्द स्पष्ट नही है, इस लिए 'सदाचार' शब्द का प्रयोग ही चलाना चाहिए।

सदाचार के दो अर्थ होते हैं। सीधा अर्थ है सद् आचार यानें अच्छा आचार, शुद्ध आचार, कल्याणकारी आचार। दूसरा अर्थ है, सज्जनों की ओर से चलाया आचार। दूसरे अर्थ में आचार के अर्थ में सज्जन साधुपुरुष, नेक आदमी अथवा भल् अमीन लोग ही प्रमाण माने जाते हैं। पुराने जमाने में साहूकार का यही अर्थ था। सारा समाज जिस की नेकी पर विश्वास करता है, उसी को साहूकार कहते थे। जो चोर नही है, दुराचारी नही है, उसी का कहते थे साहूकार। लेकिन जिस तरह नीति शब्द बिगड गया उसी तरह साहूकार शब्द भी बिगड गया है। आज कल जिस के पास बहुत धन है और जो कर्जा दे कर सूद लेता है उसी को साहूकार कहते हैं।

धन की बात हम छोड दें। जो लोग ईमानदार है, सदाचारी है, जिन की नेकी पर समाज का विश्वास है, वे ही समाज का उत्तम धन हैं। लोगों की चारित्र्य-सम्पत्ति ही किसी भी समाज की पूँजी है।

(१६ जनवरी १९६६)

बौद्धिक आलस्य

सृष्टि के नियमों को पहचान लेना, हर घटना का कारण समझ लेना, मुसीबतों को दूर करने का उपाय ढूँढना और इस में कामयाब होने के लिए छोटी-बडी योजनाएँ चलाना, ये सब हैं मनुष्य के पुरुषार्थ के प्रकार। अपनी विचारशक्ति और कार्यशक्ति काम में लाना यही है—जीवनानन्द पाने का सब से अच्छा तरीका। इस रास्ते बुद्धि तेज होती है। विचारशक्ति शुद्ध होती है। अनेक चीजों का एक साथ आकलन करने की आदत पडती है और मनुष्य समर्थ बनता है। ज्ञान की उपासना करते और योजनाएँ कार्यान्वित करते मनुष्य के धैर्य की कसौटी होती है और धैर्य ही मानवीय जीवन का विशेष लक्षण है। किसी महान् उद्देश्य की सिद्धि के लिए बारह-बारह बरस तक प्रयत्न करते रहना

क्या है ? जो होने वाला है, हो कर ही रहेगा। हम लाख प्रयत्न करेंगे तो भी न होने वाला कभी नहीं होगा और होने वाला कभी टल ही नहीं सकेगा। जिस ने दैव का इस तरह सहारा लिया उस की बुद्धि क्या कर चलेगी ? उस का पुरुषार्थ मन्द होते-होते बन्द ही हो जायेगा।

आस्तिक लोगों का दैववाद कभी-कभी ईश्वर निष्ठा का रूप धारण करता है। भगवान् कर्तुम् अकर्तुम् और अन्यथा कर्तुम् समर्थ है। करना, नहीं करना और किये हुए का उलटा करना यह सब भगवान् का ही अधिकार है। ऐसी हालत में हम पुरुषार्थ क्यों करें ?

ईश्वर की इच्छा या हेतु समझने का प्रयत्न भी हम न करें। भगवान् की यह सब लीला है। और लीला तो निर्हेतुक ही हो सकती है।

बौद्धिक आलस्य का दूसरा एक सहारा है आनुवंशिक संस्कार का सिद्धान्त। एक आदमी होशियार है, दूसरा होशियार नहीं है, एक की बुद्धिशक्ति तेज है, दूसरा बुद्धू है इस का कारण हम क्यों ढूँढें ? दिमाग चलाना हमारा काम नहीं है। क्या हम नहीं जानते कि मनुष्य के स्वभाव की सारी खूबियाँ और खामियाँ उन्हें उन के माँ बाप के या पुरखों के आनुवंशिक संस्कारों से ही मिलती हैं। बनिया का बच्चा पैसे के हिसाब में चतुर होने वाला ही है। शूद्र का बच्चा कहीं हिसाब रखने में समर्थ हुआ है ? जिस का काम उसी के द्वारा हो सकता है, दूसरा करने लगा तो ठोकर ही खायेगा।

यही कारण है कि हमारे यहाँ लोगों के मन में शिक्षा के प्रति पूरा उत्साह नहीं पाया जाता। और हमारी बहुत सी जातियाँ हमेशा पिछड़ी हुई ही रहती हैं। आज कोई आदमी दुःखी और दरिद्र है इस का हम शोक क्यों करें ? पूर्वजन्म में उस ने अच्छा काम नहीं किया होगा इस लिए आज ऐसी बुरी हालत में पड़ा हुआ है। यह दलील है बौद्धिक आलस्य का तीसरा सहारा। इसे कहते हैं पुनर्जन्म के सिद्धान्त पर विश्वास। एक आदमी शरीर से दुर्बल है इस का कारण हम क्या ढूँढें ? क्या हम नहीं जानते कि पूर्वजन्म में इस ने कुछ पाप किया था। इस लिए इस जन्म में इस के शरीर का मांस नहीं बढ़ेगा।

दैव, आनुवंशिक संस्कार और पुनर्जन्म का असर कुछ-न-कुछ होगा तो जरूर। लेकिन हर चीज में उसी का सहारा ले कर बैठ जाना सोचने की तकलीफ़ न उठाना पुरुषार्थ न करना यह हो गयी है हमारी आदत। उसी को मैं बौद्धिक आलस्य कहता हूँ। यह रोग और किसी भी रोग से ज्यादा भयानक है।

और अब लोग दैव, आनुवंशिक संस्कार और जन्मान्तर के परिणाम को

आगे कर के सामाजिक अन्याय का समर्थन करने बैठते हैं तब तो बौद्धिक आलस्य के साथ नैतिक आलस्य भी काम करने लगता है। अन्याय और अत्याचार को देख कर हमारा पुण्य प्रकोप जागृत होना चाहिए। लेकिन हम तो आराम से कहने लगते हैं, 'पूर्व जन्म में कुछ बुरा काम किया होगा इस लिए इस जन्म में ऐसा नसीब ले कर आदमी आया है। इस का इलाज हम क्या करें? अपना-अपना भुगतने के लिए ही तो मनुष्य को जन्म मिलता है।'

जहाँ-जहाँ जनता को उपदेश दिया जाता है, धर्मप्रवचन किये जाते हैं, शिक्षा का प्रबन्ध है या राष्ट्रीय दुर्दैव की मीमांसा होती है वहाँ-वहाँ हमारे बौद्धिक आलस्य के बारे में लोगों का ध्यान खींचना ही चाहिए।

(१ फरवरी १९७०)

भावनात्मक एकता की बुनियाद

विविधता में एकता यही है कुदरत का नियम। विविधता में एकता की स्थापना करना यही है सब संस्कृतियों की प्रेरणा। विविधता के बिना सन्तोष नहीं। विविधता बिना समृद्धि नहीं। और एकता के बिना न सिद्ध होता है प्राण, न बढ़ता है सामर्थ्य। विविधता को नष्ट कर के एकता की स्थापना करना बड़ा आसान है, सस्ता है। लेकिन उस में जीवन की सार्थकता नहीं है।

हम अनाज पीस कर आटा बनाते हैं। आटे के कणों में एक-दूसरे को पकड़ रखने की शक्ति नहीं है। आटे में पानी डालने से हम उसे बाँध सकते हैं। उसी आटे को सेंक कर जब उस में घी और चीनी का पाक डालते हैं तब उस का लड्डू बनता है। शीतकाल के दिनों में वह लड्डू और भी सख्त और मजबूत बनता है। इस तरह एकता लाने के प्रधान तत्त्व चार हुए—पानी, जिसे हम जीवन भी कहते हैं, घी जिसे हम स्नेह कहते हैं और चीनी जिसे हम माधुर्य कहते हैं। और शीतलकाल की सर्दी से परेशान होने वाले हम लोग ठंड को संकट कह सकते हैं। भावनात्मक एकता अगर सिद्ध करनी है तो उस के लिए चाहिए स्नेह, माधुर्य, समान संकट और सहजीवन का अनुभव।

हमारे पुरखों ने जब भावनात्मक एकता की आवश्यकता महसूस की तब उन्होंने उस के लिए शीतकाल का एक त्योहार मुकर्रर किया और तय किया कि उस दिन छोटे-बड़े सब लोग मतभेद, मनमुटाव, अपमान, वैमनस्य आदि सब

भूल कर एक दूसरे से मिलें और तिल और गुड़ के लड्डू प्रेम से एक-दूसरे को दे दें। तिल और गुड़ का आहार शीतकाल में पौष्टिक होता ही है। भावनात्मक एकता के इस त्योहार को सक्रांति का त्योहार कहते हैं। इस दिन शीतकाल का जोर कम होता है और वसन्तकाल के यौवन की आशा पैदा होती है। सक्रांति के त्योहार का कहना है कि आपस में स्नेह बढ़ाओ, माधुर्य बढ़ाओ। जीवन के सहयोग के द्वारा परस्पर ओतप्रोत हो कर हार्दिक संगठन मजबूत करो और संकटों पर विजय प्राप्त करो।

जिन लोगों में आत्मीयता है उन में ईर्ष्या, असूया, मत्सर, एकांगिता, संकुचितता, लोभ और क्षमप नहीं आ सकते। मेरे हित सम्बन्ध जिन के हाथों में मैं सुरक्षित मानता हूँ वे सब मेरे आत्मीय हैं। जब हम सोते हैं तब बाहर से आ कर हमें कोई मार न डाले इसलिए हम दरवाजा बन्द कर के सोते हैं। घर के लोग एक-दूसरे से डरते नहीं। घर में जितने स्वजन अधिक हों उतने हम सुरक्षित हैं। बच्चे अपनी प्यारी चीजें, अपने खिलौने, खुशी से माँ के हाथ में सौंप देते हैं। और किसी को छूने तक नहीं देते। उन को विश्वास है कि माँ के मन में बच्चे का हित ही प्रधान है। स्वार्थत्याग कर के भी माँ अपने बच्चे को प्रसन्न रखती है। यह प्रेम, यह विश्वास और स्वार्थत्याग ही भावनात्मक एकता की बुनियाद है।

स्त्री और पुरुष के बीच शरीर रचना और मनोरचना का विलक्षण भेद होता है। लेकिन ऐसे भेद के कारण वे एक-दूसरे के दुश्मन नहीं बनते। एक दूसरे से भागते भी नहीं। दोनों के बीच जो भेद होता है वही उन का एक-दूसरे के प्रति आकर्षण होता है। प्यारी चीज एक-दूसरे को देने में, एक-दूसरे की सेवा करते थक जाने में उन्हें विशेष आनन्द मिलता है। यह भी अक्सर पाया गया है कि भेद के तत्त्व उत्तान और छिछले होते हैं। और वे स्थायी भी नहीं होते। इस से विपरीत एकता के तत्त्व गहरे, परस्पर पोषक और स्थायी होते हैं। इसीलिए तो यह दुनिया टिकी है और सामाजिक जीवन सब तरह के प्रत्यवाय होते हुए भी अबाधित चलता आया है।

विज्ञान कहता है इस विश्व में परस्पर विरोधी दो बल काम करते हैं। एक बल होता है हर चीज को केन्द्र की ओर खींचने का और दूसरा बल होता है उसी चीज को केन्द्र से हटाने का, दूर हटाने का। इन दो परस्पर विरोधी शक्तियों के सहयोग से चीजें गोल गोल घूमती हैं। जब गोफन में कंकड़ रख कर हम जोर से घुमाते हैं, तब कंकड़ हमारे हाथ से दूर भागना चाहता है और गोफन की रस्सी उसे हमारे हाथ की ओर खींचना चाहती है। इसीलिए गोफन

गोल गोल घूमती हैं और उस की रस्सियाँ कसी हुई तन रहती हैं। आकाश में चन्द्र पृथ्वी के इर्द गिर्द घूमता है पृथ्वी आदि ग्रह सूर्य के इर्द गिर्द घूमते हैं इस में यह दो बल काम करते हैं। चन्द्र अपनी जडगति के कारण पृथ्वी से दूर भागता है और पृथ्वी का गुरुत्वाकर्षण उसे अपनी ओर खींचता है। खींचने की शक्ति को अभिकेन्द्रीय शक्ति कहते हैं। केन्द्र से दूर भागने की शक्ति को अपकेन्द्रीय शक्ति कहते है। दोनों के सहयोग से चक्राकार गति सतत चलती रहती है।

बहुत कम लोग जानते हैं कि भावनात्मक एकता बनाये रखने के लिए ऐसे दोनों बलों के सहयोग की आवश्यकता होती है। विविधता भी एक बल है, एकता दूसरा बल है। इन दोनों के सहयोग से ही समाज का स्वास्थ्य कायम रहता है और प्रगति भी सिद्ध होती है।

आजकल हमारे राज्यकर्ता और विद्यागुरु दोनों मानने लगे हैं कि देश में अनेक भाषाएँ होने के कारण देश की एकता खतरे में आयी है और अँगरेजी के द्वारा ही देश की भावनात्मक एकता टिक सकती है। हम इस चीज को नहीं मानते। आज के राज्यकर्ता को अँगरेजी में राज्य चलाने की आदत पड गयी है। यह इनकी जडता है। राष्ट्रीय भावनात्मक एकता अँगरेजी पर निर्भर नहीं है, इतना ही नहीं अँगरेजी ने ही हमारी भावनात्मक एकता शिथिल कर डाली है। अँगरेजी जानने वाले लोग एक अपनी जातीय जमात बना बैठे है। सामाजिक, औद्योगिक और राजनीतिक नेतृत्व इन्हीं का है। फौज में दाखिल हो कर देश की रक्षा के लिए अपना खून कोई देना चाहे तो उसे भी कहा जाता है—अँगरेजी सीखे बिना तुम्हें यह अधिकार भी नहीं मिल सकता। अँगरेज कहते थे अँगरेजों के राज की बदौलत ही देश की एकता टिकी हुई है। अँगरेज तो चले गये। अब उन के शिष्य कहते हैं कि अँगरेजी के कारण ही देश की एकता टिकी हुई है। एकता मजबूत करनी हो तो अँगरेजी का राज मजबूत करो। वे कोई नयी बात लाना नहीं चाहते। वे कहते हैं राज अँगरेजी में चल ही रहा है। उसी को कायम करो। उन की बातें सुन कर प्रजा ने, जनता ने अपना हर प्रकार का सामाजिक और सार्वजनिक काम भी अँगरेजी में चलाया है और यह रिवाज बढ़ता चला जा रहा है। यहाँ तक कि अँगरेजी को हटाने का आन्दोलन भी सफलतापूर्वक चलाना है तो उसे भी अँगरेजी के द्वारा ही चलाना होगा। काँटे को निकालने के लिए काँटा ही चाहिए।

हमारा स्पष्ट अभिप्राय है कि जहाँ तक भाषा का ताल्लुक है, भावनात्मक एकता भारतीय भाषाओं के द्वारा ही सिद्ध हो सकती है।

भावनात्मक एकता लाने के लिए जरूरी है सर्वधर्म समभाव, जरूरी

भारत की सब भाषाओं के प्रति प्रेम और भाषाओं की पारिवारिक भावना। जरूरी है उच्चनीच भाव का उच्चाटन।

हमारे पुरखों ने देखा कि एक ही खानदान का एक समाज न बने, एक ही कुनबे का एक राष्ट्र न बने। इसलिए उन्होंने नियम बनाया कि एक ही खानदान के अन्दर स्त्री-पुरुष के विवाह नहीं हो सकते। जिसे अँगरेजी में Prohibited degree of relationship कहते हैं और जिसे हम सगोत्र और सपिण्ड विवाह का निषेध कहते हैं उस का उद्देश्य है हमारी भावनात्मक एकता बिल्कुल सकुचित न हो। इसी इलाज को व्यापक बना कर हम कह सकते हैं कि विवाह तो अपनी जाति के बाहर ही होने चाहिए। जिस तरह आज एक खानदान के अन्दर विवाह हो नहीं सकते उसी तरह एक जाति के स्त्री-पुरुषों का विवाह अन्दर अन्दर नहीं होना चाहिए।

राज्य का अधिकार चलाने वाले प्रधान, मन्त्री आदि जब अपने सेक्रेटरी नियुक्त करते हैं तब भी यही नियम होना चाहिए कि कायस्थ का सेक्रेटरी कायस्थ न हो। केन्द्रीय सरकार में बगाली अफसर का सेक्रेटरी बगाली न हो। सामाजिक सम्बन्धों में जो जितना नजदीक है उस का सहयोग कम लिया जाये। जो लोग दूर दूर के हैं उन्हीं को अपनाया जाये। वसीयतनामा कर के जब हम अपनी जायदाद दूसरे को देते हैं तब भी यही दृष्टि रखनी चाहिए।

श्री विनोबा का भूदान ग्रामदान का आन्दोलन भी भावनात्मक ऐक्य के लिए हर तरह से पोषक है। निःस्वार्थ सेवा का कोई भी कार्यक्रम भावनात्मक एकता को बढावा देता है।

असली बात तो भावना की ही है। जब हम अपने सब के सब देशवासियों को स्वकीय आत्मीय मानने लगते हैं तब हम न्यायतः राष्ट्रीय एकता ही मजबूत करते हैं।

(१ अक्तूबर १९६८)

भावनात्मक एकता, जीवनात्मक एकता

हाथ, पाँव नाक और आँखें आदि अवयव मिल कर शरीर बनता है। ये अवयव अलग-अलग जी नहीं सकते। एक दूसरे के सहयोग के बिना अपना काम भी नहीं कर सकते। जीने के लिए जीवन सफल बनाने के लिए, जीवन का उद्देश्य

चरितार्थ करने के लिए सब अवयवों की आवश्यकता है और इन सब अवयवों का सहयोग स्वाभाविक भी है। इसी लिए हम शरीर को जीवन का एक अविभाज्य एकम कहते हैं। और अवयव समुदाय को एक व्यक्ति कहते हैं। क्योंकि इन की एकता स्पष्ट है, अपरिहार्य है।

माता पिता, पुत्र-कन्या, भाई-बहन, पुत्र-पौत्र आदि अनेक व्यक्ति मिल कर कुटुम्ब बनता है। कुटुम्ब भी एक व्यक्ति है। माता पिता, पुत्र-पुत्री आदि सब इस के अवयव हैं। लेकिन ये अवयव स्वतन्त्र जी सकते हैं। हर एक में अपना अपना अलग कुटुम्ब बनाने की क्षमता है। लेकिन परस्पर सहयोग के बिना, एक-दूसरे के साथ घनिष्ठ सहयोग किये बिना कुटुम्ब नहीं बन सकता। जब दो मिल कर के एकचित्त होते हैं, एकहृदय होते हैं, पूर्ण सहयोग के द्वारा दोनों का जीवन ओतप्रोत हो कर एक नया, समग्र जीवन पैदा होता है तब उसे कुटुम्ब कहते हैं। कुटुम्ब में सब व्यक्तियों का जीवन ऐसा ओतप्रोत रहता है कि उन में विशाल और सफल जीवन की एकता आप ही आप सिद्ध होती है और वह भावनात्मक एकता द्वारा प्रकट होती है। जीवनात्मक एकता जितनी अधिक उतनी ही भावनातीत एकता स्थायी और बुलन्द होती है।

कुटुम्ब एक संस्था है। शरीर भी सब अवयवों की एक समन्वित संस्था है। इसी तरह एक गाँव, एक शहर, एक पाठशाला, एक दूकान, एक कारखाना, एक नगरपालिका आदि सब संस्थाएँ ही हैं। इन संस्थाओं में परस्पर सहयोग करने वाले व्यक्ति मानो उस संस्था के अवयव हैं, सब मिल कर संस्था का कलेवर बनता है। उन सब की साभिप्राय सहप्रवृत्ति ही संस्था का प्राण है। यह प्रवृत्ति या प्रवृत्तियाँ जितनी जीवन व्यापी हों उतनी ही उस संस्था की स्थिरता, दृढता और निरोगिता सिद्ध होती है। कहीं कहीं सहयोग कुछ मतलब तक ही सीमित होता है। कोई नाटक मण्डली भी एक संस्था है। नाटक देखने वाले प्रेक्षकों के बिना नाटक कम्पनी का अस्तित्व व्यर्थ होगा। लेकिन नाटक करने वाले नट और देखने वाले प्रेक्षक इन का सहवास या सहयोग केवल नाटक देखने तक ही सीमित होता है। इन के जीवन नाट्यशाला में ही ओतप्रोत होते हैं, अन्यथा वे बिलकुल अलग हैं, स्वतन्त्र हैं, असम्बद्ध हैं।

हमारे जमाने में सहयोगी संस्थाएँ चलती हैं। हर एक की थोड़ी थोड़ी पूँजी एकत्रित कर के एक सहकारी मण्डली स्थापित करते हैं। वह एक अच्छी सुव्यवस्थित संस्था होती है। किन्तु ऐसी सहकारी संस्थाओं में सहयोग परिमित अल्पमात्र ही होता है। जिस कार्य के लिए अथवा जिस हेतु से प्रेरित हो कर इन में सहयोग चलता है, उस बन्धन तत्त्व को अँगरेजी में nexus कहते हैं।

दूकानदार और ग्राहक के बीच पैसे और चीज का लेनदन ही nexus होता है। यह नेक्सस या बंधनतत्त्व जितना गहरा और व्यापक होगा उतनी उस सम्बन्ध की, उस संस्था की भावनात्मक एकता अधिक होगी। कुटुम्ब में पति-पत्नी और उन के बाल बच्चे मिल कर जो संस्था बनती है उस में नेक्सस होता है गाढ़ और स्थायी प्रेम का। रक्त से पैदा हुआ यह स्नेह इतना उत्कट और स्थायी होता है कि हम उसे आध्यात्मिक सम्बन्ध कहते हैं। उसी परिवार में जब घर का काम करने के लिए नौकर रखे जाते हैं, तब वे नौकर भी घर का सब काम करते हैं। सब के लिए एक साथ रसोई बनती है। सब मिल कर के पारिवारिक जीवन सम्पन्न करते हैं। तो भी नौकरों का जीवन कुटुम्ब-परिवार में इतना घनिष्ठ व इतना स्थायी नहीं होता। नौकर और मालिक के बीच स्नेह-सम्बन्ध पैदा हो सकता है। किन्तु वह इतना घनिष्ठ व स्थायी नहीं होता। उन के बीच नेक्सस अलग होता है। तनख्वाह या मजदूरी हो स्वामी-सेवक को बाँधती है। यह बंधन आसानी से टूट सकता है। लेकिन हमारे देश में ही नहीं, दुनिया के सब देशों में कभी-कभी स्वामी-सेवक का सम्बन्ध पुश्त-दर-पुश्त चलता है। फिर वहाँ सेवा और मजदूरी का नेक्सस गौण होता है। परस्पर स्नेह और उस में से पैदा होने वाली परस्पर निष्ठा ही मुख्य नेक्सस बनता है। यही है अनन्त फलदायी भावनात्मक एकता। इस में व्यक्ति अपने स्वार्थ को भूल जाता है। दूसरे के हित को, दूसरे के सुख को और दूसरे की प्रसन्नता को ही प्रधानता दी जाती है। नौकर के बीमार पड़ने पर जब मालिक अपने लड़के के समान ही उस की सेवा करता है तब दोनों के बीच प्रगाढ़ स्नेह सम्बन्ध बँध जाता है। इसी को सन्त तुकाराम ने कहा है—'दया करणें जें पुत्रासी, तचि दासा आणि दासी।' भावनात्मक स्नेह, सहयोग और अन्तिम एकता ही सम्बन्ध को पवित्र बनाती है और उसी में जीवन का चरम साफल्य है। ऐसे दृढ़ स्नेह के द्वारा ही शरीर, कुटुम्ब, संस्था, जाति, देश, राष्ट्र, धर्म आदि संस्थाएँ टिकी हुई हैं और जीवन साफल्य प्राप्त कर सकी हैं।

भिन्न भिन्न संस्थाओं के अवयवों को या व्यक्तियों को बाँधने वाले तत्त्व अथवा नेक्सस अलग-अलग होते हैं। ऐसे तत्त्वों को ही हमारी संस्कृति ने सामान्य नाम दिया है धर्म। धर्म सँभालने से व्यक्ति और समाज, अवयव और शरीर एकत्र रह सकते हैं—धर्मो रक्षति रक्षितः। अगर धर्म का हम ने पालन किया तो धर्म हमारा पालन अवश्य करेगा। इसी को कहते हैं Element of Cohesion अथवा धृति। धर्म में यह धृति कहाँ से आती है? हीरे माणिक आदि रत्नों के अन्दर सूक्ष्म परमाणु जिस आकर्षण से एक दूसरे को पकड़े रहते हैं उस तत्त्व

को कहते है Water of Crystallization हम उसे धर्मतत्त्व कह सकते हैं। पदार्थ के गुणधर्म इसी में से पैदा होते हैं। परमाणुओं को एकत्र रखने वाला यह जो तत्त्व है उसी को हमारे शास्त्रों ने धृति कहा है। ऐसी धृति जब नष्ट होती है, तब सेना के सैनिक तितर बितर होते हैं और सेना का नाश होता है।

हिंदू मुसलमान, ईसाई आदि धर्मों में जो धृति है वह अच्छी है, लेकिन पर्याप्त नहीं है। सारे राष्ट्र को एकत्र रखने की शक्ति उस में नहीं है। इस्लाम और ईसाई धर्मतत्त्व हमारी एक राष्ट्रीयता को मजबूत नहीं करते। उन का अपना स्नेहतत्त्व दुनिया के अनेक ईसाइयों से और मुसलमानों से एकता स्थापित करता है। किंतु एक राष्ट्र के अंदर की राष्ट्रीय एकता को शिथिल करता है। इस खतरे को देख कर ही आज के जमाने की कोशिश है कि धर्मों की साम्प्रदायिकता पहचान कर उसे गौण बनाया जाये और इस युग का तकाजा पहचान कर राष्ट्र धर्म को, राष्ट्रीय एकता को प्रधानता दी जाये।

और राष्ट्रधर्म भी जब संकुचित-सा मालूम होने लगा तब हम मानवता को प्रधानता देने की कोशिश में हैं।

कुल, परिवार जाति, वर्ण, वंश, वर्ग, राष्ट्र सम्प्रदाय आदि भावनात्मक एकता के सब तत्त्वों को पहचान कर, उन की योग्य कदर कर, हम सब को मानवता की छत्रछाया के नीचे लाना चाहते हैं। मानवता ही सार्वभौम धर्म है। 'सर्वेऽत्र सुखिन सन्तु सर्वे सन्तु निरामया' यह है मानवता का भावनात्मक मन्त्र। 'जय हिंद' के साथ 'जय जगत' है हमारा उद्घोष। हम अनुभव करने लगेंगे कि मानवता को उत्तमोत्तम आदर्शों से अनुप्राणित करने वाले नारायण को जब हम साथ लेते हैं तभी मानवता में आर्यता और सर्वकल्याणकारिता आ सकती है।

मानवता का आदर्श है श्रेष्ठ और निकटवर्ती भविष्य के लिए सब तरह से अनुकूल। लेकिन वह आदर्श भी चरम कोटि का नहीं है। हमें तो अंत में मानव जाति के द्वारा समस्त जीवकोटि की सेवा करनी है और इस तरह विश्वात्मैक्य का अनुभव करना कराना है। चंद व्यक्ति आज भी विश्वात्मैक्य तक पहुँच सकते हैं और व्यक्तिगत मोक्ष पा सकते हैं। लेकिन पूर्ण आदर्श तो सर्वमुक्ति का है और इसी लिए मानवता की उपासना में मानवों के हृदय में विराजमान नारायण को भी लेना चाहिए। आज नारायण का यह स्मरण केवल संकल्पमात्र ही क्यों न हो, उसे हम छोड़ नहीं सकते। नारायण की स्मृति से हम असंख्य आपत्तियों से बच जाते हैं।

"विपद् विस्मरण विष्णो सम्पन्नारायणस्मृति।"

सर्व विदय में बसने वाले विष्णु का भूल जाना यही सब बड़ी विपत्ति है और मानव समुदाय के हृदय में रहने वाले नारायण की स्मृति कायम रखना सब से बड़ी नियामत है।

(११ फरवरी ११६३)

धार्मिक-सांस्कृतिक क्रान्ति

जब गांधीजी ने आदिम जाति सेवक संघ की स्थापना की तब उन्होंने मुझ से कहा था कि 'मेरे पास रचनात्मक काम की सैकड़ों योजनाएं हैं जिन का मैं जिक्र भी नहीं करता। आदिम जाति की सेवा के लिए ठक्कर बापा मिले, तब मैं ने एक संघ खड़ा किया। जब तक सेवा के काम के लिए आदमी मिलते नहीं, तब तक उस की चर्चा करने से क्या लाभ?'

धर्म-सुधार, सामाजिक सुधार देश की आर्थिक विषमता और औद्योगिक हालत में सुधार—ऐसे अनेक कार्यक्रम उन के पास थे। लेकिन अनुभव से वे इस नतीजे पर आये थे कि देश की आजादी के बिना समाज में चारित्र्य-तेज प्रगट नहीं हो सकेगा। इसी लिए राष्ट्रीय एकता और अन्याय निर्मूलन के ऊपर ही उन्होंने अपनी सारी शक्ति केन्द्रित की। और इसी लिए उन्होंने समाजसुधार के सब से बड़े दो कार्यक्रम ही राजनीतिक क्षेत्र में दाखिल किये। (१) हिन्दू, मुस्लिम, ईसाई, यहूदी, पारसी आदि धर्मसमाजों में सामंजस्य स्थापन किये बिना भेद-नीति-पटु अंग्रेजों को हम यहाँ से हटा नहीं सकते और (२) अस्पृश्यता जैसे घोर अन्याय को दूर करने के लिए धर्म सुधार किये बिना चारा नहीं। इन दो बातों पर उन्होंने अधिक जोर दिया। हमारी राजनैतिक और राष्ट्रीय कमजोरियाँ हैं उन्हें पहचान कर उन से लाभ उठाने वाले विदेशी राज्यकर्ता और धर्मप्रचारक क्या कहते हैं उस पर ध्यान देना जरूरी था।

हम लोग अपने को सुधारे बिना केवल दोष बताने वालों पर चिढ़ जाते थे और मिशनरियों का और गोरों का द्वेष करने लगे थे। गांधीजी ने बताया कि द्वेष से हमारी शक्ति नहीं बढ़ेगी। निष्प्राण और निर्वीर्य लोग जब और कुछ नहीं कर सकते हैं, तब विरोधियों का द्वेष करते हैं, निंदा करते हैं और अंधा विरोध करते हैं।

हिंदू समाज असंख्य जातियों में विभक्त होने से कमजोर है। इन जातियों

में घुल मिल कर जैसी आत्मीयता चाहिए वैसी नही है। 'आत्मीयता तो परस्पर आदर और सेवा के द्वारा ही बढ सकती है,' इतनी सीधी बात लोग नहीं समझते थे। (और दुख के साथ कहना पडता है कि आज भी समझ नहीं रहे हैं।) केवल अभिमान के बल पर सगठन करने गये तो नाम का सगठन हो सकेगा, लेकिन शक्ति का सगठन नही होगा। बिना चर्चा किये गाधीजी ने राष्ट्र के सामने यह बात रखी।

जिस क़िस्म की समाज रचना और राष्ट्रीय एकता देश के लिए जरूरी थी, उसे प्रत्यक्ष जीवन में लाने के लिए और आदर्श नमूना पेश करने के लिए गाधीजी ने अपने आश्रम की स्थापना की। जहाँ पर हिन्दू, मुसलमान, ईसाई आदि सब धर्मों के लोग, और ब्राह्मण से ले कर हरिजन तक सब हिन्दू एकत्र रहें और जीवनव्यापी सहयोग करें ऐसा आदर्श वायुमण्डल था। तनिक भी भेद के बिना सब लोग टट्टियाँ साफ करें, सब साथ मिल कर रसोई बनावें, एक साथ मिल कर खायें और प्रार्थना भी एक साथ करें ऐसा वायुमण्डल उन्होंने देश के सामने रखा।

स्त्री जाति की समानता और स्वतन्त्रता पर भार दे कर आश्रम में स्त्रियों से सब तरह के काम लेना उन्होंने शुरू किया और स्त्रियों में काम सँभालने का कौशल और आत्मविश्वास बढाया। सब प्रान्तो और सब भाषाओं के लोग आश्रम में एकत्र रहते थे। सब प्रादेशिक भाषाओं की वहाँ पूरी प्रतिष्ठा थी। और साथ साथ सभी की सम्मति से राष्ट्रभाषा हिन्दी का भी वहाँ विकास होता था।

ऐसी पूर्व तैयारी कर के गाधीजी ने स्वराज के आन्दोलन के लिए कॉंग्रेस जैसी सस्था को पसन्द किया। काग्रेस ने स्वराज का आन्दोलन जोरों से चलाया सही और गाधीजी का नेतृत्व पाने के हेतु गाधीजी की शर्तें भी मजूर कीं। लेकिन आज का अनुभव बताता है कि अधिकांश कांग्रेसी लोगों ने गाधीजी की जीवन-दृष्टि हृदय से अपनायी नहीं थी। अगर सारे राष्ट्र ने सब धर्म-स्वभाव को मजूर किया होता तो देश का बँटवारा नहीं होता।

प्रान्तीय भाषाओं का ईश्वर निर्मित अथवा इतिहास सिद्ध महत्त्व क़बूल किया होता तो भाषा के झगडे आज खडे नहीं होते। जवाहरलालजी जैसे कॉंग्रेसी नेताओं को विश्वास था कि देश की एकता अँगरेजी के द्वारा ही आज सँभाल सकते हैं। उन को प्रान्तीय भाषाओं की राष्ट्रीय शक्ति पर विश्वास नहीं था। इस लिए उन्होंने भाषावार प्रान्तरचना का (राज्य रचना का) हृदय से विरोध किया और अन्त में लाचारी से स्वीकार किया। नतीजा यह हुआ कि प्रान्तीय

भाषाओं का नेतत्व जो राष्ट्रीय वृत्ति के लोगों के हाथ में था वह वहाँ से फिसल गया और संकुचित वृत्ति के लोगों के हाथ में पहुँच गया।

इस सच्ची बात को न समझने वाले लोग मानने लगे हैं कि प्रान्तीय भाषाओं के कारण ही प्रान्तीयता बढ़ती ह और राष्ट्रीय एकता खतरे में आती है।

पिछले बीस बरस की गलत नीति के कारण अंगरेजी का पक्ष मजबूत हो रहा ह। और हिन्दी वाले अब अपने अन्धे विरोध से उसी अंगरेजी पक्ष को मजबूत कर रहे हैं।

लोग प्राणपन से चाहते हं भारत की एकता लेकिन प्रत्यक्ष काय से (परस्पर द्वेष और कटुता से) देश के टुकडे करने की ही मानो पूर्व तयारी कर रहे ह। केवल बहुमत से एक पक्ष अपना आग्रह दूसरे पक्ष पर लादने की कोशिश करेगा तो दूसरा पक्ष एकता को तोड कर अलग होने की कोशिश करेगा ही।

किसी समय अमरीका के युनाइटेड स्टेटस ने राष्ट्र का बँटवारा टालने के लिए सशस्त्र गृहयुद्ध किया। उत्तरी राज्यो ने दक्षिणी राज्यो का सशस्त्र विरोध किया और उन्हें हरा कर राष्ट्र की एकता कायम की। उस जमाने में यह हो सका। आज के युग में भारत के लिए, यह बिलकुल शक्य नही ह। केवल समझौते से ही काम कर सकते हैं। देश में काफ़ी अहिन्दी लोग हिन्दी के पक्ष में ह। वे सब मिल कर अगर दक्षिण का अनुनय करें, सेवा और त्याग के द्वारा उन्हें जीत लें, तो हम हिन्दी के लिए फिर से अनुकूल वायुमण्डल बना सकेंगे, जो गान्धीजी के दिनो में था।

गान्धीजी ने केवल हिन्दू मुस्लिम एकता, अस्पृश्यता निवारण और आदिम जाति की सेवा पर ही जोर दे कर प्रारम्भ किया, लेकिन वही पर हमें ठहर नही जाना ह। जहाँ-जहाँ सामाजिक छोटे-बडे का भाव ह और पिछडापन ह, वहाँ वहाँ दृढ-संकल्प से न्याय और समानता की स्थापना करनी चाहिए। 'सब वर्गों को शिक्षा मिले और सब की आर्थिक उन्नति हो, यह जरूरी ह। किन्तु केवल आर्थिक उन्नति से हमारे सामाजिक और सांस्कृतिक दोष दूर नही हो सकते। हमारी छिन्नभिन्नता भावनात्मक भी ह और सांस्कृतिक दोषो के कारण भी ह। समाजवाद की दुहाई दे कर, और आर्थिक उन्नति का नारा लगा कर यदि देश की हालत सुधर जाती तो इन बीस बरसों में राष्ट्र ने संतोषकारक प्रगति कर ली होती। 'सामाजिक समानता' स्थापन करने के लिए समाज में मजबूत सामाजिकता का होना जरूरी ह। कांग्रेस ने माना था कि धर्मभेद होते हुए भी भारत के हिन्दू-मुसल्मानों में एकराष्ट्रीयता ह। अनुभव ने बताया कि जहाँ

सामाजिक भेद के कारण अलगाव है, वहा राष्ट्रीय एकता टिक नहीं सकती। देश का बँटवारा क़बूल करना पडा यह इस बात का इतिहास सिद्ध प्रमाण है।

इस अनुभव से अगर हम सयाने न हुए तो बँटवारे की बात फिर से सामने खडी हो जायेगी। आज कोई बँटवारे की बात मुँह से नही करता लेकिन प्रत्यक्ष आचरण में हम उसी को अपरिहार्य बना रहे हैं।

सामाजिक समानता और साथ साथ हृदय की आत्मीयता स्थापित करने के लिए प्राणपण से चेष्टा करना', यही मुख्य काम ह। बाह्य उपायों से यह अपने आप नही हागा। इस के लिए सामाजिक धार्मिक सास्कृतिक और आध्यात्मिक कायक्रम बना कर उसी में सारी राष्ट्र शक्ति लगानी चाहिए। साम्कृतिक क्रान्ति का ही यह काम ह।

(१ फरवरी १९५८)

क्रान्ति का रास्ता खुला कर दें

घर बनाते समय उस की रचना हम उस प्रकार की करते हैं, जिस प्रकार का जीवन हम उस में जीना चाहते हों। कौटुम्बिक जीवन और गृह रचना क बीच प्रारम्भ में अच्छा मेल होता ह। जीवन का ढग जैसा का तैसा रहा और केवल कुटुम्ब का विस्तार बढा तो अमुक समय तक घर म कुछ सुधार कर के काम चलाया जा सकता है। जसी जीवन-पद्धति वैसी गृह रचना—इस नियम का सवत्र पालन होता ह।

लेकिन कालान्तर से जीवन का ढग बदलता है। बदल क कारण अनेक हो सकते ह। कुछ कारण हमें अनुकूल लगेंगे, कुछ प्रतिकूल, लेकिन जब तक ये मौजूद है तब तक हम अपना जीवनक्रम बदलना ही पडेगा और यह बदला हुआ जीवनक्रम एक बार अनुकूल सिद्ध हुआ तो उस के अनुसार सारी गृह रचना बदले बिना चारा ही नहीं।

लेकिन मनुष्य जिस प्रकार अपना आदर्श झटपट छोड नही सकता उसी प्रकार जीवन क्रम बदल जाने पर भी गृह रचना छाडन को वह तयार नहीं हो जाता। असुविधा सहेगा लेकिन पुराने ढग का आग्रह क साथ पकड रखेगा। अमुक हद तक यह यथास्थितिकर वृत्ति इष्ट भी होती ह। लेकिन वह अनन्तकाल तक नहीं चल सकती। उस पुराना मकान तोड कर उस के स्थान पर नये ढग

कर इस भेद का उपेक्षा कर के सन्ताप मानते ह । लेकिन यह कमजोरी अब आयन्दा बरदाश्त नही हो सकेगी। हर एक धर्म-समाज के अगुआ शान्त-राधाना भाव धारण कर के आज भी अधिक नौकरिया, अधिक अधिकार और विधानमान्य पक्षपात माँगते ही जाते हैं।

स्त्री-पुरुषों के अधिकार, जातपाँत और धर्मभेद इन तीन सामाजिक भेदों का अब तक उल्लेख किया। उस के साथ आर्थिक परिस्थिति को ले कर जो अन्याय चलता ह, शोषण बढता ह और वर्गलोलुपत्वा वर्ग विग्रह खडा होता ह उसे भी ध्यान में रखना चाहिए। राष्ट्रीय समस्या के इन सवालों को हम ने अपनी परिस्थिति का अध्ययन कर के अपने ढग से शीघ्रता से हल किया होता तो बात अलग थी। लेकिन हम यह अध्ययन परिश्रम करना नही चाहते।

आर्थिक व्यवस्था के इस रोग की ओर पहले ध्यान आकर्षित किया पश्चिम के लोगों ने। चुनाचे इस रोग का इलाज भी हम पश्चिम से प्राप्त करने लगे ह।

और शिक्षा के सम्बन्ध में तो जैसे-जैसे चर्चा बढती है वैसे-वैसे अविचार और तन्त्र की तानाशाही बढती ही जाती ह।

और 'अभिरुचि की अराजकता' तो पश्चिम की अपेक्षा हमारे यहाँ अधिक ह। उसे अराजकता कहें या अभाव कहें यही समझ म नही आता। उस की चर्चा भी तो शान्ति से नही होती।

इन सब क्षेत्रों में पुरानी व्यवस्था कब की सड गयी है, टूट गयी ह और फिर भी उस की चर्चा करने को भी कोई तयार नही ह।

छोटे-बड कल कारखानों में अथतन्त्र न्याय का या सर्वोदय का विचार किये बिना सब के पास स तन्त्रनिष्ठा का अपेक्षा रखता ह। शिक्षा का तन्त्र एक साथ जीवन-व्यापी भी बन रहा ह और तानाशाह भी बनता जाता है। नौकरी के कारण और ग्रांट आदि आर्थिक सहायता के कारण यह आर्थिक तन्त्र तग बनता जा रहा है पाठय पुस्तक अभ्यासक्रम फी का बोझ, परीक्षाओं का ढाँचा और नौकरी में प्रवेश पाने का शर्तें—इन सब के कारण उदीयमान पीढ़ी का जीवन बचपन ही ही शिकजे में कस की कोशिश करता ह और अब तो शिक्षा के तन्त्र का उपयोग कहीं-कहीं राजनीतिक पक्षों के हित में भी होने लगा ह।

राजनीतिक सिद्धान्तों की सात्विक चर्चा के पीछे देश में पार्टीबाजी इस हद तक बढ़ गयी कि चुनाव के दिन आते ही सट्टा और शेयर बाजार का सा वायुमण्डल सारे देश में फल जाता ह। जुआ षडयन्त्र और शीतयुद्ध को मिला कर बनाये गये रसायन का नाम ह चुनाव। ऐसी हालत आज देश में चौतरफा दिखाई देती है।

ऐसी हालत में समाजतन्त्र, राज्यतन्त्र, अर्थतन्त्र, शिक्षातन्त्र, कल कारखाना या तन्त्र और भगवान जाने दूसरे कौन कौन से तन्त्र और गिनने पड़ेंगे, कोई भी तन्त्र अपनी नैतिक भ्रष्टता के कारण हमारे मन में आदर पैदा नहीं कर सकता। तन्त्रनिष्ठा का आग्रह Departmental Enquiry का रूप पकड़ता जा रहा है। ईश्वर निष्ठा, मानव निष्ठा, धर्म निष्ठा, नीति निष्ठा, समाज कल्याण की निष्ठा और ज्ञाननिष्ठा का ऐसी सब पवित्र निष्ठाओं को बिलकुल गौण बनाकर सर्वत्र तन्त्रनिष्ठा को सार्वभौम महत्त्व दिया जा रहा है। और लोकसत्ता का नाम आगे कर के सत्ता वाले सत्याग्रह जैसे पवित्र तत्त्व को भी तत्त्वतः दबाना चाहते है। विदेशी सत्ता के खिलाफ हम जरूर हो सकते हैं, राजसत्ता के खिलाफ लड़ सकते हैं लेकिन बहुमत की सत्ता के खिलाफ सत्याग्रह नहीं कर सकते इस तरह की हवा चलने लगी है। सत्याग्रह के नाम से अन्धे और स्वार्थी लोग जहाँ-तहाँ सत्याग्रह का दुरुपयोग करते हैं। इस का लाभ उठा कर लोकनेता कहने लगे हैं कि लोकसत्ता के खिलाफ सत्याग्रह करना ही नहीं चाहिए।। चाहे जितनी बदहजमी हुई हो तो भी उपवास नहीं रखना चाहिए ऐसी ही कुछ यह दलील हुई। लेकिन सच्चा सत्याग्रह नेताओं की सम्मति की राह देखता ही नहीं।

खैर! इन सब वस्तुओं का एक साथ विचार करने के बाद लगता है कि अब भारतीय संस्कृति का आमूलाग्र नवसंस्करण का समय आया है। ऐसे समय उदीयमान पीढ़ी के नवजवानों को तन्त्रनिष्ठा के स्तोत्रपाठ हम कब तक पढ़ाते रहेंगे? तन्त्रनिष्ठाओं की संख्या इतनी अधिक बढ़ गयी है कि एक तन्त्र के प्रति निष्ठा धारण करते हुए दूसरी तन्त्रनिष्ठा का द्रोह होता है।

इस लिए अब हमें समझ लेना चाहिए कि आमूलाग्र सार्वभौम क्रान्ति की बेला आ पहुँची है। जो तन्त्र इस क्रान्ति के आड़े आयेंगे वे अब टिकने के नहीं। अब तन्त्र नहीं किन्तु लोक कल्याण का तत्त्व ही सर्वोपरि होना चाहिए और क्रान्ति का मार्ग खुला कर देना चाहिए।

यह कोई नियम नहीं है कि क्रान्ति अन्धी ही होनी चाहिए। सयाने लोग जब अन्धे बन जाते हैं तभी क्रान्ति अन्धी होती है और महँगी सिद्ध होती है।

(१ फरवरी १९६२)



र इस भेद को उपेक्षा कर के सनातन मानते हैं। लेकिन यह कमजोरी अब भायन्दा बरदाश्त नहीं हो सकेगी। हर एक धर्म-समाज के अगुआ आज पयाना भाव धारण कर के आज भी अधिक नौकरियाँ, अधिक अधिकार और विधानमान्य पक्षपात माँगते ही जाते हैं।

स्त्री-पुरुषों के अधिकार, जातपाँत और धर्मभेद इन तीन सामाजिक भेदों का अब तक उल्लेख किया। उस के साथ आर्थिक परिस्थिति को ले कर जो अन्याय चलता है, शोषण बढ़ता है और अन्ततोगत्वा वर्ग विग्रह खड़ा होता है उसे भी ध्यान में रखना चाहिए। राष्ट्रीय समस्या के इन सवालों को हम ने अपनी परिस्थिति का अध्ययन कर के अपने ढंग से शीघ्रता से हल किया होता तो बात अलग थी। लेकिन हम यह अध्ययन परिश्रम करना नहीं चाहते।

आर्थिक व्यवस्था के इस रोग की ओर पहले ध्यान आकर्षित किया पश्चिम के लोगों ने। चुनाँचे इस रोग का इलाज भी हम पश्चिम से प्राप्त करने लगे हैं।

और शिक्षा के सम्बन्ध में तो जैसे-जैसे चर्चा बढ़ती है वैसे-वैसे अविचार और तन्त्र की तानाशाही बनती ही जाती है।

और 'अभिरुचि की अराजकता' तो पश्चिम की अपेक्षा हमारे यहाँ अधिक है। उसे अराजकता कहें या अभाव कहें यही समझ में नहीं आता। उस की चर्चा भी तो शान्ति से नहीं होती।

इन सब क्षेत्रों में पुरानी व्यवस्था कब की सड़ गयी है टूट गयी है और फिर भी उस की चर्चा करने को भी कोई तैयार नहीं है।

छोटे बड़े कल कारखानों में अपनत्व न्याय का या सर्वोदय का विचार किये बिना सब के पास से तन्त्रनिष्ठा की अपेक्षा रखता है। शिक्षा का तन्त्र एक साथ जीवन व्यापी भी बन रहा है और तानाशाह भी बनता जाता है। नौकरी के कारण और ग्रांट आदि आर्थिक सहायता के कारण यह आर्थिक तन्त्र तंग बनता जा रहा है पाठ्य पुस्तक अभ्यासक्रम फी का बोझ, परीक्षाओं का ढाँचा और नौकरी में प्रवेश पाने की शर्तें—इन सब के कारण उदीयमान पीढ़ी का जीवन बचपन से ही शिकंजे में लेने की कोशिशें करता है और अब तो शिक्षा के तन्त्र का उपयोग कहीं-कहीं राजनीतिक पक्षों के हित में भी होने लगा है।

राजनीतिक सिद्धान्तों की तात्त्विक चर्चा के पीछे देश में पार्टीबाजी इस हद तक बढ़ गयी है कि चुनाव के दिन आते ही सट्टा और शेयर बाजार का सा वायुमण्डल सारे देश में फैल जाता है। जुआ षड्यन्त्र और शीतयुद्ध को मिला कर बनाये गये रसायन का नाम है चुनाव। ऐसी हालत आज देश में चौतरफ़ा दिखाई देती है।

ऐसी हालत में समाजतन्त्र, राज्यतन्त्र, अर्थतन्त्र, शिक्षातन्त्र, कल कारखाना का तन्त्र और भगवान जाने दूसरे कौन कौन से तन्त्र और गिनने पड़ेंगे, कोई भी तन्त्र अपनी नैतिक भ्रष्टता के कारण हमारे मन में आदर पैदा नहीं कर सकता। तन्त्रनिष्ठा का आग्रह Departmental Enquiry का रूप पकड़ता जा रहा है। ईश्वर निष्ठा, मानव निष्ठा, धर्म निष्ठा, नीति निष्ठा, समाज कल्याण की निष्ठा और ज्ञाननिष्ठा को ऐसी सब पवित्र निष्ठाओं को बिलकुल गौण बनाकर सर्वत्र तन्त्रनिष्ठा को सार्वभौम महत्त्व दिया जा रहा है। और लोकसत्ता का नाम आगे कर के सत्ता वाले सत्याग्रह जैसे पवित्र तत्त्व को भी तत्त्वतः दबाना चाहते हैं। विदेशी सत्ता के खिलाफ हम जरूर हो सकते हैं, राजसत्ता के खिलाफ लड़ सकते हैं लेकिन बहुमत की सत्ता के खिलाफ सत्याग्रह नहीं कर सकते इस तरह की हवा चलने लगी है। सत्याग्रह के नाम से अंधे और स्वार्थी लोग जहाँ-तहाँ सत्याग्रह का दुरुपयोग करते हैं। इस का लाभ उठा कर लोकनेता कहने लगे हैं कि लोकसत्ता के खिलाफ सत्याग्रह करना ही नहीं चाहिए।। चाहे जितनी बदहजमी हुई हो तो भी उपवास नहीं रखना चाहिए ऐसी ही कुछ यह दलील हुई। लेकिन सच्चा सत्याग्रह नेताओं की सम्मति की राह देखता ही नहीं।

खैर! इन सब वस्तुओं का एक साथ विचार करने के बाद लगता है कि अब भारतीय संस्कृति का आमूलाग्र नवसंस्करण का समय आया है। ऐसे समय उदीयमान पीढ़ी के नवजवानों को तन्त्रनिष्ठा के स्तोत्रपाठ हम कब तक पढ़ाते रहेंगे? तन्त्रनिष्ठाओं की संख्या इतनी अधिक बढ़ गयी है कि एक तन्त्र के प्रति निष्ठा धारण करते हुए दूसरी तन्त्रनिष्ठा का द्रोह होता है।

इस लिए अब हमें समझ लेना चाहिए कि आमूलाग्र सार्वभौम क्रान्ति की वेला आ पहुँची है। जो तन्त्र इस क्रान्ति के आडे आयेंगे वे अब टिकने के नहीं। अब तन्त्र नहीं किन्तु लोक कल्याण का तत्त्व ही सर्वोपरि होना चाहिए और क्रान्ति का मार्ग खुला कर देना चाहिए।

यह कोई नियम नहीं है कि क्रान्ति अंधी ही होनी चाहिए। सयाने लोग जब अंधे बन जाते हैं तभी क्रान्ति अंधी होती है और महँगी सिद्ध होती है।

(१ फरवरी १९६२)

